विष्णुकान्त शास्त्री

अमृत महोत्सव

अभिनन्दन ग्रन्थ

श्रद्धेय विष्णुकान्त शास्त्रीजी का मैं बहुत पुराना प्रशंसक रहा हूँ - व्यक्ति की हैसियत से एवं विद्वान की हैसियत से ; एक गुणी और कला मर्मज्ञ लेखक के रूप में सबसे अधिक। जब कभी उनकी कोई चीज पढ़ता हूँ... पिछले वर्ष ईशोपनिषद् पर उनकी मौलिक विद्वतापूर्ण टीका पढ़ते हुए कितना आह्लादित हुआ था - हमेशा उनके प्रति गहरी कृतज्ञता का बोध होता है।

- निर्मल वर्मा

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री प्राचीन से आधुनिक काल के अक्षय स्मृतिकोष हैं। इसके साथ ही साथ मधुर व्यवहार के भी वे अक्षयकोष हैं। कभी उनके स्वभाव की मधुरता कम नहीं होती। कितनी भी उत्तेजना हो वे उसे हँस कर ले लेते हैं। उनके व्यक्तित्व का यह प्रधान गुण है।

- डॉ० विद्यानिवास मिश्र

...शास्त्री भगवान जैसी स्मृति मैंने नहीं देखी। इस मामले में वो हाथी हैं। कहते हैं कि हाथी कुछ भूलता नहीं है। अद्भुत स्मरण शक्ति। एक-एक तथ्य। इस मामले में उनका दिमाग कम्प्यूटर है।... ऐसी स्मृति के संबंध में एक ही शब्द कहूँगा विष्णुकान्तजी के लिए - 'खुआ छत नाहीं'। तुलसीदास का शब्द है। हम लोग छतते हैं, छत है, छताया है हममें से बहुतों में। ऐसा पारदर्शी व्यक्तित्व मैंने नहीं देखा है।

- डॉ० नामवर सिंह

अगर मैं कहूँ कि शास्त्रीजी साक्षात् काव्य रूप हैं तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।... शास्त्रीजी भारतीयदर्शन और काव्य की एक लम्बी सरणी से अबतन तक आते हैं। इतना बड़ा आयाम दुर्लभ है और उसमें समान पैठ तो अति दुर्लभ। यही शास्त्रीजी को पारम्परिक सोच के विद्वानों और नई पीढ़ी दोनों से जोड़ता है। कोलकाता को मैंने बहुत राग से देखा है, सुसंस्कृत कोमलता, शालीनता, दीप्ति और लोच सब है वहाँ। ... कोई मुझसे कहे कि मैं कोलकाता को देखना-समझना चाहता हूँ, तो मैं कहूँगा - विष्णुकान्त शास्त्री को देख लें।

-- डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय

विष्णुकान्त शास्त्री अमृत महोत्सव
अभिनन्दन ग्रंथ

विष्णुकान्त शास्त्री अमृत महोत्सव
अभिनन्दन ग्रंथ २००४ ई०

प्रधान सम्पादक

डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी

सम्पादक

जुगल किशोर जैथलिया

महावीर बजाज

डॉ० उषा द्विवेदी

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय

१-सी, मदनमोहन बर्मन स्ट्रीट, कोलकाता-७

टेलिफैक्स : २२६८-८२१५ • ई-मेल : kumarsabha@vsnl.net

संपादन सहयोग :

श्री विमल लाठ
श्री घनश्यामदास बेरीवाला
श्री पुरुषोत्तमदास चितलांगिया
श्री कृष्णस्वरूप दीक्षित
श्री अरुण प्रकाश मल्लावत
श्री श्रीराम तिवारी

•

प्रकाशन तिथि
१२ दिसम्बर २००४ ई०
११०० प्रतियाँ

•

आवरण सज्जा
श्री श्रीजीव अधिकारी

•

मुद्रक
संजय नोपानी
'एसकेज'
८, शोभाराम बैसाख स्ट्रीट
कोलकाता-७०० ००७
मोबाइल : ९८३०० १३१४१

•

मूल्य : पाँच सौ रुपए

कार्यकारिणी समिति २००४-०५

सभापति : डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी
उपसभापति : श्री कृष्णस्वरूप दीक्षित
श्री गोविन्दनारायण काकड़ा
मंत्री : श्री महावीर बजाज
उपमंत्री : श्री अरुण प्रकाश मल्लावत
श्री अरुण कुमार सोनी
साहित्य मंत्री : डॉ० उषा द्विवेदी
अर्थ मंत्री : श्री नन्दकुमार लढ़ा

सदस्य :

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री
श्री जुगल किशोर जैथलिया
श्री नेमचंद कन्दोई
श्री घनश्याम दास बेरीवाल
श्री शान्तिलाल जैन
श्री विमल लाठ
श्री रामगोपाल सुंधा
श्री अंजनी कुमार मुंधड़ा
श्री दाऊलाल कोठारी
डॉ० विश्रान्त वशिष्ठ
श्री त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी
श्री नारायण दास व्यास
श्री नन्दलाल सिंघानिया
श्री गजानन्द राठी
श्रीमती सुधा जैन
श्री राजू सुल्तानिया

Vishnukant Shastri Amrit Mahotsav : Abhinandan Granth, Ed. by— Dr. Prem Shanker Tripathi
Price : Rs. 500/-

अपनी बात—

अमृत अभिनंदन ! सारस्वत साधना एवं बहुआयामी सक्रियता का !

गरिमामयी लोकयात्रा के पचहत्तर वर्ष! सारस्वत साधना एवं बहुआयामी सक्रियता से युक्त जीवन यात्रा! शिक्षा, साहित्य, समाज, संस्कृति, अध्यात्म, राजनीति— सभी क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण अवदान! अनुपम व्यक्तित्व एवं असाधारण कर्तृत्व का अनूठा संगम!

इस जीवन यात्रा में आचार्य शास्त्री ने अपना व्यापक समाज निर्मित किया है। विद्वान पिता सुकवि पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री से प्राप्त साहित्यिक विरासत को बहुविध समृद्ध कर उन्होंने सारे देश में जो स्थान प्राप्त किया है वह बिरले लोगों को ही प्राप्त होता है। केवल साहित्यिक ही नहीं कोलकाता महानगर की सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं की सक्रियताओं से संबद्ध होकर उन्होंने इन संस्थाओं को नवीन चेतना और उन्मेष प्रदान किया है।

अपनी तीन दशकीय राजनीतिक यात्रा में भी विष्णुकान्तजी ने अलग छाप छोड़ी है। विधायक, सांसद, भाजपा के प्रदेश अध्यक्ष और राष्ट्रीय उपाध्यक्ष के रूप में उनका निष्कलंक जीवन आशा का संचार करता है। हिमाचल प्रदेश एवं उत्तर प्रदेश के राज्यपाल के रूप में उनकी कार्यशैली एवं पारदर्शिता सर्वत्र प्रशंसित हुई है। उत्तर प्रदेश की कठिन राजनीतिक परिस्थितियों में, विशेषकर राष्ट्रपति शासनकाल के दौरान, कौशल एवं दूरदर्शिता से अपने संवैधानिक दायित्व का पालन कर शास्त्रीजी ने प्रशासकीय क्षमता का भी परिचय दिया है।

अपने राजनीतिक जीवन में विविध महत्त्वपूर्ण पदों पर कार्य करते हुए उन्होंने समाज में अपने जिन गुणों के कारण सर्वाधिक छाप छोड़ी है, वे हैं— उनकी निरहंकारी वृत्ति एवं स्वार्थशून्यता। बड़ा-से बड़ा पद उनमें किसी प्रकार के विकार या अहंकार को जन्म नहीं दे सका। सामान्य व्यक्ति पद पर प्रतिष्ठित होकर सम्मान प्राप्त करता है परन्तु विष्णुकान्त जी ने जिन-जिन पदों पर काम किया उनकी उपस्थिति से वे पद गौरवान्वित हुए। स्वार्थ से परिपूर्ण समाज और दूषित राजनीति के आज के दौर में शास्त्रीजी की व्यक्तिगत स्वार्थशून्यता अनुकरणीय एवं प्रेरक है।

उनके बहुआयामी व्यक्तित्व की लोकप्रियता के आधार हैं उनकी विद्वत्ता, विनम्रता तथा विश्वसनीयता। उनके व्यक्तित्व की पहचान है काव्य के प्रति अनन्य अनुराग, भगवान् श्रीराम के प्रति अपार निष्ठा तथा स्वीकृत कार्य के प्रति पूर्ण समर्पण। सच तो यह है कि यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रभावी एवं सटीक काव्य पंक्तियों / सूक्तियों / श्लोकों / शेरो-शायरी से वे सबका हृदय जीत लेते हैं। कविता उनके लिए 'प्रीतिकर जीवन ऊर्जा' है। खासियत यह है कि वे स्वयं कवि होते हुए भी अपनी कविता नहीं, दूसरों की कविताएँ अत्यंत प्रभावी ढंग से सुनाते हैं। श्रेष्ठ प्राचीन कवियों से लेकर नवीनतम कवियों की रचनाएँ उन्हें कंठस्थ हैं।

उनकी पहचान का दूसरा प्रमुख बिन्दु है उनकी राम-भक्ति। उन्हीं का दोहा है—

मैं तो हूँ श्रीराम का मेरे हैं श्रीराम / राम-राम रटता रहूँ निशि-दिन आठों याम।।

अपनी सफलता को 'रामजी की कृपा' और असफलताओं को 'रामजी की इच्छा' कहकर स्वीकार करने वाले शास्त्रीजी कर्मफल अपने आराध्य रामजी पर छोड़कर निश्चिंत रहते हैं। ऐसा भी नहीं है कि जीवन जगत की विसंगतियाँ उन्हें विचलित नहीं करतीं परन्तु केदारनाथ अग्रवाल की इन पंक्तियों का स्मरण करते हुए वे परिस्थितियों से जूझते हुए आगे बढ़ने के विश्वासी हैं—

हारा हूँ सौ बार गुनाहों से लड़ लड़ कर,
लेकिन बारंबार उठा हूँ मैं गिर-गिर कर।
इससे मेरा हर गुनाह भी मुझसे हारा,
मैंने अपने जीवन को इस तरह सँवारा।।

छात्रवत्सल प्राध्यापक, सुप्रतिष्ठित समालोचक, सहृदय कवि, निस्पृह समाजसेवी, निष्कलंक राजनेता, सम्मोहक वक्ता, भारतीय संस्कृति एवं अध्यात्म के गहन अध्येता, सहजता एवं शालीनता की साक्षात् मूर्ति आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय के साथ एक लम्बे अरसे से अत्यंत आत्मीय सम्पर्क है। उनकी प्रेरणा, मार्ग-दर्शन तथा निर्देशन से ही पुस्तकालय ने अनेक साहित्यिक-सामाजिक कार्यक्रम सफलतापूर्वक सम्पन्न किए हैं। उनका सान्निध्य प्रतिपल समृद्ध करता है; उनकी उपस्थिति आश्वस्ति की अनुभूति कराती है तथा उनकी सत्प्रेरणा तो असंभव लगने वाले कार्य को भी संभव बनाने में सक्षम है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की पंक्तियाँ हैं—

तुम्हारे साथ रहकर/अक्सर मुझे लगा है/ कि हम असमर्थताओं से नहीं / संभावनाओं से घिरे हैं,
हर दीवार में द्वार बन सकता है / और हर द्वार से पूरा का पूरा/पहाड़ गुजर सकता है।

अपनी प्रेरक वाणी और उत्साह-प्रदायिनी आशीर्वाद-मुद्रा से उन्होंने अनेक व्यक्तियों, संस्थाओं एवं गतिविधियों को नई दिशा दी है, संभावना को उपलब्धि में रूपान्तरित करने की ऊर्जा दी है।

२ मई २००४ को श्रद्धेय शास्त्रीजी ने अपने जीवन के ७५ वर्ष पूर्ण कर ७६ वें वर्ष में प्रवेश किया है। जीवन यात्रा के इस पड़ाव पर उनका अमृत-अभिनन्दन करने की हमारी योजना कोलकाता के वृहत्तर समाज का कृतज्ञता ज्ञापन है जिसके विविध पक्षों को शास्त्रीजी ने अपनी तेजस्वी उपस्थिति से दीप्त किया है। यह अभिनन्दन ग्रन्थ भी उसी योजना का महत्त्वपूर्ण अंग है।

अमृत महोत्सव अभिनन्दन ग्रंथ को पाँच खण्डों में विभाजित किया गया है। प्रथम खंड में आचार्य शास्त्री के जीवन प्रसंगों के प्रमुख बिन्दुओं की प्रस्तुति के साथ कुछ ऐसे निबंधों को शामिल किया गया है जो उनकी वंश-परंपरा तथा परिवार की जानकारी प्रदान करते हैं। आचार्य शास्त्री के अनुज श्रीयुत श्रीकांत शास्त्री का वंश-परंपरा पर तथा स्वयं विष्णुकान्तजी का अपने पिताश्री पर आलेख इस खंड को प्रामाणिक बनाता है। आचार्य शास्त्री की सुपुत्री डॉ० भारती शर्मा का अपने माता-पिता पर लिखित निबन्ध पारिवारिक वृत्त को पूर्ण करता है। इसी खंड में श्रीमती तारा दूगड़ द्वारा लिखित आचार्य शास्त्री के जीवनवृत्त के साथ-साथ शास्त्रीजी के तीन दशकों के राजनीतिक-जीवन का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करनेवाला आलेख भी है जिसके रचनाकार हैं राजनीतिक-सामाजिक गतिविधियों में विष्णुकान्तजी के सहयोगी श्री जुगल किशोर जैथलिया, यह आलेख उनके इस कालखण्ड के अनेक अनछुये पहलुओं को उजागर करता है।

'चित्रावली' शीर्षक द्वितीय खंड में प्रो० शास्त्री की बहुआयामी गतिविधियों के कुछ चित्र प्रस्तुत किए गए हैं।

विविध क्षेत्रों में निरंतर सक्रियता एवं कर्मठता के कारण शास्त्रीजी के व्यापक अवदान की विपुल चित्र-सामग्री से चित्र चयन करने का कार्य सचमुच जटिल था। हमने विभिन्न क्षेत्रों की उल्लेखनीय तस्वीरों को चुनकर उन्हें इस खंड में सुव्यवस्थित रूप से सँजोने का प्रयास किया है।

तीसरा खंड रचनाकार विष्णुकान्त शास्त्री पर केन्द्रित है। इसमें आचार्य शास्त्री की कृतियों की सूची के साथ उनपर समीक्षात्मक टिप्पणियाँ दी गई हैं एवं उनकी रचनात्मकता पर केन्द्रित कुछ आलेख भी शामिल किए गए हैं। यह खंड प्रो० शास्त्री के साहित्यिक अवदान को रेखांकित करेगा— ऐसा हमारा विश्वास है।

अभिनन्दन ग्रंथ में विष्णुकान्तजी के व्यक्तित्व की विविध रेखाओं का अंकन करनेवाला महत्त्वपूर्ण अंश है— चतुर्थ खंड। अपने अप्रतिम, अनुकरणीय व्यक्तित्व से शास्त्रीजी ने अपने शुभचिन्तकों, मित्रों, शिष्यों तथा विविध क्षेत्र से जुड़े व्यक्तियों को जिस रूप में प्रेरित-प्रभावित किया है, उसकी जानकारी पाठकों को इस खंड के आलेख प्रदान करेंगे। स्वाभाविक रूप से यह खंड पृष्ठ संख्या की दृष्टि से बड़ा है।

पाँचवें खंड में आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के कुछ ऐसे आलेख छापे गए हैं जो पाठकों को शास्त्रीजी के साहित्यिक लेखन के विविध पक्षों का आस्वाद करायेंगे। इसी खंड में विधायक, सांसद और राज्यपाल के रूप में दिए गए उनके कुछ वक्तव्य भी मुद्रित किए गए हैं। इस खंड की रचनाओं का चयन इस रूप में किया गया है ताकि पाठकों को गत वर्ष पुस्तकालय द्वारा प्रकाशित 'विष्णुकान्त शास्त्री : चुनी हुई रचनाएँ' (२ खंड) में संग्रहीत सामग्री के अतिरिक्त अन्य रचनाओं का भी आनन्द प्राप्त हो सके।

इस प्रकार विविध भाव-भंगिमा वाले ये पाँच खंड अलग-अलग रंग और सुगन्ध वाले पाँच पुष्प हैं जिनका स्तवक तैयार कर हम ७५ वर्ष पूर्ति पर आचार्य शास्त्री को पुस्तकालय-परिवार की ओर से समर्पित कर रहे हैं। हमें विश्वास है कि इसकी सुवास सुधी पाठकों एवं साहित्यप्रेमियों को प्रीतिकर लगेगी।

पुस्तकालय की ओर से प्रकाशित स्मारिकाओं एवं साहित्यिक कृतियों की श्रृंखला में यह प्रकाशन 'अभिनन्दन ग्रन्थ' की कोटि का होने के कारण कुछ अलग तो है ही, विशिष्ट भी है क्योंकि यह अपने सम्मान्य शुभचिंतक-संरक्षक के प्रति प्रकट किया गया हमारा भावपूर्ण श्रद्धाज्ञापन है।

इस ग्रंथ हेतु जिन रचनाकारों ने अपना रचनात्मक सहयोग हमें प्रदान किया है, सभी के प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। श्रद्धेय विष्णुकान्तजी के स्नेहियों, शुभचिंतकों, विद्यार्थियों एवं प्रशंसकों की संख्या बहुत बड़ी है। यह स्वीकार करने में हमें कोई संकोच नहीं है कि इस ग्रंथ में उनके अनेक आत्मीयजनों की रचनाएँ हम शामिल नहीं कर सके हैं। मुझे विश्वास है कि ग्रंथ की सीमा समझते हुए वे महानुभाव हमें क्षमा करेंगे।

'अमृत महोत्सव' समारोह तथा अभिनन्दन ग्रंथ की योजना को हमारे शुभेच्छुओं ने जिस उत्साह से स्वीकार कर आर्थिक सहयोग का हाथ बढ़ाया वह श्रद्धेय शास्त्रीजी के प्रति उनकी अपार श्रद्धा का परिचायक है। हमें विश्वास है कि यह अभिनन्दन ग्रन्थ श्रद्धेय विष्णुकान्तजी के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व के विविध पक्षों से सुधी पाठकों को सुपरिचित कराने में सक्षम होगा। आपकी सम्मति की हमें प्रतीक्षा रहेगी।

प्रेमशंकर त्रिपाठी

(डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी, *प्रधान संपादक*)

कृते, सम्पादक मण्डल

अनुक्रम—

खंड : १
आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का जीवन परिचय

खंड : २
चित्रावली
आचार्य शास्त्री की विविध गतिविधियों के उल्लेखनीय चित्र

खंड : ३
आचार्य शास्त्री विरचित कृतियाँ एवं उनपर समीक्षाएँ
तथा
रचनाकार आचार्य शास्त्री पर कुछ निबन्ध

खंड : ४
आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के व्यक्तित्व-कर्तृत्व पर केन्द्रित
संस्मरणात्मक आलेख

खंड : ५
आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की कतिपय रचनाएँ

ॐ

Swami Satyamitrananda Giri

(Ex. Jagadguru Shankracharya)
Founder President: Bharatmata Mandir

२०-३-२००४

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी हमारे समाज के श्रेष्ठतम सत्पुरुषों की प्रथम पंक्ति में विराजमान विभूति हैं। उनका आध्यात्मिक चिंतन जीवन के प्रत्येक व्यवहार में परिलक्षित होता है। अनुशासन, प्रशासन एवं आत्मानुशासन के वे अनुकरणीय सात्त्विक संत हैं।

उनके अमृत महोत्सव पर मेरी आदरपूर्ण शुभकामनायें प्रेषित हैं। वे शतायु हों; समाज का मार्गदर्शन करते रहें— यह प्रभु से प्रार्थना है।

–स्वामी सत्यमित्रानन्द

लाल कृष्ण आडवाणी
नेता, प्रतिपक्ष
लोक सभा

2 अगस्त 2004

संदेश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि श्री बड़ाबाजार कुमार सभा पुस्तकालय, कोलकाता द्वारा आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी के 75 वर्ष पूरे होने के अवसर पर एक वृहद अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है। मैं इस अवसर पर श्री शास्त्री जी को बधाई देता हूँ तथा ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि उन्हें दीर्घायु प्रदान करे।

अभिनन्दन ग्रन्थ के सफल प्रकाशन हेतु मेरी हार्दिक शुभकामनाएं।

लाल कृष्ण आडवाणी

(लाल कृष्ण आडवाणी)

44, संसद भवन, नई दिल्ली-110 001 दूरभाष : 23016705, 23034285 (कार्यालय)
30, पृथ्वीराज रोड, नई दिल्ली-110 011 दूरभाष : 23794124, 23794125 (निवास)

No PS/G/3639/04

राजभवन

कैलाशपति मिश्र
राज्यपाल

गुजरात

राजभवन
गांधीनगर-३८२ ०२०

दिनांक २९-०६-२००४

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री : अमृत महोत्सव

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय ने आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी के ७५ वर्ष पूर्ण होने पर अमृत महोत्सव का आयोजन किया है। यह जानकर बहुत ही प्रसन्नता हुई है। साथ ही इस अवसर पर एक भव्य अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित करने का भी आयोजन है।

आचार्य विष्णुकान्तजी शास्त्री का व्यक्तित्व बहुआयामी है। वे सुप्रसिध्द साहित्कार, कुशल वक्ता श्रेष्ठ सामाजिक कार्यकर्ता, निष्कलंक राजनेता और वरिष्ठ आध्यात्मिक प्रवचनकार हैं। एम०ए० हिन्दी एवं साथ में एल०एल०बी० कलकत्ता विश्वविद्यालय से करने के बाद उसी विश्वविद्यालय में प्राध्यापक बने। शास्त्री जी देश के चुने हुए लोकप्रिय अध्यापकों मेसे एक है। अध्यापन के प्रति उनका जुड़ाव सचमुच अनुकरणीय है। शास्त्री जी ने अपने विद्यार्थियों के लिए केवल मंगल कामना ही नहीं कि उन्हें आत्मविश्वास की सीढ़ियां दी, स्नेह से, आत्मीयता और सत्परामर्श से उनका उचित मार्गदर्शन किया, तो प्रेम, प्रेरणा और प्रोत्साहन की छेनी से अवरोधक तत्वों को तोड़कर अनेक उदीयमान प्रतिभाओं को समाज एवं साहित्य के क्षेत्र में प्रस्तुत किया।

श्री शास्त्री जी एक श्रेष्ठ विभूति हैं। उनका विभूतिमत्व उनके कार्य और व्यवहार से झलकता है। श्रेष्ठ आचार्य के रूप में उनकी प्रतिष्ठा केवल इसलिए नहीं कि वे बड़े विद्वान हैं, बल्कि इसलिए हैं कि वे अपने छात्र जगत में अपनी छात्र वत्सलता के कारण सदैव अत्यधिक श्रध्दास्पत रहे और आज भी उन जैसा गुरू पाकर उनके अनेक छात्र अपने को धन्य मानते हैं, अपने अच्छे विद्यार्थियों की मुक्त कंठ से प्रशंसा करना वे चूकते नहीं। अपने विद्यार्थियों के बीच वे :वित्तहर्त्ता: नहीं :चित्तहर्त्ता: है। उनका :आचार्यत्व: आज न जाने कितनों के मन-मस्तिष्क पर साम्राज्य कर रहा है ?

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी के जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व को देखकर ही भारत के महामहिम राष्ट्रपति जी ने उन्हें उत्तर प्रदेश का राज्यपाल नियुक्त किया और उन्होंने अपनी राजनीतिक एवं प्रशासनिक विद्वत्ता से आये सभी राजनैतिक सामाजिक संकटों और चुनौतियों का निर्भयता से सामना किया है। मैं आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी का अभिवादन करते हुए उनके अच्छे स्वास्थ्य एवं दीर्घायु होने के लिए शुभकामना प्रेषित करता हूं।

कैलाशपति मिश्र

(कैलाशपति मिश्र)

केदार नाथ साहनी
KIDAR NATH SAHANI

राज भवन
गोवा-४०३००४
RAJ BHAVAN
GOA-403004

राज्यपाल, गोवा
GOVERNOR OF GOA

अपने किसी भी आत्मीय के सम्बन्ध में लिखना बहुत दुष्कर होता है। साथ ही, लिखने में कुछ संकोच भी होता है कि अत्यन्त निकटता के कारण कहीं पक्षपात ही न हो जाए। मेरी स्थिति वैसी ही है।

आज से ६० से भी अधिक वर्ष पहले, जब मैं पढ़ने के लिए जम्मू गया तब श्री विष्णुकान्त शास्त्री जी के परिवार के बारे में, वहाँ के लोगों से बहुत कुछ सुना। पू. शास्त्री जी के पिता जी और उनके पितामह के पाण्डित्य, दानवीरता और समाजसेवा की खूब चर्चा थी।

शास्त्री जी से मेरी पहली भेंट, कोलकत्ता में उन के घर पर ही हुई थी। उस बात को भी प्रायः ५० से अधिक वर्ष बीत चुके हैं। फिर तो कोलकाता जाने पर उन से प्रतिवर्ष दो तीन बार मिलना हो ही जाता था।

उनकी सादगी, सरलता और विनम्रता पहली भेंट में ही, मन मोह लेती है। किन्तु, धोती कुरता पहने अत्यन्त विनम्र और सरल स्वभाव का यह व्यक्ति इतना विद्वान होगा, इसकी अनुभूति तो धीरे धीरे होती है। मैं भी इस सम्बन्ध में काफी देर बाद जान सका। इतना तो पता चल चुका था कि शास्त्री जी कोलकाता विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हैं। किन्तु, यह नहीं जानता था कि उनके सरल व्यक्तित्व के पीछे ज्ञान का इतना बड़ा भण्डार छुपा है। जैसे जैसे परिचय बढ़ता गया तभी मैं जान सका कि हिन्दी के साहित्य, कविता एवं संस्कृति क्षेत्रों के अथाह सागर हैं। कवि सम्मेलनों तथा साहित्यिक गोष्ठियों में ही उनकी अपार विद्वत्ता का दर्शन हो पाता था। और, सभी उनका लोहा मानते थे। ऐसे अवसरों पर जब-जब उन्हें मंच संचालन का कार्य सौंपा जाता था तो वह अपनी विशेष और विलक्षण शैली से उस आयोजन की शान दुगुनी कर देते थे। देश के सभी बड़े और गणमान्य कवि तथा साहित्यकार उनके अभिन्न मित्र भी हैं और प्रशंसक भी।

अपने निश्छल, मधुर, विनम्र तथा स्नेह भरे व्यवहार के कारण शास्त्री जी अजातशत्रु हैं। सब उनके मित्र हैं, चाहने वाले हैं। कोलकाता में उनके छात्र रहे अनेक बड़े-बड़े धनपतियों को मैंने स्वयं अत्यन्त आदर से शास्त्री जी के पाँव छूते देखा है। आज के माहौल में, ऐसा होना भले ही विचित्र लगे, किन्तु यह शास्त्री जी के प्रति, इन सभी की अनन्य श्रद्धा और स्नेह दर्शाता है।

अब वे महामहिम हैं, राज्यपाल हैं। किन्तु इतने उच्च पद पर आसीन होने के बाद भी वह वही पुराने शास्त्रीजी ही हैं, जिनके व्यवहार में रत्ती भर भी अन्तर नहीं आया। वही शालीनता है, वही विनम्रता, और वही स्नेह। लखनऊ के राजभवन के सभी अधिकारी और कर्मचारी उनके इन गुणों से अत्यन्त प्रभावित भी हैं और चकित भी। वे कल्पना भी नहीं कर सके कि राज्यपाल ऐसा भी हो सकता है।

सार्वजनिक जीवन में कार्यरत सभी सामाजिक कार्यकर्ताओं के लिए शास्त्री जी का जीवन अत्यन्त प्रेरणा देने वाला तथा अनुकरणीय है। ऐसे आदर्श पुरुष ही समाज के कालुष्य को दूर कर सकने की क्षमता रखते हैं। मेरा मानना है कि पहले अपने पू. पिता जी से तथा बाद में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से मिले संस्कारों का ही यह प्रमाण है।

हम सब प्रार्थना करें कि श्री विष्णुकान्त शास्त्री जी शतायु हों और सदा हमें प्रेरणा देते रहें।

22.12.2005

प्रिय त्रिपाठी जी,

आपका पत्र ऐसे समय में आया जब मैं बीमार था और आपको उत्तर देने की स्थिति में नहीं था। कुछ दिन पूर्व ही आप्रेशन के बाद अस्पताल से लौटा हूँ।

श्रद्धेय विष्णुकान्त शास्त्री जी का मैं बहुत पुराना प्रशंसक रहा हूं, व्यक्ति की हैसियत से एवं भारतीय विद्वान की हैसियत से; एक गुणी और कला-मर्मज्ञ लेखक के रूप में सबसे अधिक। जब कभी उनकी कोई चीज पढ़ता हूँ— पिछले वर्ष ईशोपनिषद् पर उनकी मौलिक विद्वत्तापूर्ण टीका पढ़ते हुए कितना आह्लादित हुआ था— हमेशा उनके प्रति गहरी कृतज्ञता का बोध होता है।

इसलिए आज विशेष-रूप से दुःख सालता है, कि शारीरिक विवशता के कारण उनके अमृत महोत्सव अभिनन्दन ग्रंथ के लिए कुछ भी लिखना संभव न हो सकेगा— केवल मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ कृपया उन तक पहुँचा दीजिएगा।

वे चिरायु हों यही प्रार्थना है।

दिल्ली
२७ जून, २००४

सस्नेह
निर्मल वर्मा

दिनांक ५-३-२००४

प्रिय प्रेमशंकर जी,

आपका पत्र अभी कल ही मिला है। इतना शीघ्र आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री पर जैसा मैं चाहता हूँ वैसा लिख नहीं पाऊँगा। वे बहुत सफल, व्यवहार कुशल और सामंजस्य वाले राज्यपाल के रूप में सर्वमान्य हैं। प्रदेश में कहीं भी सांस्कृतिक आयोजन हो, उसका निमन्त्रण स्वीकार करते हैं। एक दिन में पाँच-पाँच कार्यक्रम सम्पन्न कराते हुए थकान नहीं लेते। वे हर कार्यक्रम में कुछ नई बात कहते हैं। वे प्राचीन से आधुनिक काल के अक्षय स्मृतिकोष हैं। इसके साथ ही साथ मधुर व्यवहार के भी वे अक्षयकोष हैं। कभी उनके स्वभाव की मधुरता कम नहीं होती। कितनी भी उत्तेजना हो वे उसे हँस कर ले लेते हैं। उनके व्यक्तित्व का यह प्रधान गुण है। जहाँ तक उनके कृतित्व का प्रश्न है, उनका अध्यात्म चिन्तन सुलझा हुआ गंभीर है। इसका कारण यह है कि उनके लिए अध्यात्म सहज हो गया है। वह किताबी नहीं रह गया है। उनके संस्मरण, उनकी आत्मीयता के अछोर प्रसार के प्रमाण हैं। वे उम्र में मुझसे थोड़े छोटे हैं और उस समय उसका लिहाज करते समय वे हर अवसर पर संकोच करते हैं। यह उनका बड़प्पन है। मैं उनके अमृताभिनन्दन पर्व पर हार्दिक बधाई देता हूँ। सस्नेह—

बी-८७, ए-१२, रवीन्द्रपुरी एक्सटेंशन
वाराणसी-२२१ ००५

–विद्यानिवास मिश्र

उमा भारती
मुख्य मंत्री

मध्यप्रदेश शासन
भोपाल—462004

07 जुलाई, 2004

संदेश

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ने 2 मई को अपने जीवन के 75 वर्ष पूरे कर लिये हैं । इस शुभ प्रसंग पर मैं उन्हें हार्दिक बधाई देते हुए उनके स्वस्थ और सुदीर्घ जीवन की कामना करती हूँ । यशस्वी तो वे हैं ही । आचार्य विष्णुजी जैसे बहुआयामी व्यक्तित्व का सानिध्य हमें गौरवान्वित भी करता है । जीवन संघर्षों से उपजे अनुभवों, विषय की विशेषज्ञता और स्वयं को समाज के लिये समर्पित कर जनकल्याण की भावना से परिपूरित उदारमना आचार्य विष्णु कांतशास्त्री जी ने अपनी राजनैतिक प्रज्ञा का उपयोग भी जनहित में ही किया है ।

श्री बड़ा बाजार कुमारसभा पुस्तकालय, कलकत्ता ने आचार्य विष्णुकांत शास्त्री के व्यक्तित्व-कृतित्व पर केन्द्रित अभिनंदन ग्रंथ के प्रकाशन का निर्णय लेकर एक बहुत बड़े दायित्व का निर्वहन किया है । निश्चित ही इस ग्रंथ के प्रकाशन से पाठक विष्णुकांत जी के जीवन के दुर्लभ और महत्वपूर्ण प्रसंगों से परिचित और प्रेरित होंगे ।

शास्त्री जी को उनके 75वें जन्मदिन के अवसर पर पुनः शुभकामनाएँ ।

(उमा भारती)

स्वामी चिन्मयानन्द सरस्वती
पूर्व गृह राज्य मन्त्री
भारत सरकार

परमार्थ आश्रम
स्वामी शुकदेवानन्द मार्ग
हरिद्वार-249410

प्रिय जैथलिया जी,

आपका पत्र मिला। शास्त्री जी के 75 वर्ष पूर्ण होने पर उनके अभिनन्दन का निश्चय, आपका एक सराहनीय प्रयास है, एक ऐसा प्रयास, जिससे धार्मिक आध्यात्मिक जगत से जुड़ा साधक भी लाभान्वित होगा। शास्त्री जी की लोक यात्रा एक अनासक्त–योगी से कहीं अधिक निस्पृह और निराशीर्य रही है। कोलकाता विश्व विद्यालय के एक शिक्षक से लेकर शिमला और लखनऊ के राजभवन तक उनके जीवन का हर क्षण गंगा के निर्मल जल–कण सा पवित्र और अम्लान है। वे सत्य के एक सजग साधक ही नहीं अपितु ऋत के प्रखर वक्ता तथा सौम्य शब्दों के शिल्पी भी हैं। लोकतंत्र को उन्होंने जिया है और गणतंत्र को उन्होंने अपने प्रतिदिन के आचरण में आत्मसात किया है। वे अच्छे तो सबके हैं लेकिन बुरे किसी के नहीं। साहित्य के प्रति उनका अनुराग केवल उनके विचारों तक ही सीमित नहीं है, अवसर मिलने पर उसके सम्बर्धन के लिये उन्होंने अपने अधिकारों का भी उपयोग किया है। महामहिम का दर्प कभी उनको आकर्षित नहीं कर सका, जिस सहजता से वैभव के उन्माद को उन्होंने इन्कार किया है वैसा शायद कोई सन्यासी भी न कर सके। रमा का भरपूर विलास उन्हें मिला लेकिन उनके अन्दर के रामानुराग ने सदैव उन्हें उससे असंग ही रखा। वे एक वक्ता, लेखक, राजनेता, अध्यापक, कथावाचक, उपदेशक, प्रशासक, कवि और लोकतंत्र के अजेय योद्धा आदि रुपों में हम सबके सामने आये लेकिन उनका विनम्र साधक सदैव उनके साथ रहा है। सम्मान के हर अवसर को उन्होंने जहां विनम्रता से वहीं अपमान के हर क्षण को अपनी सहजता से जीता। एक सम्पूर्ण व्यक्ति के लिये जो भी अपेक्षित है, वह सब कुछ शास्त्री जी को परमात्मा ने दिया और जो भी उन्हें मिला उसे उन्होंने अपने पास न रखकर (जनता जनार्दन) अपने आराध्य के विराट को सौंपकर कबीर की तरह जस के तस बने रहे। भगवान से यही प्रार्थना है कि वह उन्हें जीने के लिये कम से कम 25 वर्ष और भी दे, जिससे हम सब उनकी शताब्दी का आयोजन कर सकें।

सादर।

आपका,

चिन्मयानन्द स्वामी

अश्विनी कुमार, पूर्व सांसद
कार्यालय सचिव
भाजपा संसदीय दल

सत्यमेव जयते

2, संसद भवन, नई दिल्ली-110001
दूरभाष : 011-23034684, 23034819 (कार्या.)
फैक्स : 011-23016890
दूरभाष : 011-23720331 (निवास)

दिनांक : 4 अगस्त 2004

प्रिय बन्धु जुगल किशोर जी

सप्रेम नमस्कार,

आपके पत्र द्वारा यह जानकर अत्यंत हर्ष हुआ कि आप अपने आचार्य विष्णुकांत शास्त्री जी के 75वें वर्ष पूर्ति के उपलक्ष्य में भव्य आयोजन करने जा रहे हैं।

मेरा विष्णुकांत जी से आपातकाल में परिचय आया और निरंतर घनिष्ठता में बदला रहा। उसके बाद अखिल भारतीय कार्यसमिति एवं राज्यसभा के कालखण्ड में उनसे निकटता का अवसर मिला।

विष्णु जी प्रकाण्ड विद्वान, मृदुभाषी एवं सौम्यता की प्रतिमूर्ति हैं। कोई भी उनके पास जब जाता तो वो उसका दुःख हर लेते और उसको हंसता हुआ वापिस भेजते। उनकी विद्वता का एक प्रमाण यह है जो मैंने स्वयं देखा कि मान्यवर अटल जी कभी कभी अंग्रेजी-हिन्दी भाषान्तर करते समय विष्णु जी को फोन करके उपयुक्त शब्द पूछते थे। वो चलते-फिरते शब्दकोष हैं। उनके पास कविताओं, दोहो एवं मुहावरो का अंबार है। किसी भी मौके पर वो अपने भंडार में से मौके के अनुसार चुना हुआ रत्न निकाल देते हैं। बैठको में भी कभी कभी उन्मुक्त भाव से कविता पाठ भी करते थे, जिससे सभी लोग आत्मविभोर हो जाते थे।

अपने राज्यपाल के कार्यकाल में भी उन्होंने बहुत ही शालीनता एवं उच्च स्तर से अपने कार्य का संपादन किया, जिसकी कोई भी आलोचना नहीं कर सका। इस शुभावसर पर मैं ईश्वर से उनके 'शतम् जीवेत एवं स्वस्थ जीवेत' की प्रार्थना करता हूँ।

मुझे विश्वास है कि आने वाले दिनों में विष्णु जी के द्वारा देश एवं हिन्दी साहित्य की अपार सेवा होगी।

शुभकामनाओं सहित,

भवदीय,

अश्विनी कुमार

(अश्विनी कुमार)

श्री जुगलकिशोर जी जैथलिया
श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय
1-सी, मदन मोहन बर्मन स्ट्रीट (1 तल्ला),
कोलकाता-700 007

त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी
राज्यपाल, कर्नाटक

राजभवन
बेंगलोर-56 001

आचार्य श्री विष्णुकान्त शास्त्री : जैसा मैंने देखा

मुझे यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता है कि आचार्य श्री विष्णुकान्त शास्त्री की जीवन यात्रा के पचहत्तर वर्ष पूर्ण होने के शुभ अवसर पर उनके सम्मान में एक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने का आयोजन किया गया है। यह अत्यंत स्तुत्य संकल्प है जिसके लिये मैं आयोजकों को साधुवाद देना चाहूँगा। मैं शास्त्री जी को भी इस मांगलिक अवसर पर अपनी हार्दिक शुभकामनायें प्रेषित करता हूँ।

विष्णुकान्तजी से मेरा व्यक्तिगत परिचय समय के परिप्रेक्ष्य में बहुत पुराना नहीं कहा जा सकता। हिन्दी साहित्य का साधारण पाठक होने के नाते मैं उनके नाम से अवश्य परिचित था, क्योंकि उनके कुछ लेख पत्र पत्रिकाओं में देखने का समय-समय पर मौका मिलता रहता था। संस्मरणों का उनका एक संकलन, जो वाराणसी से हिन्दी प्रचारक संस्थान ने प्रकाशित किया था, मुझे बहुत पसन्द आया था। इसका जिक्र मैंने प्रयाग विश्वविद्यालय के स्व० डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी से किया तो उन्होंने उनकी विद्वत्ता और कर्मठता दोनों की ही बहुत प्रशंसा की। एक सुखद संयोग ही था कि मैं दिल्ली से प्रयाग गया हुआ था और डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के यहाँ ही अपरान्ह भोजन के पूर्व बातचीत में संलग्न था। यकायक बिना पूर्व सूचना के शास्त्रीजी आ गये। वे जल्दी में थे, डॉ० रामस्वरूप से बोले कि कुछ व्यक्तिगत काम से एक दिन के लिये प्रयाग आया था, पर आपसे तो मिलना ही था सो नमस्कार के लिये आया हूँ, तुरन्त जाना है। रामस्वरूपजी ने मेरी तरफ इशारा करते हुये कहा कि, शास्त्रीजी, आपके एक प्रशंसक यहाँ बैठे हुये हैं, और मेरा परिचय कराया। भारत सरकार में पदासीन होने के कारण शास्त्रीजी ने भी मेरा नाम सुना था; बड़े स्नेह से मिले और थोड़ी देर रामस्वरूप और उनकी पत्नी से बातचीत करके वापस चले गये। पर उनकी शालीनता और सादगी से मैं बहुत प्रभावित हुआ। मेरा शास्त्रीजी से यह प्रथम परिचय था।

पुनः संयोग तब बना जब श्री मुलायम सिंह का उत्तर प्रदेश के प्रथम मुख्यमंत्रित्व काल का जमाना था। उन्होंने उ० प्र० सरकार के हिन्दी संस्थान द्वारा हिन्दी साहित्यकारों को दिये जाने वाले पुरस्कार की चयन समिति में मुझे संयोजक नियुक्त कर दिया। इस समिति में मेरे दो सहयोगी थे श्री विष्णुकान्त शास्त्री और श्री विशन नारायण टंडन। बैठक मेरे सरकारी आवास अशोक रोड पर हुई। हिन्दी समिति के अध्यक्ष डॉ० परिपूर्णानन्द जी भी उपस्थित थे पर चयन समिति की कार्यवाही में उन्होंने भाग नहीं लिया, केवल नियमों इत्यादि से चयन समिति को अवगत करा दिया। तीन वर्षों के चयन बाकी थे। काफी समय विचार विमर्श के बाद सर्वसम्मति से हम लोगों ने अपने सुझाव औपचारिक रूप से दे दिये। साहित्यकार होने के नाते बिशन जी और शास्त्री जी में पुरानी जान-पहचान थी। बिशन मेरे विश्वविद्यालय से लेकर सरकारी सेवा तक में मेरे साथ रहे, अतएव खूब खुलकर देर तक बातचीत होती रही। परिपूर्णानन्द जी से पुराना परिचय सबका था ही। पहिली दफे शास्त्री जी से कवितायें सुनने का भी मौका मिला। मैं कह सकता हूँ कि शास्त्रीजी से जो औपचारिक जान पहचान डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के यहाँ हुई थी इस

बैठक से निकटता, और आत्मीयता बढ़ी तथा इसने मित्रता का रूप ले लिया। आगे वह सम्बन्ध बढ़ता ही गया क्योंकि सन् १९९२ में दोनों ही साथ-साथ उत्तर प्रदेश से राज्यसभा के सदस्य निर्वाचित हो गये। उस सदन में हमारा बैठने का स्थान भी पास-पास था। मेरे लिये उनका सम्पर्क हर दृष्टि से लाभकारी रहा। मैं कोई विद्वान नहीं, एक मित्र के नाते कुछ कहने का प्रयास कर रहा हूँ।

श्री विष्णुकान्त शास्त्री बहुआयामी प्रतिभा के धनी हैं। उनका दैनिक जीवन अत्यंत अनुशासित है। विद्वत्ता के साथ-साथ, उनमें एक स्वाभाविक नम्रता है। अपने दायित्वों के प्रति सजग, सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ और स्पष्टवादी होने पर भी अपने विचारों के प्रकटीकरण में वे सदैव बड़ी संयम की भाषा का उपयोग करते हैं। भारतीय संस्कृति और सनातन धर्म में उनकी अगाध आस्था है। उनके संस्कार पूर्ण रूप से भारतीय हैं। वे नैष्ठिक ब्राह्मण अपने सही माने में हैं। यह उनके विद्वान पिताश्री और परिवार की ही देन है। पर उनके आचार-विचार और व्यवहार में किसी भी प्रकार की संकीर्णता आप कभी नहीं पायेंगे। यह मैंने उनके निजी व्यवहार, साहित्यिक गोष्ठियों और पार्लियामेंट सभी में देखा। परम्परा और आधुनिकता का उनकी जीवन शैली और विचारधारा में अद्‌भुत सम्मिश्रण अथवा समन्वय है। उम्र में अग्रज होने पर भी मैं उनका प्रशंसक, इस कारण अधिक प्रशंसक हो गया क्योंकि मैं देखता था कि वे दूसरों के हितों एवं भावनाओं दोनों का ख्याल रखते।

शास्त्रीजी बहुश्रुत और बहुपाठी हैं। देश के अनेक विद्वानों से उनका नजदीकी नाता है। वे हर क्षेत्र के लोगों में लोकप्रिय हैं। उनके पुराने विद्यार्थी उनका नाम बड़े आदर से लेते हैं। शिष्यों से उनका सम्बन्ध केवल औपचारिक नहीं वरन् व्यक्तिगत है। उनका अपने विषय और भाषा दोनों पर समान अधिकार है, अतएव विद्यार्थी उनके विशेष प्रशंसक रहे हैं। जब वे सांसद और राज्यपाल बने तब भी शोधकर्ता उनसे पूछताछ करते रहते थे। शास्त्रीजी केवल उत्कृष्ट कोटि के अध्यापक ही नहीं रहे हैं, वे अत्यंत प्रभावी भाषणकर्ता हैं। कोई भी अवसर हो, कोई भी विषय हो, बड़ी सभा हो या छोटी बैठक— वे अपने विचारों का प्रतिपादन बड़े सुचारु रूप से करते हैं। राजनैतिक, साहित्यिक अथवा आध्यात्मिक कोई भी विषय हो, उनका विश्लेषण अपने में अनूठा ही होता है। वे संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू और बंगाली भाषाओं पर समान अधिकार रखते हैं और बड़ी सरलता से अनेक भाषाभाषियों से बातचीत कर सकते हैं। उनकी स्मरण शक्ति असाधारण है। हिन्दी, संस्कृत, बंगाली, उर्दू इत्यादि की कितनी कवितायें उनको याद हैं कोई कह नहीं सकता। मौके के अनुसार वे कुछ न कुछ सुना देंगे। स्वयं भी कवि हैं। यदि किसी और से कोई अच्छी कविता या शेर सुना तो तुरन्त स्वयं लिख भी लेंगे। उदीयमान लेखकों और साहित्यकारों को वे सदैव प्रोत्साहन देते हैं। उनमें एक कवि की सामाजिक संवेदना है। पर उनका पठन पाठन देश और समाज के जो अन्य सरोकार हैं, उनके विषय में कुछ कम नहीं है। अधिकृत ढंग से वे किसी भी सामयिक समस्या के विश्लेषण की क्षमता रखते हैं।

मैंने यह भी देखा कि उनको अपने परिवार व स्वजनों से बड़ा लगाव है। चाहे दूर के ही संबंधी हों, सबका बड़ा ध्यान रखते हैं। यह बात आजकल कम ही देखता हूँ। उनकी साहित्यिक रुचि किसी काल के साहित्य तक सीमित नहीं है। प्राचीन, मध्यकालीन या आधुनिक अथवा सामयिक सभी को वे समान सम्मान देते हैं। हिन्दी साहित्य में हर विधा को उनका कुछ न कुछ मौलिक अनुदान है। साहित्य प्रेमी और आचार्य के रूप में मैंने उन्हें किसी दलबन्दी में नहीं देखा, चाहे जो उनकी राजनीतिक या धार्मिक धारणायें हों। उनके दृष्टिकोण में विशालता है जिसमें वे सबको समाहित कर लेते हैं। किसी मामले में उनसे विचार विभिन्नता हो जाये तो भी उनके व्यवहार में रंचमात्र खिन्नता का भाव नहीं दिखाई देगा।

अगले दिन की दिनचर्या क्या होगी शास्त्रीजी पूर्व निश्चित कर लेते हैं और प्रत्येक कार्य को मनोयोग से पूरा भी कर लेते हैं। कोई कार्य आगे के लिये नहीं छोड़ते। समय का पूर्ण उपयोग उनकी विशेष उपलब्धि है। नित्यकर्म, पूजा वन्दना और योगाभ्यास के उपरान्त विष्णुकान्त जी का कार्यक्रम किस प्रकार से सम्पन्न होता है, यह मेरे लिये सदैव आश्चर्य का विषय रहा है। यही कारण है कि साहित्य तथा पत्रकारिता के साथ-साथ समाज और राजनीति को उनका इतना अवदान है। चाहे वे विधायक, सांसद, दो-दो प्रदेशों— हिमाचल तथा उत्तर प्रदेश के राज्यपाल रहे हों पर उनका मूल रूप तो विद्वान, शिक्षक, बहुसम्मानित आचार्य, समाजसेवी तथा एक सुसंस्कृत संस्कारी और प्रबुद्ध नागरिक का ही है। यही उनकी सार्वजनिक लोकप्रियता का प्रमुख कारण है। उनका व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों स्फूर्तिदायक है। शास्त्री जी की सदाशयता, विद्वत्ता, विनयशीलता, आत्मीयता, सैद्धान्तिक दृढ़ता, अनुशासित जीवन शैली और स्थितप्रज्ञता का मैं कायल हूँ।

मैं परमपिता परमात्मा से उनके स्वस्थ और दीर्घजीवन की प्रार्थना करता हूँ ताकि वे इसी प्रकार अगले समय में भी साहित्य, समाज और संस्कृति की सेवा करते रहें। मेरी ओर से शास्त्री जी को बहुत-बहुत बधाई एवं मंगलकामना।

त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी

(त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी)
राज्यपाल, कर्नाटक

Pramod Mahajan

मराठी भाषामें अेक शब्द है.
'देवमाणूस'
अैसा मनुष्य जिसमें भगवान समान
गुण हो.
विष्णुकांत शास्त्रीजी जब भी मैंने
देखा तब मुझे लगा की शायद
यह शब्द उनके लिएही बना होगा.
भगवान उन्हे शतायु बनाये.

प्रमोद महाजन
13 अॅगस्ट 2004.

7, Safdarjung Road, New Delhi-110011

विष्णुकान्त शास्त्री : एक अनन्य व्यक्तित्व

—डॉ. प्रतापचंद्र चंद्र

पूर्व केन्द्रीय शिक्षा मंत्री

मेरे २०-२२ हजार छात्र-छात्राओं में मेरा प्रिय छात्र विष्णुकान्त शास्त्री अनन्य व्यक्तित्व संपन्न है। संस्कृत की उक्ति है— 'सर्वत्र जयमन्विच्छेत, पुत्रात् शिष्यात् पराजयम्' अर्थात् सर्वत्र विजय की कामना करनी चाहिए किन्तु पुत्र एवं शिष्य से पराजय में भी गौरव है। पिता से पुत्र और गुरु से शिष्य आगे बढ़ जाय तभी समाज की उन्नति-प्रगति होती है। मेरे शिष्य विष्णुकान्त ने अनेक क्षेत्रों में मुझे हरा दिया है— यही मेरे लिए आनंद और गर्व की बात है।

छात्र के रूप में पठन-पाठन के प्रति वह जितना आग्रहशील रहा है उतना उछल-कूद (हो-हल्ले) में नहीं। कानूनी व्यवसाय का पेंच भी उस जैसे सरल प्रकृति के छात्र के लिए नहीं है अतः हिन्दी भाषा में पारंगत होकर वह हिंदी का अध्यापक ही बना। हिन्दी भाषा और साहित्य में उसने पांडित्य का अर्जन किया और अध्यापक के रूप में पर्याप्त ख्याति प्राप्त की। मैं उसके पढ़ाए अनेक विद्यार्थियों को जानता हूँ जो उसकी प्रशंसा मुक्त कंठ से करते हैं।

मैं यह जानता था कि उसका राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से संबंध रहा है इस बात से मुझे कोई आपत्ति नहीं थी। यद्यपि संघ की सब बातों को मैं नहीं मानता परन्तु संघ की राष्ट्रीयता, आदर्शवाद एवं अनुशासन की मैं प्रशंसा करता हूँ। गुरु गोलवलकरजी के साथ व्यक्तिगत बातचीत का सुयोग मुझे प्राप्त हुआ है। संघ के बारे में विरूप-समालोचना मुझे पसंद नहीं है। मत वैविध्य तो हो ही सकता है, लेकिन इस कारण हम विभिन्नता रखनेवालों को हेय क्यों समझें? विष्णुकान्त में मैंने संघ के रचनात्मक गुणों को रूपायित होते देखा है। यह गुण तब और स्पष्ट हुआ जब श्रीमती इंदिरा गांधी ने जनसाधारण की स्वाधीनता का हरण कर देश के ऊपर आपात्काल थोप दिया। लोकनायक जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में भारत में द्वितीय स्वाधीनता संग्राम शुरू हुआ। मैं तब पश्चिम बंगाल संगठन कांग्रेस का सभापति था। हमलोग लोकनायक के नेतृत्व में आंदोलन में कूद पड़े। स्वयंसेवकों की विराट फौज के साथ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ इस आंदोलन में हमारे साथ था। संघ की एकनिष्ठता एवं विश्वसनीयता से मैं मुग्ध हुआ। इस आंदोलन में विष्णुकान्त हमारे साथ था। हम इस प्रकार सहयोद्धा हुए। हमारी सफलता अब इतिहास है। जनतापार्टी का गठन हुआ। १९७७ में हमारे सामने श्रीमती गांधी की दुरभि-संधि विफल हुई, केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार प्रतिष्ठित हुई। मैं केन्द्र में शिक्षा, समाज-कल्याण और संस्कृति मंत्री बना। विष्णुकान्त पश्चिम बंगाल विधानसभा का सदस्य निर्वाचित हुआ। उसकी वाग्मिता सर्वत्र प्रशंसित हुई। वह हिन्दी अध्यापक से राजनेता बना। इस क्षेत्र में वह हमारे अत्यंत निकट का हो गया।

मैं उसके प्रगाढ़ पांडित्य से तब परिचित हुआ जब मैंने हिन्दी साहित्य के वृहत् इतिहास में उसके द्वारा लिखित एक सुव्यवस्थित आलेख पढ़ा। मुझे सचमुच बहुत आनंद की अनुभूति हुई। बाद में मैंने भारतेंदु हरिश्चन्द्र

के बारे में बंगला में अनेक आलेख लिखे। इन्हें लिखते समय भारतेन्दु जी की मूल रचनाओं की खोज मेरे लिए कठिन थी। अनेक रचनाएँ छपी नहीं थीं। नेशनल लाइब्रेरी से भारतेन्दु समग्र लाकर कार्य करना भी कठिन था क्योंकि पुस्तक कम समय में ही लौटानी पड़ती थी। मेरी असुविधा समझ कर विष्णुकान्त ने अपनी कुछ किताबें कुछ दिनों के लिए मुझे दीं। उन्हीं के माध्यम से मैंने ग्रंथ की रचना की। मैंने भूमिका में विष्णुकान्त के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की। मेरे द्वारा रचित *'भारतेंदु'* बांग्ला भाषा में संभवतः एकमात्र कृति है। वह हिन्दी में अनूदित होकर मेरे हिन्दी समग्र में शामिल की गई। विष्णुकान्त का सहयोग यदि मुझे नहीं मिलता तो मैं यह ग्रंथ नहीं लिख पाता।

बंगभाषा प्रसार समिति, प्रेसिडेन्सी कॉलेज पूर्व छात्र संसद आदि बहुत सी साहित्यिक-सभाओं में हमलोग एक साथ शामिल हुए हैं।

एकबार दूरदर्शन के हिन्दी कार्यक्रम में उसके साथ एक आलोचना गोष्ठी में भाग लेने का मुझे आमंत्रण मिला। मैंने डरकर उसके लिए स्वीकृति दी। मैंने हिन्दी में वक्तव्य रखा। विष्णुकान्त ने मेरी भूलों को सँभाला। यह एक नया अनुभव था।

इसके बाद मैंने विष्णुकान्त को एक प्रशासक के रूप में देखा— उसे एक जटिल राज्य उत्तरप्रदेश का राज्यपाल बनाया गया। वहाँ की राजनीति में पर्याप्त पेंच हैं। मैं व्यक्तिगत रूप से इस बात को जानता हूँ क्योंकि वाराणसी में मेरा एक मकान है जहां मैं प्रायः जाया करता हूँ। मैं अपने को कई बार आधा बनारसी कहता हूँ। विष्णुकान्त ने बड़ी दक्षता के साथ विभिन्न दलीय सरकारों को चलाया। बीच-बीच में उसके कलकत्ता आने पर हमलोग किसी न किसी कार्यक्रम में मिलते।

कहा गया है— 'विद्या ददाति विनयम्'। विष्णुकान्त राज्यपाल होकर भी अपने पुराने अध्यापक के रूप में मुझे झुककर ही प्रणाम करता। मेरे अन्य छात्रगण भी राज्यपाल हुए हैं लेकिन इतनी विनम्रता मैंने और किसी में नहीं देखी। विष्णुकान्त के प्रशासकीय जीवन के असमय से मैं दुखी नहीं हूँ क्योंकि उसकी प्रज्ञा, विनयशीलता तथा मानवीयता तो कोई छीन नहीं सकता।

अमृत महोत्सव पर मैं उसके दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ। ●

कल्याणमल लोढ़ा

२-ए, देशप्रिय पार्क
कोलकाता-७०० ०२९

कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा, २०६१ वि०
दिनांक १३.११.२००४

प्रिय प्रेमशंकर,

आज कार्तिक शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा है। कहीं-कहीं इसे नववर्षारम्भ भी गिना गया है लक्ष्मी पूजन के उपरान्त। मुझे सत्य शर्मा का लक्ष्मी स्तोत्र स्मरण आ रहा है—

नमो लक्ष्म्यै महादेव्यै जगमात्रो स्वहरिप्रिये।
त्वां दिना शून्यतां याति जगद्यत्रै विवर्जितम्।

लक्ष्मी को 'श्री' भी कहा गया है- शोभा, संपत्ति पद्मासु लक्ष्मीः श्री रिय कथ्यते। श्री अर्थात् गौरव - उच्च पद - सौंदर्य - लक्ष्मी का यही अर्थ गौरव बोध कराता है - बुद्धि और वृद्धि के कारण। मैं यही सोच रहा था कि सूर्योदिष्ट के पूर्व प्रातः चार बजे पं० विष्णुकान्तजी का फोन आया नववर्ष का प्रणाम स्वीकार करें, सर्वप्रथम आपको ही फोन किया है । मैं भावाभिभूत हो गया और अपने को सौभाग्यशाली माना। ऐसा उदाहरण अन्यत्र कहाँ है? प्रातः होते ही श्री जुगलकिशोरजी जैथलिया ने स्वतः सम्पर्क किया और शास्त्री जी के अभिनंदन ग्रंथ हेतु आलेख चाहा। इस वर्ष उनकी कौस्तुभ जयन्ती मना रहे हैं। कौस्तुभ अर्थात् विष्णु के वक्षः स्थल पर धारण करने वाला रत्न। भैया जी कौस्तुभ मणि के समान हैं— प्रभामय, उज्ज्वल और दीप्तिमय। विष्णुजी की कौस्तुभ जयन्ती पर प्रकाश्य ग्रंथ अभिनंदन के साथ-साथ उनका गौरव ग्रंथ है।

यही सोचते-सोचते मैं विचारमग्न हो गया। भैयाजी की अंतरंगता, आन्तरता और आत्मीयता के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की असंख्य रेखाएँ स्मृति में घनीभूत होकर मन पर छा गयीं। सोचता हूँ उन्हें किस माप से मापूँ, कहाँ से उनका चरित्रांकन करूँ? किस दृष्टि से उसका परिमापन? वे केवल शिष्य ही नहीं, संगी-साथी, सहयोगी, सहभागी और समवाय रहे— अनुजवत् प्रेयस और श्रेयस के धनी। उन पर कुछ भी कहना सुनना और लिखना जितना अपेक्षित और अभीप्सित है उतना ही कठिन और दुष्कर। वे एक त्रिभुज हैं— साहित्य, शिक्षा और संस्कृति के समान कोण। इसे मेरे गुरु पूज्य स्वामी प्रत्यात्मानन्दजी सरस्वती ने तत्परता, परमता और परमार्थता कहकर की है। भैया जी के व्यक्तित्व और कृतित्व की ये ही विशेषताएँ हैं। जब वे विश्वविद्यालय में छात्र थे और हिन्दी विभाग में विद्यार्थी, तब भी उनकी सक्रियता से मुझे विवेक चूड़ामणि का यह कथन स्मरण होता था—

विद्या स्वस्वरूपानुसंधान एवं स्वात्म तत्वानुसंधान है । यह कहने में कोई संकोच नहीं कि वे आज भी मुझे उसी सम्मान, श्रद्धा और विनयशीलता से देखते हैं। ऐसा प्रकर्ष और प्रकल्प मेरे जीवन की परमता और अनन्यता है। उनका शिक्षक रूप भी अपनी तेजस्विता से सर्वमान्य और सर्वलोकप्रिय रहा। कालिदास के अनुसार—

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रांतिरन्यस्य विशेषयुक्ता
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव। *(मालविकाग्निमित्र १.१६)*

अर्थात् - सच्चा गुणी वही है जो अपने गुणों से विश्वस्त होकर शिष्यों को सिखाने में चतुर हो, वही श्रेष्ठ है। भारतीय आचार्यों ने शिक्षा से अधिक महत्त्व विद्या को दिया है। भगवती के लिए हम कहते हैं— 'या देवी

सर्वभूतेषु विद्या रूपेण संस्थिता।' विष्णुजी सफल शिक्षक तो थे ही, विद्वान और पंडित भी— पंडिताः समदर्शिनः। उनका स्वाध्याय, अध्यवसाय और चिंतन कभी शिथिल नहीं हुआ और यही विद्वान की जागरूकता है।

आचार-विचार और व्यवहार में विष्णुजी समदर्शी हैं। कोई, कैसा भी भेद नहीं। उनकी भाव-सम्पदा, वैचारिक क्षमता और दृढ़ता की सभी प्रशंसा करते हैं। वे वाक् साधक थे और आज भी हैं। अध्ययनकाल में रातभर जगकर वे अध्ययन करते थे। मैं इसका प्रत्यक्ष साक्षी रहा। वे वाग्मी थे और आज भी हैं। वाणी में ही तो विद्वता का अभिज्ञान होता है। पंडित वही है-

प्रयोजनेषु ये सक्तः न विशेषु भारतः।
तानेहः पंडिता- मन्ये विशेषासु प्रसंशिता *(महाभारत)*

विष्णुजी का ध्यान केन्द्र प्रयोजन सिद्ध होता था, चाहे कबीर हो अथवा तुलसी, सूर और देव या मतिराम पढ़ाकर- सभी में उनकी गहरी गति और मति थी। न जाने कितने उद्धरण उन्हें कण्ठस्थ थे— 'कण्ठे तु विद्या'। मेरे गुरु कहा करते थे कि विद्वान को ज्ञान-विज्ञान और प्रज्ञान में निष्णात होना चाहिए। भैयाजी के पांडित्य का भी यही त्रिभुज है। मार्क मिडडोफ का एक आलेख है In Praise of Teachers (स्पान मार्च १९८९)। लेखक कहता है कि वर्षों के अनन्तर भी यदि विद्यार्थी अपने गुरु से यह कहें - I want you to know how much, how far you are important to me यही शिक्षक की अभूतपूर्व सफलता है। और उसमें There should not be any crisis of faith . ऐसी सफलता और निपुणता मैंने विष्णुजी में देखी।

साहित्य और शिक्षा के अतिरिक्त वे भारतीय संस्कृति की महान अवधारणाओं में अडिग विश्वास करते हैं और कोई झिझक, संकोच और शंका, प्रकम्पन नहीं है क्योंकि 'ये विश्वास नहीं थमते हैं कभी प्रकंपित मन से'। भारतीय संस्कृति की अपूर्वता उसकी सम्यक् वैश्विक दृष्टि है और यही मानव जीवन की सार्थकता भी। भगवान श्रीराम उनके आराध्य हैं और तुलसी उनके सर्वाधिक प्रिय कवि। भक्ति की परानुरक्ति श्रीराम में व्याप्त है। उनके लिए यही ऋत है और सत्य भी। श्रीराम नाम उनकी नस-नस में व्याप्त है— वही प्राणों का स्पन्दन है, जिजीविषा और चिकीर्षा भी। भैयाजी की अडिग मान्यता है—

यो भूतंच भव्यंच सर्व्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्म ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। *(ब्रह्म अर्थात् श्रीराम) अथर्ववेद, १०.८.०१*

उनकी आस्था सांस्कृतिक समन्वय में है और उन्होंने अपने जीवन में पितृ ऋण, मातृ ऋण और गुरु ऋण का परिपालन और परिपूर्णन किया है। महाभारत में चौथा ऋण कृतज्ञता है। विष्णुजी कभी अकृतज्ञ नहीं हुए। उनके व्यक्तित्व में कर्तव्य निष्ठा और धैर्य सदैव विद्यमान रहे। जीवन की कठिन यात्रा के वक्र मोड़ों के मध्य वे न अधीर हुए न हतप्रभ।

'विकार हेतो सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीरः'।

वे धैर्यवान हैं, सरलता, सौजन्य, सौहार्द और सदाचार के साथ उनके कथनी और करनी की एकता, मितभाषी और नियमबद्धता संस्कृति के महान मूल्यों की अवधारणा है। विष्णुजी मनुर्भव के विवेक और आदर्श में विश्वास करते हैं— 'पुमान पुमांस परिपातु विश्वतः' यही मानवता है और मानवीय उच्चता।

निष्काम कर्म और कर्तव्य परिपालन मानव का धर्म है। वैदिक कथन है— 'मत्वा कर्माणि सेव्यति इति मनुष्यः'।

भैयाजी (यही शब्द मुझे सर्वाधिक प्रिय रहा है और यही संबोधन मैंने सदैव उनके लिए किया। राज्यपाल के पद पर भी महामहिम थे तब भी) वपु, वेश, विद्या, वाणी और वैभव ये पाँच गुण आकृष्ट करते हैं और भैयाजी इस अर्थ में पंचगुणात्मक हैं।

उनके साहित्य का रचनाफलक भी विशिष्ट है। वे उपनिषद् और श्रीगीता का सारगर्भित विवेचन करते हैं तो दूसरी ओर साहित्य के विशिष्ट पक्ष यात्रा, पत्र और संस्मरण भी। उनका मानस कवि का मानस है। उनकी कविता की एक पंक्ति को न जाने मैंने कितनी बार दोहराया है– 'भूलना तुमको स्वयं को भूलना है'। उनका चिंतन गंभीर, मौलिक और प्रमाणसिद्ध होता है।

मैंने प्रारंभ में ही कहा कि उनके लिए कहना और लिखना जितना सरल है उतना कठिन भी। न जाने कितने प्रसंग, संदर्भ और संस्मरण मेरे मन-मस्तिष्क में उमड़ घुमड़ रहे हैं। कुछ का उल्लेख श्रीमती तारा दूगड़ और श्री मनोज कुमार के साक्षात्कार में किया पर उसकी परिधि तो अधिक है, बहुत अधिक और व्यापक।

थके-मांदे जीवन के चतुराशीति सोपान पर मैं यही सोचता हूँ कि उनका सान्निध्य मेरे लिए एक सांस्कारित उपलब्धि है– और इसी से–

चाहे कह्यौ बहुतेरो कछु
पै कहा कहिए कहि आवत नाहीं।

यह मेरा संतोष भी है और नहीं भी। मेरी शुभेषा है—

जीवेम् शरदः शतम् बुध्येम शरदः शतम्।
पश्येम शरदः शतम्
पुषेम शरदः शतम् भुयेम् शरदः शतम्।
भवेम शरदः शतम्
भूयसि शरदः शतात् *(अथर्ववेद १९.६७.२/८)*

प्रेमशंकर! क्या यह अभिनन्दन ग्रंथ उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का पूर्ण आकलन कर सकेगा, संभवतः नहीं। पर यह अवश्य ही उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का मूल्यांकन तो है। मैं तुम्हें इसके लिए बधाई देता हूँ।

तुम्हारा
कल्याणमल लोढ़ा

डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी
सम्पादक :
आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री : अभिनन्दन ग्रंथ

खंड : १

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का जीवन परिचय

:: अनुक्रम ::

क्र० सं०	विषय	लेखक	पृ० सं०
१.	आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री : जीवन यात्रा के महत्त्वपूर्ण पड़ाव	महावीर बजाज	३
२.	वंश परम्परा के अनुगामी : मेरे अग्रज विष्णुकान्त शास्त्री	श्रीकान्त शास्त्री	७
३.	पास रहते हुए भी दूर : मेरे पिता पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री	विष्णुकान्त शास्त्री	२१
४.	मेरे बाबूजी	श्रीमती भारती शर्मा	२७
५.	मेरी माँ	श्रीमती भारती शर्मा	३२
६.	मेरी नानी	श्रीमती विभा बत्रा	३५
७.	विष्णु भैया	पद्मा सचदेव	३६
८.	आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का जीवन परिचय	तारा दूगड़	३९
९.	विष्णुकान्त शास्त्री : राजनैतिक जीवन के तीन दशक	जुगलकिशोर जैथलिया	५२

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री : जीवन यात्रा के महत्त्वपूर्ण पड़ाव

प्रस्तुति : **महावीर बजाज**

१९२९, २ मई	:	जन्म कलकत्ता में।
पिता	:	पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री।
माता	:	श्रीमती रूपेश्वरी देवी।
पूर्वज	:	जम्मू के। चार पीढ़ी पूर्व वाराणसी में आकर बसे। बाद में पिता कलकत्ता आकर बस गए। कलकत्ते में ही विष्णुकान्त जी का जन्म।
१९४४	:	राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक।
१९४५	:	प्रथम श्रेणी में मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण।
१९४८ दिसम्बर	:	संघ पर प्रतिबंध का विरोध करते हुए सत्याग्रह एवं कारावरण (२ महीने)।
१९४९	:	बी.एस-सी. परीक्षा पास की।
१९५०	:	बी. ए. की उपाधि प्राप्त।
१९५२	:	कलकत्ता विश्वविद्यालय से हिन्दी साहित्य में एम. ए. (प्रथम श्रेणी में प्रथम)।
१९५३, २६ जनवरी	:	श्रीमती इंदिरा देवी के साथ जम्मू में विवाह।
१९५३	:	एल्-एल्. बी. की उपाधि।
१९५३ जुलाई	:	सेठ आनंदराम जयपुरिया कॉलेज में लेक्चरर के रूप में नियुक्त।
१९५३ अक्टूबर	:	कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक के रूप में नियुक्ति।
१९५३, १० दिसम्बर	:	पुत्री भारती का जन्म।
१९५५, २७ अक्टूबर	:	पिता पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री का निधन।
१९५८-५९	:	श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय के मंत्री।

१९६३	:	एन.सी.सी. में कंपनी कमाण्डर नियुक्त।
१९६३	:	'कवि निराला की वेदना तथा अन्य निबंध' (प्रथम मौलिक कृति) प्रकाशित।
१९६४-६५	:	श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय के अध्यक्ष।
१९६८-७४	:	कलकत्ते की प्रख्यात नाट्य संस्था 'अनामिका' के अध्यक्ष।
१९७१	:	बांग्लादेश मुक्ति युद्ध के लिए समर्पित; कई बार बांग्लादेश की यात्राएँ।
१९७२	:	'संकल्प, संत्रास, संकल्प' (बांग्लादेश की संग्रामी कविताएँ नागरी लिपि में और उनका काव्यानुवाद) प्रकाशित।
१९७२	:	कलकत्ता विश्वविद्यालय की सीनेट के सदस्य निर्वाचित।
१९७३	:	'कुछ चंदन की कुछ कपूर की' (आलोचनात्मक निबंध) प्रकाशित।
१९७३	:	'बांग्लादेश के संदर्भ में' प्रकाशित।
१९७३	:	'बांग्लादेश : संस्कृति और साहित्य' (सम्पादित कृति) प्रकाशित।
१९७३	:	'कुछ चंदन की कुछ कपूर की' पुस्तक को उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान का आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पुरस्कार।
१९७४, २५ *नवम्बर*	:	पूज्य स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती से दीक्षा ग्रहण।
१९७५, १२ *जनवरी*	:	प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन की गोष्ठी में वक्तव्य।
१९७५ *मार्च*	:	'बांग्लादेश के संदर्भ में' कृति उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा सम्मानित।
१९७५, ५ *अप्रैल*	:	कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में रीडर पद पर पदोन्नति।
१९७५, १३ *दिसम्बर*	:	पुत्री भारती का विवाह।
१९७६	:	'तुलसीदास आधुनिक संदर्भ में' (संपादित कृति) प्रकाशित।
१९७७-८२	:	पश्चिम बंगाल विधान सभा में जोड़ासाँकू (कलकत्ता) क्षेत्र से विधायक।
१९७७	:	'चिन्तन मुद्रा' (आलोचनापरक निबंधों वाली कृति) का प्रकाशन।
१९७७	:	'स्मरण को पाथेय बनने दो' (संस्मरणात्मक पुस्तक) प्रकाशित)।
१९७८, २९ *जनवरी से ७ मार्च*	:	सूरीनाम, गयाना, ट्रिनिडाड, यू. एस. ए., इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, इटली की यात्रा।
१९७९	:	सूरीनाम में आयोजित 'सूरपंचशती' में भारत सरकार के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित।

१९७९, ५ जुलाई से १९८०, ९ जुलाई तक	:	कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्थानापन्न हिन्दी विभागाध्यक्ष।
१९७९	:	'स्मरण को पाथेय बनने दो' कृति उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा सम्मानित।
१९८१ से १९८३	:	कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष।
१९८१ से १९८३	:	बड़ाबाजार लाइब्रेरी के अध्यक्ष।
१९८० अप्रैल से १९९१ नवंबर तक	:	भारतीय जनता पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी के सदस्य।
१९८२ मार्च से १९८६ फरवरी तक	:	पश्चिम बंग भा.ज.पा. के अध्यक्ष।
१९८३ जुलाई से	:	कोलकाता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रोफेसर पद पर नियुक्ति।
१९८१-८५	:	'अनामिका' के पुनः अध्यक्ष निर्वाचित।
१९७७-८३	:	'रस-वृन्दावन' मासिक पत्र का सम्पादन।
१९८६	:	'अनुचिंतन' (समीक्षापरक निबंध) प्रकाशित।
१९८७	:	'कलकत्ता १९८६' (संपादित)।
१९८८ मई से १९९३ मई तक	:	भाजपा के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष।
१९८८, २७ मई	:	पत्नी इंदिरा देवी की मृत्यु।
१९९०	:	'तुलसी के हिय हेरि' (गोस्वामी तुलसीदास पर आलोचनापरक निबंध) प्रकाशित।
१९९१	:	भारत-भवन, भोपाल के न्यासी नियुक्त।
१९९१	:	उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान का साहित्यभूषण पुरस्कार प्राप्त।
१९९२ से १९९८	:	राज्यसभा के सांसद निर्वाचित।
१९९२	:	'सुधियाँ उस चंदन के वन की' (संस्मरणात्मक कृति) प्रकाशित।
१९९२	:	'भक्ति और शरणागति' प्रकाशित।
१९९३	:	'कलकत्ता १९९३' संपादित।
१९९४ मई	:	कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रोफेसर पद से सेवानिवृत्त।
१९९५, १४ जून से १९९५, ३० जून तक	:	संसदीय राजभाषा समिति के साथ यूरोप, अमेरिका, कनाडा की यात्रा।
१९९५ सितम्बर से १९९७ अक्टूबर तक	:	पश्चिम बंग भा.ज.पा. के पुनः अध्यक्ष निर्वाचित।
१९९७, ७ मार्च	:	अ. भा. हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तिरुपति अधिवेशन की अध्यक्षता।
१९९७, २८ सितंबर से १९९७, ४ अक्टूबर तक	:	बैंकाक, सिंगापुर, क्वालालमपुर की यात्रा।

१९९८	:	'ज्ञान और कर्म' (ईशावास्य अनुवचन) प्रकाशित।
१९९८ अगस्त	:	तुलसी पंचशती में भारत सरकार के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित, सूरीनाम की राजधानी पारामारिबो में।
१९९८	:	उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान का सुप्रतिष्ठित 'डॉ० राममनोहर लोहिया सम्मान' प्राप्त।
१९९९ मई	:	'जीवन पथ पर चलते-चलते' (काव्य ग्रंथ) प्रकाशित।
१९९९ अगस्त	:	'अनन्त पथ के यात्री : धर्मवीर भारती' प्रकाशित।
१९९९, १५ सितंबर	:	छठे विश्व हिन्दी सम्मेलन, लंदन की कबीर गोष्ठी की अध्यक्षता।
१९९९, २ दिसंबर	:	हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल पद पर नियुक्ति।
२०००, ३१ जनवरी	:	कानपुर विश्वविद्यालय द्वारा मानद डी.लिट्. उपाधि।
२०००	:	हिमाचल प्रदेश के मंदिर के पुजारियों के लिए पुनश्चर्या पाठ्यक्रम का प्रवर्तन।
२०००, १ से १८ मई	:	पंजाब के राज्यपाल एवं चंडीगढ़ के प्रशासक का अतिरिक्त कार्यभार।
२०००, २४ नवंबर	:	उत्तर प्रदेश के राज्यपाल पद पर नियुक्ति।
२०००, ६ दिसंबर	:	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा मानद डी.लिट्. उपाधि।
२००१, १५-१६ जुलाई	:	भारत-पाक वार्ता, आगरा की आतिथेयता।
२००२, ८ मार्च से २ मई	:	उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू, फलतः प्रशासन का संपूर्ण दायित्व श्री विष्णुकांत शास्त्री पर।
२००२, १५ मार्च	:	अयोध्या में शांतिपूर्ण शिलादान।
२००२ अप्रैल	:	उत्तर प्रदेश की बिगड़ती विद्युत-व्यवस्था में सुधार।
२००२, ३ मई	:	सुश्री मायावती को उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री की शपथ।
२००३ अगस्त	:	'विष्णुकान्त शास्त्री : चुनी हुई रचनाएँ' (२ खण्ड) प्रकाशित।
२००३, २९ अगस्त	:	उत्तर प्रदेश विधान सभा को भंग कर पुनः चुनाव कराने का मायावती का प्रस्ताव अस्वीकृत। मायावती का इस्तीफा स्वीकृत।
२००३, २९ अगस्त	:	श्री मुलायम सिंह यादव को उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री पद की शपथ।
२००४, २ जुलाई	:	उत्तर प्रदेश के राज्यपाल पद से निवृत्ति।
२००४ अगस्त	:	'आधुनिक हिन्दी साहित्य के कुछ विशिष्ट पक्ष' कृति प्रकाशित।

●

श्रीकान्त शास्त्री

वंश परम्परा के अनुयायी : मेरे अग्रज विष्णुकान्त शास्त्री

जीवन के उत्तरार्ध के अंतिम सोपान पर क्यों याद आ रही है वंशावली और क्यों याद आ रहे हैं— वंश परम्परा के अनुयायी बिस्सू भैया—अर्थात् मेरे अग्रज—आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री। मैं पुरखों को याद करता हूँ — हे मेरे पितरों ! तुम कहाँ हो ? कैसे हो ? —उत्तर दो। जब पृथ्वी पर थे तो, कैसे थे? किस तरह दीखते थे? कैसा आचरण करते थे? कुछ तो बोलो ! तो महाकवि प्रसाद की ये पंक्तियाँ याद आती हैं—

आती है शून्य क्षितिज से, क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी
टकराती बिलखाती सी, पगली सी देती फेरी!

ज्ञात पूर्व-पुरुषों में श्री कर्मचन्द शास्त्री, करीब १७५ साल पूर्व जम्मू प्रान्त के नगरोटा ग्राम से वाराणसी पढ़ने आये थे और वहीं विद्या-लाभ के पश्चात् बस गये। उनके पुत्र श्री गोकुल चन्द्र शास्त्री के बारे में भी कुछ खास पता नहीं है। उनके पुत्र श्री कृष्ण दयालु शास्त्री के बारे में पिताजी तथा बनारस के अन्य रिश्तेदारों से जो सुना है वह निम्नलिखित है—

दादाजी— अर्थात् श्री कृष्ण दयालु शास्त्री, छै फुट एक इंच का कद, गुलाबीपन लिये स्फुट गौरवर्ण, तीखी नासिका, इकहरा स्वस्थ बदन। दादाजी चार विषयों के आचार्य तथा श्रीमद्भागवत पुराण के उद्भट विद्वान एवं कथावाचक, सहृदय एवं दूसरे के दुःख से द्रवित होने वाले—काशी के विद्वानों में सम्मान्य व्यक्ति थे। उनके बारे में एक बात और सुनी है कि उस समय का अंगरेज कलेक्टर उनसे संस्कृत पढ़ने आता था और अपनी शर्त के अनुसार वे गद्दी पर ऊपर बैठते थे और वह नीचे बैठता था। दादाजी कई बार श्रीमद्भागवत की कथा सुनाकर मिली धनराशि किसी ब्राह्मण को उसकी कन्या के विवाह के लिये दे देते थे। वे अच्छे चित्रकार भी थे। उनके भगवान विष्णु के ऊपर बनाये कुछ चित्र बाबूजी के पास थे। दादाजी और दादी जी को मैंने नहीं देखा क्योंकि वे पिताजी के बाल्यकाल में ही दिवंगत हो गये थे। दादीजी के बारे में यह सुना है कि वे गौरवर्ण, सुन्दर, प्रत्युत्पन्नमति एवं कर्मठ महिला थीं। उनकी प्रत्युत्पन्नमति के बारे में इतना जान लेना काफी होगा कि रामनगर के व्यास मेले में वे कुछ स्वजनों के साथ नाव पर गयी थीं। लौटते वक्त नाव डूब गयी। पिताजी गोद में थे। वे तैरना जानती थीं। कुछ देर तक पुत्र को पीठ से बाँधे तैरती रहीं, किन्तु इन्द्र-दमनी बरसाती गंगा के आगे किसका जोर चलता है—वह भी एक महिला का जो पुत्र को लेकर तैर रही हो। मृत्यु सामने देख बड़े-बड़ों के होश गुम हो जाते हैं, पर उन्होंने हाथ आये एक पटरे से पुत्र को बाँध दिया और कुछ देर तक गंगा की तेज धार से जूझती रहीं, फिर गंगा में डूब गयीं। गंगा ने उनका जीवन तो ले लिया किन्तु उनके पुत्र को अपना पुत्र मान जीवन दे दिया। बाबूजी पटरे के सहारे बहते हुए किनारे लग गये। इसीलिये बाबूजी का नाम पड़ा गांगेय नरोत्तम शास्त्री। काशी के उस समय के सबसे बड़े विद्वानों में से एक महामहोपाध्याय पं० शिवकुमार शास्त्री ने उन्हें गांगेय की संज्ञा दी थी।

बाबूजी अर्थात् श्री गांगेय नरोत्तम शास्त्री। कद ५ फुट ९ इंच, वृषभस्कन्ध, स्फुट गुलाबी गौरवर्ण, दृढ़निश्चय को जताने वाली तीखी नासिका, गहरी वेधक आँखें और काले घुँघराले बाल। सब मिलाकर विशुद्ध

आर्य आकृति। उनके बालों के बारे में 'बच्चन जी' ने अपनी पुस्तक 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' में लिखा है, कि ऐसे घुँघराले बाल उन्होंने और कहीं नहीं देखे। बाबूजी के लिये अंगरेजी में एक शब्द है 'सेल्फमेड मैन' —स्वयं के परिश्रम से बना और बढ़ा आदमी। या स्वयमेव मृगेन्द्रता। उनकी माता के बारे में आगे लिख चुका हूँ। उनके पिता का स्वर्गवास ६ वर्ष की अवस्था में हो गया। बड़े भाई श्री पुरुषोत्तम शास्त्री से कुछ खास मदद नहीं मिली। महाराज बनारस की वृत्ति से प्रथमा एवं मध्यमा उत्तीर्ण की। लाहौर विश्वविद्यालय से शास्त्री परीक्षा एवं बनारस में ही साहित्य की आचार्य परीक्षा पास की। बंगाल से काव्य-तीर्थ की परीक्षा उत्तीर्ण की। महामना मदन मोहन मालवीय ने योग्यता देखते हुए बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत विषय में 'लेक्चरर' के पद पर नियुक्त किया। पिता के पदचिन्हों पर चलकर श्रीमद्भागवत का गहन अध्ययन करने के पश्चात् उस पर प्रवचन एवं कथा-वाचन आरंभ किया। उनका कण्ठ बहुत मधुर था। अतः कथा-वाचन रोचक के साथ मोहक भी होता था और इसी तरह की एक कथा के दौर में नानी माँ और उनके परिवार वालों ने उन्हें देखा, उनके बारे में जाना और माँ का विवाह उनसे कर दिया।

पिताजी संस्कृत एवं हिन्दी दोनों ही में काव्य रचना करते थे। वे संस्कृत में धाराप्रवाह भाषण देते थे। वे धनु राशि के थे। दृढ़निश्चयी, लक्ष्य के प्रति समर्पित एवं धनुष की तरह तने हुये। उनके आराध्य थे—भगवान विष्णु एवं उनके अवतार भगवान परशुराम। यह श्लोक उन्हें बहुत प्रिय था—

अग्रतश्चतुरो वेदाः पृष्ठतः सशरंधनुः
इदं ब्राह्मं इदं क्षात्रं, शापादपिशरादपि।

वे राजनीति में भी उतरे और बनारस में गर्मदल में शामिल हो गये। गाँधी जी के असहयोग आन्दोलन में उन्होंने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से त्यागपत्र दे दिया एवं राष्ट्ररत्न बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने जब डाक्टर भगवानदास एवं सम्पूर्णानन्द जी के सहयोग से काशी में काशी विद्यापीठ की स्थापना की तो वे इस संस्था के प्रेरणा स्रोतों में से एक हुए। काशी विद्यापीठ में कुछ साल संस्कृत एवं हिन्दी का अध्यापन किया। अभी भी उनकी तस्वीर काशी विद्यापीठ में लगी हुई है। गर्मदल के काम करने के कारण अँगरेज सरकार ने उन्हें बनारस छोड़ने का आदेश दिया और वे कलकत्ता आ गये। बाबूजी की दो कविता पुस्तकें— 'करुणतरंगिणी' एवं 'मालिनी मन्दिर' प्रकाशित हुई हैं। उन्होंने करीब १२ पुस्तकें लिखी हैं जिनमें उनका 'हनुमत् विजय', नाटक एक बार खेला जा चुका है। बाबूजी के बारे में बहुत कुछ लिखा जा सकता है—कुछ बिस्सु भैया के संस्मरण के साथ आ जायेगा।

अब मातृकुल पर हल्का सा प्रकाश— बड़ी नानी माँ अर्थात् श्रीमती श्याम देवी। कद पाँच फुट, फुट गोरा रंग कुछ ललाई लिये, बेधक आँखें, दृढ़-निश्चयी तीखी नाक। बड़ी नानी माँ सिंह राशि की थीं एवं स्वभाव भी काफी कुछ सिंह से ही मिलता जुलता था। मिलनसार, परिवार के प्रति समर्पित, सामाजिकता से परिपूर्ण, समाज में कहीं किसी लड़की या लड़के का विवाह हो या कोई अन्य सामाजिक कार्य—यथा यज्ञोपवीत संस्कार या फिर अन्तिम संस्कार— तन, मन, धन से लगी रहती थीं। वे कलकत्ते में सारस्वत खत्री समाज के सबसे बड़े रईसों में से एक—श्री विनायक मिश्र की पौत्री थीं। वे दो बहनें थीं। उनके दादा श्री विनायक मिश्र के बारे में कहा जाता है कि करीब सवा सौ डेढ़ सौ साल पहले उनकी वार्षिक कुल बिक्री या 'टर्न-ओवर' एक करोड़ से ऊपर थी। वे अपनी शुद्ध आय का षष्ठांश दान कर देते थे। वे भी 'सेल्फमेड मैन' थे अर्थात् स्वयं के परिश्रम से बने एवं बढ़े थे। उनके पिता उनके बचपन में ही स्वर्गवासी हो गये थे एवं कुछ धन उनके नाम एक 'ट्रस्ट' में इस शर्त के साथ छोड़ गये थे

कि पुत्र यदि योग्य निकले तो उसे दिया जाय। 'व्यापारे वसते लक्ष्मी !' और मारकीन के थानों का व्यापार करके उन्होंने रैलीज लि० की सारे पूर्व भारत की 'एजेंसी' ले ली। राजा कटरा में उनकी दुकान सबसे बड़ी थी जिसका एक अंश अब राम-कन्हाई यामिनी रंजन पाल के पास है। उनके प्रमुख शौक थे— दान और धर्मशालाओं का निर्माण ! उन्होंने कलकत्ते में धर्मशाला, हरिद्वार में धर्मशाला, बनारस में संस्कृत छात्रों के लिये छात्रावास और अन्नक्षेत्र एवं जम्मू में हिन्दु, मुसलमान और बौद्धों की विशाल धर्मशाला का निर्माण कराया था। उनका एक शौक गायन था। वे स्वयं भी गाते थे तथा पक्के गायन में निष्णात् दो गवैये भी उन्होंने रक्खे हुए थे। उनके पुत्र अर्थात् नानी माँ के पिता श्री मदनमोहन मिश्र सुन्दर, नाजुक, एवं कलकत्ते के रईसजादों में से थे। उनके शौक अपने पिता से कुछ मिलते थे— जैसे गायन और कुछ अलग थे— जैसे पशु-पक्षी-पालन। वे बावन बीघे के एक बगीचे और एक शानदार बालर घोड़ों वाली फिटन के स्वामी थे। बड़ी नानी माँ के बारे में बताते बताते उनके पितृकुल के बारे में बताने लगा, तो उनकी दादी अर्थात् बहूमाँ या श्रीमती सोहन देवी के बारे में कुछ बताऊँ। उनकी तस्वीर देखी है और सुना है कि काफी सुन्दर एवं रुआबदार चेहरे और व्यक्तित्व की स्वामिनी थीं। अपने पति के अधूरे धर्मशाला निर्माण कार्यों को पूरा किया। खासकर जम्मू की धर्मशाला। कहते हैं कि तवी नदी के किनारे होने के कारण खोदे जाने वाले कुएँ के नीचे पानी की जगह पत्थर निकला। बहूमाँ ने 'डाइनामाइट' से पत्थर तुड़वाये और कुएँ में पाताललोड़ मीठा पानी निकला। उनकी पहली पुत्रवधू कर्मदेवी जम्मू के जल्ला पंडित के खानदान की थीं। जल्ला पंडित बड़े तांत्रिक थे एवं महाराज रणजीत सिंह के दरबार में मन्त्री पद पर थे। उनके लिये एक कहावत चल पड़ी थी— 'ऊपर अल्ला, नीचे जल्ला।' नानी माँ की माता का स्वर्गवास पहले हुआ और उस समय की रीति के अनुसार उनके पिता का दूसरा विवाह राजदेवी से हुआ। विमाता से उनकी कभी नहीं बनी एवं इस कारण उनके स्वभाव में एक आक्रोश भर गया। और जब वे क्रोधित होती थीं तो सबकी ऐसी तैसी कर देती थीं—जैसा कि सिंह करता है। छोटी नानी माँ—श्रीमती भगवान देवी कद ५ फुट चार इंच, दोहरा बदन, खिलता गौरवर्ण। कुछ पढ़ी-लिखी भी। बड़ी-बड़ी आँखें, हँसता हुआ चेहरा, सहज व्यावहारिक ज्ञान में निष्णात, सहनशील, अध्यवसायी। छोटी नानी माँ बाल-विधवा थीं और विनायक मिश्र की बची हुई संपत्ति में आधे की हकदार। उनमें और बड़ी नानी माँ में एक अलिखित बँटवारा हो गया था—परिवार का—बड़ी नानी माँ के दो लड़कियाँ थीं—बड़ी ठाकुर देवी वे बड़ी नानी माँ के हिस्से में थीं। माँ रूपेश्वरी देवी छोटी नानी माँ के हिस्से में। दोहतों में बड़े भैया कृष्णकान्त शास्त्री छोटी नानी माँ के हिस्से में। छोटे भैया रमाकान्त मिश्र दोनों के बराबर, अधिकतर माँ के हिस्से में, विस्सू भैया बड़ी नानी माँ के हिस्से में। मैं सबसे छोटा होने के कारण सबके हिस्से में लेकिन अधिकतर माँ और मामी जी के साथ रहता। इसका यह अर्थ नहीं किसी लड़के के साथ कोई तरफदारी होती हो। जो कुछ भी घर में खाने-पहनने का आता था, सब लड़कों में बराबर बाँट दिया जाता था और बड़ों का नम्बर बाद में आता था। छोटी नानी माँ भी समाज-सेवा में काफी बढ़-चढ़कर हिस्सा लेती थीं। बाबूजी के काँग्रेस से जुड़े होने के कारण दोनों बहनें तकली या फिर चरखे पर सूत भी कातती थीं। अपने काते सूत की एक-दो धोती भी उनके पास थीं। छोटी नानी माँ अचार, मुरब्बा, पकवान आदि बनाने में माहिर थीं। रोजमर्रे का घर का हिसाब वे ही रखती थीं। हर वर्ष झूलन एवं जन्माष्टमी का त्योहार धूमधाम से मनाया जाता था। झूलन में शीशे का हिंडोला फूल-पत्तियों तथा कभी फल या राखी से सजाया जाता था। जन्माष्टमी में भी दोनों बहनें ठाकुरजी की झाँकी के रूप में राम या कृष्ण जन्म की बहुत सुन्दर झाँकियाँ सजाती थीं जो वे अपने पिताश्री मदनमोहन मिश्र के समय से देखती और करती आ रही थीं। उनके पिता इस विषय में कलकत्ते में 'पायोनियर' थे-अर्थात् पहल करने वाले।

छोटी नानी माँ पर लड़कों की गलती पर दण्ड देने की जिम्मेदारी भी सौंपी गयी थी। छोटी नानी माँ का स्वर्गवास १९४६ में हो गया और वे अपने किसी भी दौहित्र की शादी नहीं देख सकीं। १९४६ में छोटे भैया की शादी पर माँ ने कहा कि अगर २-३ साल और जीवित रहती तो कम से कम एक दौहित्र का विवाह तो देख जातीं।

माँ—श्रीमती रूपेश्वरी देवी, कद ५ फुट ८ इंच, गौरवर्ण, बड़े राजीव नयन, बड़ी नासिका, प्रशस्त ललाट बुद्धिमत्ता का सूचक, विलक्षण स्मृति की स्वामिनी। वे एकश्रुत थीं। एक बार सुनकर उन्हें श्लोक याद हो जाता था। अत्यन्त लम्बे आनितम्ब केश उनकी आकृति को अद्‌भुत शोभायमान बनाते थे। वे अपनी माँ की तरह सौन्दर्यप्रिय और सौन्दर्य की पारखी थीं। अतः उन दोनों ने चुनकर सुन्दर बहुएँ ली थीं। उनकी 'हॉबी' थी—कविता, कहानी और उपन्यास का अध्ययन। वे भजन भी बनाती थीं। उनकी एक विशेषता थी। मुहावरों एवं लोकोक्तियों का अद्‌भुत ज्ञान एवं समय पर उसका प्रयोग। इसलिये हिन्दी के ५ या १० नम्बरों के मुहावरे या लोकोक्ति प्रयोग संबंधी प्रश्न जो परीक्षा में आते थे मुझे उसमें पूर्णांक प्राप्त होते थे। माता एवं पिता दोनों ही साहित्य के मर्मज्ञ एवं सृजनशील। अतः बिस्सू भैया उन्हीं की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए और उनके तथा पितामह के आशीर्वाद से इतने ऊँचे उठे। मैं भी भूमि से उखड़ने पर भी साहित्य से जुड़ा रहा।

बिस्सू भैया—आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री— कद ६ फुट, खुलता गेहुँआ वर्ण, बड़ी-बड़ी चिन्तक की आँखें, प्रशस्त ललाट— बुद्धिमत्ता का द्योतक, बलिष्ठ स्वस्थ शरीर, आजानुभुज से बस आधा इंच कम लम्बे हाथ—सब मिलाकर विलक्षण व्यक्तित्व के स्वामी। श्रीराम के अनन्य भक्त और इस पर दृढ़ विश्वास रखने वाले कि जो कुछ हो रहा है श्रीराम की कृपा एवं इच्छा से हो रहा है। अतः सुख-दुःख, सम्मान-अपमान जो कुछ भी अपना है —रामजी को निवेदित है, जो फल दे दें अच्छा ही देंगे और यह सर-माथे पर—ऐसी मान्यता ! अतः चिन्तामुक्त, सहज, सरल एवं कुछ आवश्यकता से अधिक सादगी एवं सहिष्णु जीवन।

हम चार भाइयों में वे तीसरे नम्बर पर हैं। दो बड़े भाई श्री कृष्णकान्त शास्त्री एवं श्री रमाकान्त मिश्र का अभी हाल ही में स्वर्गवास हो गया है। श्री कृष्णकांत शास्त्री पिताजी की मृत्यु के बाद परिवार के मुखिया बने और पूरे परिवार की जिम्मेदारी संभाली। हम सभी लोग उनका आदेश मानकर ही चलते थे। वे भारतीय जनसंघ के सक्रिय सदस्य थे और कश्मीर आंदोलन में जब उन्होंने कारावरण किया तो डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने पिताजी के नाम पत्र लिखकर उन्हें आश्वस्त किया था।

श्री रमाकांत जी बड़े आध्यात्मिक संस्कारों के व्यक्ति थे। वे डिवाइन लाइफ सोसाइटी के स्वामी शिवानंद जी से बहुत प्रभावित थे। बाद में उन्होंने जगद्‌गुरु ब्रह्मानंद सरस्वती से दीक्षा ली थी। उनका कंठ बहुत सुरीला था और वे बच्चन के गीतों को उन्हीं की लय में गाया करते थे। मुझसे एक बड़े भाई श्री रविकान्त का स्वर्गवास चार साल की अवस्था में हो गया था। श्री रविकान्त नानी माँ एवं माँ के अनुसार हम सभी भाइयों में सबसे सुन्दर अपने पिता के गुलाबी वर्ण के थे। ऐसा सुना है कि बिस्सू भैया एवं रवि को एक साथ हैजा हुआ। बिस्सू भैया आकार में एवं वय में बड़े थे। अतः इनकी नस मिल गयी और 'सैलाइन' चढ़ाने में सुविधा हुई और उसको नहीं मिली अथवा इनकी आयु थी और श्री रविकान्त की पूर्ण हो गयी थी। अतः इन्हें जीवन मिला और उसे मिली मृत्यु। यह घटना शायद तीन या चार साल की अवस्था में घटी थी। उन दिनों विसूचिका से बचना कठिन एवं भाग्य की बात माना जाता था। भाई साहब बचपन से ही मेधावी, परिश्रमी एवं पढ़ाई के प्रति समर्पित छात्र थे। इसके विपरीत मेरी रुचि खेल कूद में अधिक थी। माँ से और नानी माँ से भाईसाहब के बारे में एक सूचना यह भी मिली कि बाबूजी

ने इनकी जिह्वा पर सरस्वती का बीज-मंत्र पैदा होने के छे दिन बाद लिख दिया था। शायद इसी से इनकी जिह्वा पर सरस्वती का वास है और शुरू से ही ये बोलने में अच्छे एवं संतुलित थे। कई अन्तर्महाविद्यालय-वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में प्रथम पुरस्कार भी मिला। वैसे, वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में भाग लेना और प्रथम पुरस्कार पाना—शास्त्री परिवार की विशेषता रही। मेरे, भारती, जया, अनु एवं मेरे बड़े पुत्र शशांक के समय तक यह परम्परा चलती रही।

काल का प्रवाह कलकल करती नदी की तरह बह जाता है। कुछ भी पकड़ में नहीं आता है। समय के प्रवाह को उल्टा नहीं बहाया जा सकता, किन्तु प्रत्यावर्तन के पथ पर पदचिह्न या स्मृतियाँ ही बचती हैं और स्मृति-सागर में गोता लगाकर जो कुछ हाथ आ रहा है, वही देने की चेष्टा कर रहा हूँ। बाबूजी के कुछ शौकों में बागवानी प्रधान थी। वे अक्सर हम लोगों को 'रायल एग्रिकल्चरल एण्ड हॉर्टिकल्चरल सोसायटी' में ले जाते थे। वे हम चारों भाइयों को, एक-एक मौसमी फूल का नाम बताते थे, उसके गुण बताते थे।

बाबूजी का दूसरा शौक शतरंज खेलना था। इसे उन्होंने सब लड़कों को सिखाया था। इसमें विशेष दिलचस्पी बिस्सू भैया लेते थे और जब बाबूजी को समय मिलता वे बिस्सू भैया के साथ शतरंज खेलते थे। उम्र में छोटा होते हुए भी मैं मोहरों को पहचानता था। उनकी चाल भी जानता था और किलेबन्दी भी। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान हमलोग कलकत्ते से काशी के लिये प्रवास कर गये। यह मेरी और अन्य सभी भाइयों की प्रथम रेलयात्रा थी। सभी काफी उत्साहित और प्रसन्न थे। 'इन्टर क्लास' का एक पूरा डिब्बा आरक्षित करवाया गया था। पूरा परिवार यात्रा कर रहा था। भोजनोपरान्त रात को बाबूजी और बिस्सू भैया शतरंज खेलने बैठे। रात १२ बजे तक शतरंज चलती रही। प्रातः पाँच बजे बाबूजी भैरवी राग में 'परापूजा' का पहला श्लोक 'उषस्यिमागध मंगल गायनैः। झटिति जागृहिः जागृहिः जागृहिः। अयि कृपार्धकटाक्ष विलोकनैः जगदिदं जगदम्ब सुखी कुरु' गाने लगे। बाबूजी के मधुर कण्ठ से यह श्लोक बहुत कर्णप्रिय लग रहा था।

पौ फट रही थी। अँधेरे को चीरती हुई प्रकाश की रेखाएँ और चहचहाते पक्षी अच्छे लग रहे थे। साथ चलती हुई बिजली एवं वायरलेस के तारों पर बैठे पक्षियों में जब भी नीलकण्ठ दिखाई पड़ता नानी माँ—'नीलकण्ठ ! रामजी से राम-राम कहना' —बोलतीं और उनके साथ हम भी बोलते। बाद में नीलकण्ठ से राम-राम कहने की प्रतियोगिता सी हो गयी। दस बजकर कुछ मिनट पर बनारस कैन्ट आया। सामान अधिक था। अतः पहले महिलाओं और बच्चों को उतार दिया गया फिर झटा-झट सामान उतारा जाने लगा। १२ बजे तक हम लोग अपने निवास विनायक भवन में पहुँच गये। "रांड, साँड़, सीढ़ी, संन्यासी, इनसे बचे तो सेवै काशी" में वर्णित बनारसी सीढ़ी पहली बार दृष्टिगोचर हुई। और बाबूजी के निर्देशानुसार हम सभी काफी संभल के ऊपर चढ़े।

बनारस के कई खट्टे-मीठे अनुभव। हमारा घर दशाश्वमेध घाट के पास था और हम लोग अक्सर गर्मियों में गंगा स्नान, और जाड़े में सायं घाट पर भ्रमण हेतु जाते थे। एक साँझ घाट पर एक मौलवी कह रहा था कि राजा रामचन्द्र जी का जन्म काबुल में हुआ है। उन्होंने मुझे आप लोगों को बुलाने भेजा है, वह राजा का मतलब इच्छा बता रहा था। बिस्सू भैया को क्रोध कम आता है, लेकिन जब आता है तो जम के आता है। जिस जगह से वह मुल्ला अपनी बात कह रहा था, बिस्सू भैया उसी के बगल में जाकर उसकी बात काटने लगे उन्होंने कहा रामचन्द्र जी को जन्म लेने के लिए अयोध्या छोड़कर काबुल जाने की क्या जरुरत पड़ गई? राजा शब्द है रज़ा नहीं और उसका अर्थ होता है राज्य का शासक, यह रज़ा कह कर उसका अर्थ बता रहा है और प्रतिवाद करने की जगह आप

चुपचाप सुन रहे हैं। यह सुनकर उपस्थित लोगों ने उसको बोलने से रोक दिया और उसने चुपचाप खिसक लेने में ही अपनी भलाई समझी। जब बड़ी नानी माँ को यह पता चला तो बोली—'विष्णु! तुझे यह सब करने की क्या जरूरत थी? अगर वह तुझे छुरा मार देता तो'? बाबूजी बोले कि 'नहीं बेबे जी, विष्णु ने ठीक किया। अन्याय का प्रतिवाद आवश्यक है।'

बनारस में हम लोग कवि सम्मेलनों एवं कवि गोष्ठियों में जाने लगे थे। बनारस में रहते हुए सबसे बड़ा कवि सम्मेलन नागरी प्रचारिणी सभा के रजत जयन्ती समारोह के समय अनुष्ठित हुआ। बाबूजी इसके सह-स्वागताध्यक्ष थे। कवियों के ठहरने की व्यवस्था हमारे मकान के एक तल्ले पर की गयी थी। उनके लिये भोजन बनाने एवं खिलाने की व्यवस्था दूसरे स्वागताध्यक्ष ने बगल के मकान में की थी। इस कवि सम्मेलन में कई बड़े कवि—निराला जी, नेपाली, श्याम नारायण पाण्डेय आदि हमारे घर टिके थे। इसके अलावा 'बच्चन' जी भी आये थे। वे अपने एक मित्र के यहाँ टिके थे। इन सभी कवियों को पहली बार इतने करीब से देखा था। इनमें से सबसे अधिक प्रभावित हम सभी को 'निराला' जी ने, उनके बाद नेपाली जी ने और श्याम नारायण पाण्डेय ने किया। 'निराला' छायावाद के तीसरे स्तम्भ के रूप में और श्याम नारायण पाण्डेय वीर रस के कवि के रूप में स्थापित हो चुके थे। नेपाली जी उभरते गीतकार के रूप में 'बच्चन' जी को चुनौती दे रहे थे। निराला जी ने सुबह पाँच बजे उठकर भैरवी गाना चालू कर दिया। हम चारों भाई नीचे के तल्ले में जाकर सुनने लगे। निराला जी का कण्ठ पक्के गायन में मँजा हुआ था। आवाज में गहराई और गूँज थी। भैरवी समाप्त कर वे हम लोगों से पूछने लगे किस कक्षा में पढ़ते हो, क्या करते हो, कविता करते हो या नहीं ? बिस्सू भैया उस समय कविता करने लगे थे। वे कक्षा सात के छात्र थे। एकाएक वे नेपालीजी से बोले — 'नेपालीजी आप अपना नया गीत "उस पार कहीं बिजली चमकी होगी, जो झलक उठा है मेरा भी आँगन" सुनाइए।' नेपाली जी का कण्ठ बहुत मधुर था। इसके बाद कविताओं का दौर कुछ देर तक चला। रात्रि में कवि सम्मेलन रात आठ बजे से था। कवि सम्मेलन रात १२ बजे तक चला। यहीं पहली बार 'बच्चन' जी के मुख से "मधुशाला की रुबाइयाँ" सुनने को मिली। 'निराला जी ने अपनी लम्बी कविता 'कुकुरमुत्ता' सुनाई और चित्रा सिनेमा के मालिक की ओर उँगली उठाकर पढ़ा 'तू हरामी खानदानी'।

हम लोगों का स्कूल श्री सारस्वत क्षत्रिय विद्यालय कलकत्ते से उठकर कैम्प रूप में बनारस आ गया था। संकटा जी के मन्दिर के सामने संकटा घाट पर एक पूरा मकान भाड़े पर लिया गया। बेंचों की जगह जमीन पर बैठकर पढ़ने की व्यवस्था थी। काफी छात्र एवं कुछ शिक्षक द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान बनारस आ गये थे। कैम्प स्कूल होने के कारण हम लोगों को सुविधा हो गयी थी। प्रधानाध्यापक श्री सत्य रंजन सेन को भी कलकत्ते से बुलावा लिया गया था।

बनारस में दो साल अच्छे ही गुजरे। १९४३ से विश्वयुद्ध में बदलाव आया और मित्र सेनाएँ अमेरिका के युद्ध में पूरी तरह कूद जाने से बलवती हुईं और जर्मनी, इटली और जापानी सेनाओं का प्रत्यावर्तन आरंभ हो गया। १९४४ में हम लोग कलकत्ते वापस लौट आये। युद्धावशेष के रूप में जगह-जगह कूड़ों का ढेर, घर के खिड़की के शीशों पर कागज की पट्टियों के क्रॉस, रात्रि में ब्लैक-आऊट चालू था। १९४५ में बिस्सू भैया ने मैट्रिकुलेशन की परीक्षा दी और उसमें उन्हें प्रथम श्रेणी, साथ ही संस्कृत में अस्सी प्रतिशत अंक मिले।

उन्होंने प्रेसिडेंसी कॉलेज में 'इन्टरमीडियेट साइंस' में दाखिला लिया। उन दिनों प्रेसिडेंसी कॉलेज कलकत्ते का सर्वश्रेष्ठ कॉलेज माना जाता था। साथ ही भारत के सर्वश्रेष्ठ कॉलेजों में से एक था। उन दिनों पाकिस्तान बनाने

के चक्कर में मुस्लिम लीग सरकार बंगाल में जोर-शोर से जुट गयी थी। इसी बीच हम सभी भाई राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से जुड़ गये थे। १६ अगस्त १९४६ को मुस्लिम लीग ने 'डाइरेक्ट एक्शन डे' घोषित किया। अखबारों ने इस दिन मुसलमानों के द्वारा दंगा आरम्भ करने की आशंका व्यक्त की थी। और यही हुआ। दो चार दिन हिंसा का नंगा नाच कलकत्ते वालों ने झेला। करीब एक हफ्ते बाद दिन का कर्फ्यू उठ जाने के बाद हम लोग शाखा जाने लगे। किन्तु सायं 'कर्फ्यू' जारी था। भाई साहब पर कार्यभार अधिक था। और एक साँझ वे हाथ उठाकर पुलिस से आज्ञा लेकर विडन स्ट्रीट से चित्तरंजन एवेन्यू में प्रवेश कर घर आये। इसी बीच नानी माँ ने देखा कि पुलिस कुछ लोगों को, जो हाथ ऊपर नहीं उठाकर चल रहे थे, पीट रही थी। भाई साहब के घर में घुसने के पहले ही उन्होंने भाई साहब को पीटना चालू कर दिया। साथ ही बोलीं— मुआ अगर तुझे पुलिस गोली मार देती तो मैं क्या करती?

भाई साहब बोले— 'अब तो मैं घर सकुशल पहुँच गया हूँ, तुम अन्दर तो चलो।' वे भाई साहब का हाथ पकड़ कर रोने लगी कि इसी तरह एक दिन तू मेरा 'हार्टफेल' करवा देगा। बड़ी नानी माँ को इतना गुस्सा होकर बिस्सू भैया को पीटते पहली बार देखा। १९४६ में ही छोटी नानी माँ का स्वर्गवास हो गया। उनकी और बड़ी नानी माँ दोनों की इच्छा थी कि चारों दोहते उनकी अर्थी को कन्धा दें। और हम चारों भाइयों ने उनकी अर्थी को कन्धा दिया। बाबूजी के कसरत करवाने के शौक ने हम लोगों के कन्धे मजबूत कर दिये थे। बड़े भैया ने मुखाग्नि दी एवं हम सब खास कर बिस्सू भैया उनके साथ लगे रहे।

१९४९ में छोटे भैया की शादी जम्मू में श्री देशराज डोगरा की लड़की सुश्री संतोष डोगरा से तय हुई। समस्त परिवार के साथ हम लोग जम्मू गये। उन दिनों जम्मू जाने के लिये 'परमिट' लेना पड़ता था। अमृतसर से सूरज ट्रांसपोर्ट की बस से जम्मू पहुँचने तक करीब शाम हो गयी। जम्मू में हम चारों भाई रोज प्रातः तवी स्नान करने जाते थे। वहाँ कसरत और तेल मालिश के बाद स्नान होता था। छोटे भैया की शादी होने वाली थी। अतः नानी माँ ने उनका जाना बन्द कर दिया।

फरवरी, १९४८ ई० में महात्मा गाँधी की हत्या के आरोप में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर नेहरू सरकार ने 'बैन' लगा दिया। हालाँकि जिन व्यक्तियों पर सरकार ने मुकदमा चलाया उनमें से कोई भी संघ का स्वयं सेवक नहीं था। और सरकार यह भी सिद्ध नहीं कर सकी कि संघ का इसमें हाथ है। प्रतिवाद के रूप में संघ की कार्यकारिणी ने आन्दोलन एवं कारावरण का निश्चय किया। बिस्सू भैया अरविन्द विभाग के विभागाध्यक्ष थे। मैं भी एक शाखा का पथक शिक्षक था। पहले बिस्सू भैया ने और फिर मैंने गिरफ्तारी दी। चूँकि हम बाबूजी और माँ को या घर में बिना बताये जेल गये थे, इसलिये बाबूजी और माँ हमसे मिलने जेल में नहीं आये। बड़ी नानी माँ बड़े भैया और मामी को लेकर कई बार जेल में हमसे मिलने आयीं। पहली बार बिगड़ीं, किन्तु अपने साथ दस रुपये का संदेश एवं एक डिब्बा भूना भी लायीं। डाँट और उपदेश बिस्सू भैया के हिस्से और मीठा-नमकीन विभाग के सभी स्वयंसेवकों में बराबर बाँट दिया गया। इसलिये साथ के स्वयंसेवक नानी माँ के आने का इन्तजार करते थे। हम प्रेसिडेन्सी जेल में थे और करीब दो तीन सौ स्वयंसेवक थे। अतः 'मेस' हम लोग स्वयं चलाते थे। एक बार जब हमारे विभाग की बारी थी तो भोजन समाप्त कर बिस्सू भैया ने अपने तीव्र कण्ठ से जोरदार नारा लगाया— 'जै शंकर! काँटा गड़े न कंकड़।' उसी समय 'राउण्ड' पर निकला जेलर जो हमारे 'सेल' में प्रवेश कर रहा था, चौंक कर गिरते-गिरते बचा। जेलर ने इस आशय का उपदेश भी दिया जेल में रात को इतनी जोर चिल्लाना वर्जित है। जेल में भली-भाँति कटे दो महीने भाइचारे का असली अर्थ समझा गये।

१९५२ में बड़े भैया का विवाह जम्मू में ठीक हुआ। बिस्सू भैया का एम.ए. 'फाइनल' का और मेरा 'इंटर' का इम्तहान था। अतः निश्चित यह हुआ कि बिस्सू भैया अपने बचे हुए तीन 'पेपर' देकर चले जायेंगे और मैं घर अगोरूँगा और कुछ मुकदमों की तारीखें लूँगा और अपनी परीक्षा की तैयारी करूँगा। आठवें दिन बिस्सू भैया आखिरी 'पेपर' देकर जम्मू के लिये रवाना हो गये। मेरा एक साल कारावरण के कारण नष्ट हो चुका था। अतः मन-मसोसकर मैं रह गया। जाते-जाते बिस्सू भैया बोले—'अच्छी तरह पढ़ना।'

बड़े भैया की शादी धूमधाम से सम्पन्न हो गयी। लगे हाथ बिस्सू भैया के लिये भी लड़की देखी गयी और पसंद भी कर ली गयी। जेल के बाद आकर परीक्षा नहीं देना भारी पड़ा। दो सगे बड़े भाइयों की शादी में शामिल नहीं हो सका। बिस्सू भैया की शादी में तो शामिल नहीं हो सका, बाबूजी के डर से क्योंकि उनको बताये बिना जेल जाकर एक साल खो चुका था और एक साल खोने की हिम्मत नहीं थी। बाबूजी की प्रबल इच्छा थी कि बिस्सू भैया और मैं 'लॉ' करके 'प्रैक्टिस' करें। अतः जब बिस्सू भैया की शादी दर्शना भाभी से पक्की हो गयी तो कुछ क्रोध और खीज के तहत बाबूजी को एक पत्र लिखा। पत्र में था— उन सभी के स्वास्थ्य की कामना, अपनी पढ़ाई और स्वास्थ्य की सूचना और कुछ अंश में बिस्सू भैया के प्रति व्यंग्य ! उन दिनों मैं क्लिष्ट भाषा लिखता था। कुछ अंश 'कुमार संभव' के तृतीय सर्ग के श्लोक संख्या ६१ से ६७ तक पर आधारित था। (संस्कृत मेरा विषय था) स्मृति के अनुसार वह अंश कुछ इस तरह था "लगता है, योगिराज विष्णुकान्त के सामने अपने ही यौवन भार से झुकी हुई, वसंत पुष्पाभरण धारिणी दर्शना, जब संचारिणी पल्लविनी लता की भाँति उपस्थित हुई तो योगी चंचल हो उठा, उसने दर्शना के सुन्दर मुख को देखा तो उसे सारा संसार मधुमय दिखा। अशोक कन्धे पर फूट पड़ा। बकुल कंटकित हो गया और उसने विवाह के लिये 'हाँ' कर दी।" मुझे मालूम था कि ऐसा कुछ नहीं हुआ होगा। बड़ी नानी माँ ने कहा होगा— 'मैंने लड़की देख ली है। तू देखकर क्या करेगा।' और उन्होंने कहा होगा— 'ठीक है।' पत्र मैंने पोस्ट तो कर दिया लेकिन सोच रहा था कि बाबूजी का डाँट भरा उत्तर मिलेगा। लेकिन उनका प्रशंसा भरा पत्र मिला। उन्होंने लिखा था, 'लगता है संस्कृत साहित्य पढ़ने में तुम्हारी प्रगति हो रही है। मन लगाकर अन्य विषय भी पढ़ा करो।'

१९५२/५३ के वर्ष में हम लोगों के घर में तीन विवाह हुए। बड़े भैया और बिस्सू भैया का जम्मू में और हम लोगों की बहन मीरा का कलकत्ते में। मीरा के विवाह के अवसर पर मेरी परीक्षा चल रही थी। दो पेपर बाकी थे। अतः मीरा के विवाह में भी मेरा योगदान कम ही रहा। बड़े भैया और बिस्सू भैया ही विवाह में खट रहे थे। लेकिन इस विवाह में एक अविस्मरणीय घटना घटी। परम पूजनीय गुरुजी (माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर) सरसंघ-चालक जिस दिन लग्न था उसी दिन कलकत्ता पधारे। निवास में उन्होंने पूछा कि कान्त बन्धु नहीं दिख रहे हैं तो उन्हें पता चला कि उनकी बहन की शादी है। वे बोले— 'अरे मुझे नहीं बुलाया?' फिर बोले— 'क्या हुआ? लड़की की शादी है, चलो ! चलकर आशीर्वाद दे आते हैं।' उनके विवाह स्थल पर पधारते ही हम लोग तो आनन्द के अतिरेक से अभिभूत हो गये और बाबूजी और मीरा के ससुर श्री काली शंकर जी भी आनन्द से गद्‌गद् हो गये। यह गुरुजी ऐसे महाप्राण व्यक्ति ही कर सकते हैं और उनका आशीर्वाद मीरा को काफी फला। भरा-पूरा परिवार, एक लड़की, तीन लड़के और धन-सम्पदा से परिपूर्ण घर।

बिस्सू भैया जितने निकट रहे, उससे अधिक दर्शना भाभी रहीं। विवाह के एक वर्ष बाद एक दिन वे मुझसे बोलीं— 'तुम्हारे तीन भाभियाँ हैं लेकिन मेरा ले-देकर एक ही देवर—वह तुम हो, अतः जो मैं कहूँगी वह मानना

पड़ेगा।' मैंने मजाक किया कि चाहे उसमें बिस्सू भैया की ही बात कटती हो। वे बोलीं— पहले तो ऐसा मैं करूँगी ही नहीं और करूँ तो तुम्हें मेरा पक्ष लेना पड़ेगा।' मैंने कहा— 'ठीक है, तुम भी मेरी बात मानोगी।' और यह समझौता अन्त तक निभाने की चेष्टा मैंने की। शशांक, विकास को यदि मैं कभी डाँटता या किसी गलती के लिये मारता तो वे उन लोगों को उठा ले जातीं और मुझे उनकी और बिस्सू भैया की संयुक्त डाँट खानी पड़ती।

भारती के पैदा होने के समय भी मैंने काफी भाग दौड़ की। डाक्टर और दवा आदि लाने में। और यह स्वाभाविक था। घर में हम चार भाइयों में पहला बच्चा होने जा रहा था। वैसे भारती की देख-रेख सभी ने की, किन्तु तोषी भाभी इसमें अग्रणी थीं। मंजू के आ जाने के बाद वह अपनी माँ के बाद अपनी चाची से अधिक हिल गयी। शायद शशांक जल्दी हो गया था और उसकी जिज्ञासा उसके प्रति अधिक थी।

१९५४/५५ में पहले माँ बीमार पड़ीं। माँ कुछ स्वस्थ हुईं तो बाबूजी बीमार पड़े। बाबूजी 'एलोपैथिक' इलाज की जगह वैद्यक चिकित्सा अधिक पसन्द करते थे। खासकर वे 'इंजेक्शन' लेना नापसन्द करते थे। वैद्यक इलाज में उनकी बीमारी बिगड़ने लगी। और फिर माँ, बड़े भैया और बिस्सू भैया के कहने पर उन्होंने डॉ० नलिनी रंजन सेन गुप्त को दिखाना स्वीकार किया। डॉ० सेन गुप्त कलकत्ते के ही नहीं भारत के प्रमुख चिकित्सकों में माने जाते थे एवं उनके संबंध रामराज्य परिषद के चलते बाबूजी से बहुत अच्छे थे। वे बाबूजी को अपना छोटा भाई मानते थे तथा माँ को अनुज-वधू अथवा लड़की का दर्जा देते थे। बाबूजी की परीक्षा करने के बाद उन्होंने बताया कि इलाज गलत हो रहा था। उन्होंने रक्त-परीक्षण और कुछ अन्य परीक्षण लिख दिया और एक 'इंजेक्शन' भी लगाया। जब भी रक्त परीक्षण के लिये 'कम्पाउंडर' आता तो वे बोलते,— 'विष्णु ! लो खटमल फिर आ गया।' सब भाइयों में बाबूजी का विश्वास बिस्सू भैया पर सबसे अधिक था। सब परीक्षणों से पता लगा कि उन्हें जलोदर हो गया है। पेट में जल की मात्रा जब बहुत अधिक हो गयी तो जल 'ऑपरेशन' करके निकाल दिया गया। माँ तो जी-जान से सेवा में लगी रहीं हम चारों भाइयों ने भी सेवा करने की बारी बाँध ली। इसके बाद बाबूजी के फेफड़ों में पानी आ गया। वह भी निकलवाया गया लेकिन 'हमरे मन कछु और है कर्त्ता के मन और।' हमारी पूरी कोशिश नाकाम रही और २७ अक्टूबर, १९५५ को बाबूजी का स्वर्गवास हो गया। हम सभी ने खासकर माँ ने इस आघात को बहुत धैर्यपूर्वक सहा। और कर ही क्या सकते थे ?.....

१९५५ में ही मैं कलकत्ता विश्वविद्यालय से स्नातक हो चुका था तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय में हिन्दी में एम. ए. तथा लॉ कॉलेज में प्रवेश ले चुका था। पिताजी के स्वर्गवास के बाद नागपुर में भारतीय हिन्दी परिषद के वार्षिक अधिवेशन में बिस्सू भैया के साथ मैं भी गया। वहाँ हिन्दी के दिग्गज विद्वानों—राहुल सांकृत्यायन, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, किशोरी दास वाजपेयी, डॉ० नन्ददुलारे वाजपेयी, आदि से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। कुछ उभरते हुये नाम— अमृतराय, डॉ० रघुवंश, शिवप्रसाद सिंह। कलकत्ते से हम लोगों के साथ सेण्ट जेवियर कॉलेज के प्रो० रामसेवक पाण्डेय और केशव उपाध्याय जी भी थे। पाण्डेय जी और उपाध्याय जी मेरी तरह व्यावहारिकता में अधिक विश्वास करते थे, अतः हम लोगों ने सबसे पहले एक अच्छा कमरा दखल किया और उसमें सामान रखा। हिन्दी साहित्य परिषद के 'वार्षिक अधिवेशन' में आने का मेरा यह पहला और आखिरी अनुभव था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पिताजी के मित्रों में से थे और एक 'सत्र' के सभापति थे। उन्होंने हम लोगों को देखकर शोक-प्रस्तावों में बाबूजी का नाम शामिल कर लिया। सत्र में कई सारगर्भित व्याख्यान हुए।

१९६० में नानी माँ — माँ और बिस्सू भैया को लेकर मेरे विवाह हेतु लड़की खोजने जम्मू चली गयीं। मैंने शर्त लगा दी थी कि लड़की बी.ए. पास होनी चाहिये और लम्बी होनी चाहिये। यह नहीं कि दर्शना भाभी की तरह ५ फुट की हो। बड़ी नानी माँ बड़ी जोर नाराज हुई। बोली— 'अरे दर्शना जैसी लड़की आ जायेगी, तो तेरा भाग्य खुल जायेगा।'

वे बिस्सू भैया की उन्नति को दर्शना भाभी के भाग्य से जोड़कर देखती थीं। मैं निश्चिन्त था कि पहले 'ग्रेजुएट' और फिर लम्बी लड़की जम्मू में उस समय मिलने की संभावना कम थी और अगर मिल भी जाती तो माँ बेटी की सौन्दर्य कसौटी पर उतरना मुश्किल था। मेरी एक शर्त और थी कि लड़की देखकर ही हाँ करूँगा। असल में ५०० रुपये से कम वेतन पर मैं शादी नहीं करना चाहता था और अन्त में यह हुआ कि जहाँ लड़की सुन्दर होती वह ग्रेजुएट नहीं होती और न लम्बी होती। अतः अन्त में ये तीनों व्यक्ति विफल मनोरथ लौटकर चले आये। बड़ी नानी माँ दुःखी होकर बोलीं— 'लगता है तेरा विवाह देखना मेरे भाग्य में नहीं है।' मैं बोला— 'अभी कश्मीर घूमकर आ रही हो। एकदम गुलाबी रंग हो गया है। अभी तुम सौ साल जिन्दा रहोगी !' वे बोलीं— 'दो साल का तो पता नहीं, सौ साल की बात करता है। देख, अभी शादी कर ले, नहीं तो पछतायेगा।'

किसे पता था कि उनकी जिह्वा पर सरस्वती बोल रही थीं। इसके बाद वे करीब सवा साल जिन्दा रहीं। हम लोगों को पता ही नहीं चला, जिसे हम लोग बवासीर समझ रहे थे वह 'कैंसर' था। दूसरी 'स्टेज' पार हो चुकी थी।

१९६१ के शायद सितम्बर/अक्टूबर में बिस्सू भैया कलकत्ता विश्वविद्यालय के किसी 'सेमिनार' आदि के सिलसिले में दिल्ली गये थे। वहाँ से हरिद्वार, मसूरी घूमते हुए करीब एक महीने बाद कलकत्ता लौटे। बड़े भैया ने उनको (नानी माँ) 'बायप्सी' करवा दी थी और 'कैंसर' प्रमाणित हो चुका था। वे 'बिस्सू भैया के आने पर इलाज करवाऊँगी' का हठ ले बैठी थीं और जब बिस्सू भैया आये तो काफी देर हो चुकी थी। 'गैलोपिंग कैंसर' आखिरी दौर पर था। हम लोगों ने 'ऑपरेशन' करवाने का विचार छोड़ दिया।

अपने आखिरी दिनों में बड़ी नानी माँ ने सूर्य के उत्तरायण में प्रवेश करने की प्रतीक्षा करते हुए जिस तरह अपनी बीमारी को झेला, अपनी पीड़ा को सहा वह मेरे लिए आखिरी वक्त का संबल रहेगी। यदि मैं यह जानता कि कश्मीर से लौटने के बाद वे केवल साल-सवा साल जिन्दा रहेंगी तो मैं अपनी सभी शर्तें छोड़ उनकी और माँ द्वारा पसन्द की हुई लड़की से शादी कर लेता, लेकिन प्रारब्ध प्रबल होता है।

बड़ी नानी माँ के जीवन के आखिरी दो दिन हम सब उनके पास बैठकर भजन कीर्तन करते रहे। आखिरी समय मैं उनके पास बैठा हुआ था। वे निरन्तर अपने ऊपर जलते हुये बल्ब को देख रही थीं। वे हमेशा ज्योति का ध्यान करती थीं और आखिरी वक्त ज्योति का ही ध्यान करते-करते ब्राह्ममुहूर्त में ज्योति में ही समा गयीं !

१९६३ के मार्च में मेरी शादी हो गयी ! परिवार में दो बुजुर्गों के स्वर्गवास के बाद पहली शादी थी। पूरे परिवार ने विवाह में हार्दिक प्रसन्नता के साथ योगदान दिया। अपनी बात नहीं करूँगा। दो पुत्रों और एक पुत्री के साथ—कभी नौकरी की, कभी नौकरी छोड़ी, कभी नौकरी लेकर कलकत्ते से बाहर गया और क्या-क्या नहीं किया! अपने लिये बस अपनी एक चतुष्पदी दे रहा हूँ—

चित्त में आवारगी मेरे बहुत है / कर रहा था कुछ, कर रहा हूँ कुछ।
योजना कुछ और थी, करता रहा कुछ और / चित्त में आवारगी, आवारगी का दौर !

बिस्सू भैया 'अनामिका' के सभापति चुन लिये गये। वे अपनी समन्वयवादी नीति से, अपनी सज्जनता एवं

शील से 'अनामिका' का कार्य सुचारु रूप से चला रहे थे। उनके सभापतित्व में 'अनामिका' का दिन-दूना रात चौगुना विकास हुआ। इन्हीं के सभापतित्व में 'अनामिका' ने पहला नाट्य महोत्सव आयोजित किया।

१९७५ में अन्तरिम आपात्काल की घोषणा हुई। बिस्सू भैया इतने क्षुब्ध हुए कि वे जनसंघ की सभाओं में आपात्काल के विरुद्ध बोलने लगे। बड़े भैया पहले ही जनसंघ से श्यामाबाबू के समय से जुड़े हुए थे एवं वे भी आपात् विरोधी सभाओं में भाषण दे रहे थे। इन्हीं दिनों भारती की शादी तय हो चुकी थी। दोनों बड़े भाइयों की आपात् विरोधी गतिविधि के तहत उनके गिरफ्तार होने की संभावना को देखते हुये माँ ने मुझे आपात्काल के विरोध के लिये मना कर दिया। बोलीं कि घर का काम देखने के लिये एक लड़के का रहना जरूरी है। अस्तु—भगवती की कृपा से भारती की शादी ठीक-ठाक हो गयी। शादी के दिन दोनों बड़े भाई शादी के मण्डप में बैठ गये। अतिथियों को संभालने की जिम्मेदारी मेरे सिर पड़ी। करीब आठ नौ सौ व्यक्ति आमंत्रित थे। जिनमें अधिकतर बिस्सू भैया के 'अनामिका', विश्वविद्यालय और अन्य परिचित मित्र थे। अपने और पारिवारिक मित्रों को लेकर जितना बना, स्थिति को संभालने की चेष्टा की। भगवती की कृपा से सब ठीक-ठाक निपट गया। 'अन्त भला सो सब भला।'

१९७७ में बिस्सू भैया जनता पार्टी के टिकट पर कलकत्ते के जोड़ासाँकू क्षेत्र से विधायक चुने गये। उन्होंने विधान सभा में अपना पहला भाषण बंगला में बंगाली कवियों के उद्धरण के साथ दिया। दूसरे दिन 'आनन्द बाजार पत्रिका' के मुखपृष्ठ पर छपा 'प्रो० शास्त्री विशुद्ध बाँगलाय वक्तृता दिये पूरो सदन के चमत्कृत करे दिलेन'। इसके बाद भी विधान सभा में उन्होंने अपने सारे भाषण बँगला भाषा में ही दिये और इसलिये वे काफी सराहे गये। ज्योतिबाबू भी मतभेद रहते हुए भी उनकी बातों को मान्यता देते थे। एक बार एक विधेयक सदन में बिना बँगला अनुवाद के लाया गया। भाई साहब ने अंगरेजी में रक्खे गये प्रस्ताव का विरोध किया और जब तक बँगला का अनुवाद नहीं आया प्रस्ताव को स्थगित करने की बात ज्योतिबाबू मान गये। बिस्सू भैया का राजनीति में आना उनके साहित्यिक मित्रों और शुभ-चिन्तकों को तो अच्छा नहीं लगा, कुछ राजनीतिज्ञों को भी अच्छा नहीं लगा। साहित्यिक मित्रों को इसलिये कि राजनीति में गन्दगी है और उनका लेखन रुक जायेगा तथा राजनीतिज्ञों को इसलिये कि ऐसे लोग भ्रष्टाचार हटाने की चेष्टा करेंगे और उनका हक मारा जायेगा। अंग्रेजी में एक कहावत है 'योर गेन इज़ माई लॉस' लेकिन कुछ भले लोग यह चाहते थे कि साफ छवि के पढ़े-लिखे लोग राजनीति में जायें जिससे राजनीति में आयी हुयी गन्दगी कम हो और देश का कुछ भला हो किन्तु भला राजनीतिज्ञ सफल नहीं होता है, सफल होने के चालू दाँवपेंच नहीं खेल सकता है और बिस्सू भैया १९८२ के चुनाव में हार गये। १९८२ का साल बिस्सू भैया के लिये मिश्रित फल देने वाला था। वे चुनाव हारे लेकिन प्रो० हरिपद भारती की मृत्यु के बाद अटल जी द्वारा पश्चिम बंगाल भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष नियुक्त किये गये। इसी समय वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के भी अध्यक्ष रहे। काम का बोझ उन पर अत्यधिक बढ़ गया। वे अक्सर बाहर का दौरा करते रहते थे। दर्शना भाभी को चीनी की बीमारी हो गयी थी और यह उनकी पैतृक बीमारी थी। फिर भी वे मीठा खाना नहीं छोड़ती थीं। मैं उन्हें अक्सर टोक देता था। वे रुष्ट होकर बोलतीं,— 'अरे ! एक ही देवर हो यह तो नहीं कि भाभी को मीठा लेकर खिलाओ। खाते हुये भी टोकते हो।' मैं मजाक करता कि एक ही देवर हूँ इसलिये इस बीमारी में नीम और करेला लाकर खिलाऊँगा। माँ बोलतीं कि दर्शना सिरी से नहीं जीत सकेगी वह नीम चढ़ा करेला है। भाभी हँस देतीं लेकिन उन्हें कुछ बुरा भी लगता। मध्य १९८७ में माँ का स्वास्थ्य अच्छा नहीं चल रहा था। उन्हें उच्च रक्तचाप था। एक बार वे स्नानगृह में गिर पड़ीं और उसके बाद वे बिस्तर से लग गयीं।

हम लोगों के घर में दीपावली के बाद अन्नकूट का त्यौहार बहुत श्रद्धा से मनाया जाता है। हमारे घर में एक बड़ा देव परिवार है। एक जोड़ी प्रस्तर की और दो जोड़ी धातु की राधा कृष्ण की हैं, इसमें एक जोड़ी धातु की मूर्ति करीब ४५० साल प्राचीन है। अन्नकूट पर ठाकुर जी को छप्पन प्रकार के भोज्य पदार्थों का भोग लगाया जाता था। माँ के बीमार पड़ जाने पर पकवान बनाने की जिम्मेदारी मामी जी, भाभियों एवं मंजू पर पड़ी। इसी के साथ माँ की सेवा-सुश्रूषा का भार। मामीजी बोलीं— 'जब तक पकवान बनता है सिरी बीबी जी (माँ) के पास बैठेगा।' माँ बोलीं— 'और मेरा सिर खायेगा।' भगवान कृष्ण दर्शना भाभी के आराध्य थे और वे इन अनुष्ठानों में बड़ी भक्ति और श्रद्धा के साथ लगी रहती थीं। अन्नकूट वाले दिन अच्छी तरह से ठाकुर जी के सामने सब व्यंजन सजाके रखे गये। खीर उस दिन विशेष तरह से बनाई जाती है। जो अक्सर मामी जी बनाती थीं। किन्तु उस बार दर्शना भाभी बोलीं— 'मामी जी आज मैं बनाऊँगी।' षोडशोपचार पूजन के पश्चात् प्रसाद बाँटा गया। खीर अच्छी बनी थी। मैंने दर्शना भाभी से कहा— 'कम खाना।' परन्तु वे अधिक खा गयीं। अपराह्न में उनके सीने में दर्द हुआ। बिस्सू भैया ने अपने मित्र डॉ० सुजित धर को फोन किया तो वे बोले, 'उन्हें लेकर चैम्बर में चले आइये।' वहाँ जाने पर मालूम पड़ा कि उन्हें दिल का दौरा पड़ा है। उन्हें तत्काल पी.जी. हॉस्पिटल के इंटेंसिव केयर यूनिट में भर्ती कराना पड़ा। तीन-चार दिन वे इंटेंसिव केयर यूनिट में रहीं। १२ दिन बाद वे घर आ गयीं लेकिन फिर उनसे मैं लड़ नहीं सका। भाभी जी की सेवा सुश्रूषा ठीक ही हो रही थी। बिस्सू भैया, मंजु और मैं सभी लगे हुए थे। खासकर बिस्सू भैया। लेकिन १९८८ की २७ मई की वह मनहूस सुबह मुझे कभी नहीं भूलेगी। करीब पौने छः बजे प्रातः बिस्सू भैया ने मेरे कमरे का दरवाजा खटखटाया। खोला तो बोले— 'जरा जल्दी से डॉ० घोषाल को बुला लाओ। तुम्हारी भाभी चैतन्य खो बैठी हैं। डॉ० घोषाल दो मकान बाद ही रहते हैं। मैं गंजी पहने ही उन्हें बुलाने चला गया। और आने के बाद डाक्टर साहब ने जितनी चेष्टा हो सकती थी सब की लेकिन सब वृथा। कार्डियेक अरेस्ट हो चुका था। बिस्सू भैया बोले सब जगह टेलीफोन कर दो। अन्तिम संस्कार की व्यवस्था करो। भारती बोली मैं श्मशान जाऊँगी। हमारे यहाँ औरतें नहीं जाती हैं लेकिन मैंने कहा कि बाद में गाड़ी में आ जाना। श्मशान में काफी लोग जुटे। कुछ लोगों को सूचना नहीं दी जा सकी थी। दर्शना भाभी की इच्छानुसार मुखाग्नि बिस्सू भैया ने दी। डोली में लाकर कन्धे पर ले जाने की बात समझ में आयी। डोली के समय तो मैं नहीं था किन्तु कन्धा अन्त तक दिया। सायं लौट के आये तो मामी जी रोते हुए बोलीं दो बूढ़ी सासों के रहते जवान बहू को उठा लिया। हे भगवान यह क्या किया। जिस धैर्य के साथ बिस्सू भैया ने यह आघात सहा उसका साक्षी मैं हूँ। 'बच्चन' जी की चार पंक्तियाँ कुछ परिवर्तन के साथ दे रहा हूँ— 'है इनमें देवत्व जहाँ तक / झुक जायेगा विश्व वहाँ तक।

दूर गये पर इनकी / दुर्बलताओं को दुलराने वाले / बीते दिन कब आने वाले।'

परिवार, पार्टी, शुभचिन्तक सभी मनुष्य से देवत्व, महानता, दृढ़ता की अपेक्षा रखते हैं लेकिन दुर्बलता तो माँ, भाभी, या पत्नी ही सह सकती है, दुलरा सकती है।

दर्शना भाभी के न रहने का आघात बिस्सू भैया, भारती और मुझे औरों से अधिक लगा। हम लोगों ने इसे अपनी अपनी तरह से सह भी लिया, किन्तु माँ और मामी जी इस आघात से टूट सी गयीं।

१९८६ में मीरा का स्वर्गवास हो गया। यह माँ और मामी जी के लिये दुःख के आघातों की आखिरी अति थी। पहले पुत्रवधू और फिर पुत्री। मामी जी बोलीं कि मैं लखनऊ जाऊँगी। परिवार के सभी बड़े सदस्यों ने कहा श्रीकान्त तुम्हें ले जायेगा। मैं मामी जी को लेकर लखनऊ गया। वहाँ भैया, डॉ० जगदीश शर्मा तथा उनके परिवार के अन्य सदस्यों को धैर्य बँधाया कि मीरा अपने पुत्र, पुत्री तथा पौत्रों में जीवित है और क्रिया के बाद हम लोग कलकत्ते वापस आ गये।

बिस्सू भैया अक्सर भा.ज.पा. की राजनीतिक सभाओं में तथा साहित्यिक और सांस्कृतिक सभाओं मे व्याख्यान देने जाते रहते थे। इन व्याख्यानों में मिली मालाएँ वे माँ को लाकर दे देते थे। माँ उनसे कहती थीं कि विष्णु तू बारह आने की मालाओं के लिये इधर-उधर घूमता रहता है। एक दिन लौटकर देखेगा कि मैं मरी पड़ी हूँ। मामी जी तथा अन्य परिवार जन उन्हें मना करते कि कैसी बात कर रही हो। पर किसे पता था कि उनकी जिह्वा पर सरस्वती बोल रही थीं।

१९९० में बिस्सू भैया चुनाव में पार्टी के प्रचार के लिये दौरा कर रहे थे। इसी समय माँ की हालत गड़बड़ा गयी। मुझे ऐसा लगता है कि शायद अपनी मृत्यु से आत्मीय स्वजनों की मृत्यु अधिक पीड़ादायक होती है और वह भी अगर अपनी पुत्रवधू और पुत्री की हो। घटना एक दिन की होती है लेकिन भूतकाल की याद में जी रहे वृद्ध इसे मुश्किल से ही सह पाते हैं। उनकी जिजीविषा समाप्त हो जाती है। माँ के बारे में यही हुआ। कोई भी उपचार उन्हें नहीं लगा और हम लोगों के सभी प्रयासों को व्यर्थ करते हुये वे बैकुण्ठवास कर गयीं। बिस्सू भैया को पार्टी द्वारा सूचित कर दिया गया और वे माँ की मृत्यु के १० घण्टे बाद अन्तिम संस्कार में सम्मिलित होने कलकत्ता पहुँचे। अन्तिम संस्कार के लिये समाज के विभिन्न वर्गों के लोग उपस्थित थे।

माँ के जाने के छः महीने बाद ही मामीजी भी बीमार पड़ीं और हमारे द्वारा करवाये सभी इलाजों को नकारती हुई वे गोलोक को प्रस्थान कर गयीं। माँ के जाने के बाद ऐसा लगा कि जीने का कोई भी उद्देश्य उनके पास नहीं बचा है। उन्होंने जिस कर्त्तव्यनिष्ठा के साथ परिवार एवं ठाकुर जी की सेवा में अपना जीवन होम कर दिया था, वह अपने में एक दृष्टान्त है।

१९५२ बिस्सू भैया उत्तर प्रदेश से राज्य सभा के सांसद चुन लिये गये। अगर उस समय दर्शना भाभी, माँ, मामी और मीरा होतीं तो उन लोगों को आन्तरिक प्रसन्नता होती। खासकर दर्शना भाभी और माँ को। 'बाढ़े पूत पिता के धर्मों' कहावत है लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि यश पिता का और धर्म माता का पुत्र को आगे बढ़ाता है।

१९९४ में मेरे बड़े पुत्र शशांक शेखर शास्त्री का विवाह जम्मू में हुआ। परिवार में ५ लड़कियों के विवाह और चार मौतों के पश्चात् लड़के का विवाह हो रहा था। इसमें सबसे स्मरणीय घटना यह घटी कि सर संघचालक राजेन्द्रसिंह जी (रज्जू भैया) उस दिन जम्मू पधारे। बिस्सू भैया ने उन्हें आमंत्रित किया और वे वर-वधू को आशीर्वाद देने पधारे। इतिहास अपने को दोहरा रहा था। मीरा के समय परमपूजनीय गुरुजी और शशांक के समय रज्जू भैया। समय की धारा का काम आगे बढ़ना है। पीछे मुड़कर देखने में विलोम जाना पड़ता है और बहुत कुछ छोड़ना पड़ता है। और छोड़ना आवश्यक है अन्यथा संस्मरण की जगह जीवनी लिखनी पड़ेगी।

सन् २००० के नवम्बर के मास में मेरे छोटे पुत्र विकास की शादी जम्मू में ठीक हुई। जनवासा जम्मू विश्वविद्यालय के गेस्ट हाउस में था। मैं शशांक तथा उसके ससुर के साथ स्थान का निरीक्षण करने गया था। निमंत्रण पत्र पर वहीं का पता था। वहाँ हमसे कहा गया कि गृह मंत्री लालकृष्ण आडवाणी श्री विष्णुकान्त शास्त्री से बात करना चाहते हैं। भाई साहब दिल्ली से सीधे आने वाले थे और अभी पहुँचे नहीं थे। बात करने पर पता चला कि भाई साहब हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल नियुक्त कर दिये गये हैं। मैंने उनकी ससुराल का और अपनी ससुराल का फोन नम्बर दे दिया। जम्मू वाले बोले देखो लड़की कितनी भाग्यशाली है कि शादी ठीक होते ही ताया ससुर राज्यपाल बन गये। बड़ी नानी माँ बिस्सू भैया की उन्नति दर्शना भाभी के भाग्य से जोड़ती थीं और अब जम्मू वाले उनके राज्यपाल पद को कविता के परिवार से जुड़ने से। जैसे व्यक्ति का अपना अध्यवसाय, अपनी मेधा, अपनी मेहनत और अपने इष्ट की अर्चना से अर्जित पुण्य कोई मायने ही नहीं रखते हों और न उसका अपना संचित

प्रारब्ध। शादी खूब धूमधाम से संपन्न हुई। निश्चित किया गया कि कलकत्ते लौटकर विवाह के सज्जन भोज में शामिल होकर बिस्सू भैया राज्यपाल पद के शपथ-ग्रहण समारोह के लिये शिमला जायेंगे।

कलकत्ते से शपथ-ग्रहण समारोह के लिये बिस्सू भैया, बड़े भैया, बड़ी भाभी, मैं, कृष्णस्वरूप दीक्षित और दुर्गा प्रसाद नाथानी राजधानी एक्सप्रेस से दिल्ली के लिये चले। दिल्ली में 'हिमाचल सदन' में रुके और दूसरे दिन प्रातः हेलीकॉप्टर से शिमला के लिये रवाना हो गये। यह मेरी प्रथम हेलीकॉप्टर यात्रा थी। दिल्ली नगर कब पार हो गया पता ही नहीं चला। गाँव, मेड़ों में बँटे हुये खेत, धरती के सीमांत पर रजतवर्णी चमकती हुई नदी की पतली सी धारा, उसके बालुकामय पुलिनों के बाद निकलते हुए वन। मुझे रघुवंश के त्रयोदश सर्ग का पन्द्रहवाँ श्लोक याद पड़ा।

"दूरादयश्चकनिभस्य तन्वी, तमालतालीवनराजिनीला।
आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्धारानिबद्धेव कलंकरेखा।"

भगवान श्रीराम लंका विजय के बाद पुष्पक विमान से अयोध्या लौटते समय सीता से कह रहे हैं। देखो! दूर होने से पहिये के हाल के समान बहुत पतला और तमाल और ताड़वनों के कारण नीला दिखने वाला समुद्रतट ऐसा जान पड़ रहा है कि चक्र की धार पर मुर्चा लग गया हो। पार्वत्य प्रदेश चालू हो गया था। पर्वतों पर पड़ती हमारे हेलीकॉप्टर की छाया ऐसी लग रही थी जैसे कोई बड़ा जंगली जानवर पहाड़ियों पर उछलता हुआ चल रहा हो। हेलीकॉप्टर शिमला मैदान में उतर गया। हम सभी गाड़ियों से शिमला राजभवन के लिये रवाना हो गये। बिस्सू भैया के मँझले साले वीरेन्द्र शर्मा का परिवार एक दिन आगे वहाँ पहुँचा चुका था। बिस्सू भैया के स्वागत के लिये मुख्यमंत्री प्रेम कुमार धूमल तथा उनके मंत्रिमंडल के सदस्य उपस्थित थे। शपथ-ग्रहण समारोह के बाद बिस्सू भैया जाकू पर्वत पर स्थित हनुमान जी के मंदिर में पूजा करने के लिये गये। लौटकर मध्याह्न भोजन।

बारह दिन शिमला रहकर बिस्सू भैया के साथ कलकत्ते लौटा। लौटने की राह में ज्वाला जी, काँगड़े की वज्रेश्वरी और चिन्तपूर्णी देवियों के दर्शन किये। शक्ति मेरी इष्ट हैं। वहाँ वज्रेश्वरी मंदिर छोड़ अन्य सभी जगह पुजारियों के कर्मकाण्ड की अज्ञता एवं उच्चारण की अशुद्धि की ओर हम लोगों का ध्यान गया तथा उसमें सुधार के कई सुझाव बिस्सू भैया ने दिये।

सन् २००० के नवम्बर मास में बिस्सू भैया एवं सूरजभान जी के शिमला एवं उत्तर प्रदेश के राज्यपाल पदों की अदला-बदली के आदेश केन्द्र सरकार से आ गये। उत्तर प्रदेश के राज्यपाल पद के शपथ-ग्रहण समारोह में राजेश उपाध्याय (बड़े भैया का छोटा जामाता) बिस्सू भैया के साथ दिल्ली से आया। कलकत्ते से जुगलकिशोर जैथलिया, कृष्णस्वरूप दीक्षित, प्रेमशंकर त्रिपाठी, महावीर बजाज, अरुण मल्लावत, इलाहाबाद से जया और बड़ी भाभी आयीं। शपथ-ग्रहण समारोह २४ नवम्बर २००० ई० को धूमधाम से गाँधी सभागार में सम्पन्न हुआ।

बिस्सू भैया के विषय में उनकी उत्तर प्रदेश के राज्यपाल की उपलब्धि के बारे में मैं कुछ भी लिखना आवश्यक नहीं समझता। उनके इस कथन में ही उनकी सफलता का सार आ जाता है कि सफलता का कर्तृत्व रामजी का और असफलता का दोष उनका। संस्मरण लम्बा होता जा रहा है। और लखनऊ राजभवन में एक साल के भीतर अपने दो बड़े भाइयों की मौत और त्रिवेणी में उनकी अस्थियों का विसर्जन करने के बाद अब और कुछ न लिखते हुए अपनी लेखनी को विश्राम दे रहा हूँ। 'ईशावास्योपनिषद' के दूसरे मंत्र में की गयी प्रार्थना के साथ कि बिस्सू भैया सतत् कार्यरत रहते हुए शतायु हों—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।। ●

विष्णुकान्त शास्त्री

पास रहते हुए भी दूर : मेरे पिता पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री

पास दिखे, पर दूर रहे जो, मैं वह क्षितिज नाम का देश।
ध्वस्त हुई, जो ध्वनि में सोयी, मैं उन संस्कृतियों का शेष।।

अपने पिता पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री के बारे में जब मैं सोचता हूँ तो मुझे उनकी ही लिखी ये दो पंक्तियाँ याद आ जाती हैं। हम चारों भाई उनको बाबूजी कहा करते थे। पिताजी की तुलना में बाबूजी अधिक आत्मीयतापूर्ण सम्बोधन है किन्तु इस निकटता-सूचक सम्बोधन के बावजूद हम लोगों को वे मर्यादा की एक निश्चित दूरी पर रखते थे। और क्या केवल हम लोगों को— जहाँ तक मुझे याद है उनके हजारों परिचितों में कोई ऐसा अन्तरंग नहीं था जो उनसे धौलधप्पा या तू-तड़ाक कर सकता था। वे सचमुच पास दिखने पर भी दूर रहनेवाले थे। मर्यादा-बोध के साथ-साथ आत्म-निर्भरता का भी द्योतक है यह तथ्य। किसी दूसरे के साहचर्य के बिना मेरा जीवन अधूरा या अर्थहीन हो जायेगा, ऐसा वे नहीं मानते थे। औरों के साथ सहयोग सामाजिक जीवन के लिए अनिवार्य है, इसे वे स्वीकारते थे और साहित्यिक, धार्मिक या राजनीतिक क्षेत्रों में समानधर्माओं के साथ सद्भावपूर्ण व्यवहार भी करते थे। किन्तु उसकी पहुँच वैयक्तिक जीवन में भी हो, इसे वे आवश्यक नहीं मानते थे। फलतः वे सबके बीच प्रायः अकेले रहा करते थे। घर में भी वे अपना कमरा बन्द रखते थे और जब जिससे बात करना चाहते थे तब उसे बुलवा भेजते थे। उनके दबंग व्यक्तित्व के कारण बचपन में हम लोग उनसे डरा करते थे और जब वे घर से बाहर जाते या भीतर आते तब हम लोग छिप जाया करते थे। उनके प्रति हम लोगों के मन में भय-मिश्रित सम्मान था और हममें से कोई यदि नटखटपन करता या किसी अनुचित बात की जिद करता तो बाबूजी से शिकायत करने की धमकी उसे सही रास्ते पर लाने में प्रायः कारगर हो जाती थी। जैसे परिवार में वैसे ही समाज में भी उनकी धाक थी। उनका वैदुष्य, भव्य रूपाकार, संस्कारी व्यक्तित्व सामनेवाले को अभिभूत कर देता था।

घुँघराले बाल,उज्ज्वल गौरवपूर्ण प्रशस्त ललाट पर शोभित श्री-तिलक, सुरमा लगी प्रभावशाली आँखें, तीखी नाक, भरा चेहरा, छोटी छँटी हुई मूँछ, दोहरा बदन, चौड़ा पुष्ट वक्षस्थल, रेशमी कुर्ते या लम्बे कोट पर दुपट्टा, दोनों हाथों की उँगलियों में अँगूठियाँ, स्वच्छ धोती, बिना फीते का बढ़िया जूता, हाथ में छड़ी—आभिजात्य, सुरुचि और सम्पन्नता का आभास देनेवाली इस दिव्य आकृति के प्रति प्रथम दर्शन में ही समादर उत्पन्न होना स्वाभाविक था। यह समादर उन्हें जहाँ एक तरफ ऊँचाई देता था, वहीं दूसरी तरफ औरों से अलग भी करता था। इस अलगाव का एक कारण उद्धृत पद की दूसरी पंक्ति में निहित है।

बाबूजी वर्तमान में रहते हुए भी सनातन संस्कृति के उत्तराधिकार के प्रति अतिशय निष्ठावान् थे। यहाँ यह भी स्पष्ट कर दूँ कि उनकी दृष्टि में सनातन का अर्थ मुख्यतः पुरातन मूल्यों का संरक्षण ही था। सन् १९२०-२१ के आन्दोलन में अंश ग्रहण करने के पीछे जो उनकी प्रेरणा थी वह यही थी कि विदेशी शासन के दुष्प्रभाव ने भारतीय

चेतना को कुंठित कर रखा है एवं पराधीनता के पाश से मुक्त हो कर हम अपनी प्राचीन संस्कृति के अनुरूप अपने जीवन को ढाल सकेंगे। 'मेरा तपोवन' शीर्षक अपनी कविता में उन्होंने अपनी आकांक्षा प्रकट करते हुए लिखा है—

मेरे मन का चिर आकांक्षित मुदमय, शान्त तपोवन हो।
निर्मल, सुन्दर, सजल, सफल नित सहृदय बुध जन जीवन हो।।
प्रवचन औ' स्वाध्याय, यज्ञ, व्रत, जिसमें होते हों अविरल।
'सेवा' जगे, जहाँ पर सोये, भीति, द्वेष, ईर्ष्या प्रतिपल।।
'ओं तत्सत' की ध्वनि मंजुल सुखदायक हो नित्य जहाँ।
सबको सर्वाधिक प्रिय हो वह, उन्नततर साहित्य जहाँ।।

वैदिक युग के तपोवन का स्वप्न था उनकी आँखों में 'बाह्य शान्त हो, शान्त गृहान्तर, पशु-पक्षी हों शान्त जहाँ/वचन शान्त हो, हृदय शान्त हो, 'आत्मदेव' हों शान्त जहाँ' और रहना पड़ता था उन्हें बीसवीं सदी के पूर्वार्ध के कलकत्ते में, जहाँ उन्हीं के शब्दों में, 'प्रण में, प्रिय में, औ' प्राणों में संघर्ष लगा पाषाणों में।' स्वप्न और वास्तव का यह अन्तर 'भूत-भविष्यत् में संघर्ष-सा उन्हें लगता था। उनकी यह विशेषता थी कि वे संघर्षों से मुँह मोड़ कर सिर्फ स्वप्न-विलासी नहीं बने। उनकी सहज स्वीकृति थी, 'संघर्षों की आग अनोखी छूई छिन-छिन जीवन में।' इसी आग ने जला कर उनके बाहर को कठोर बना दिया था, जिस आवरण के भीतर करुणा और ममता का अक्षय कोष था जो विशिष्ट अवसरों पर छलक उठा करता था। काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान् षड्दर्शनाचार्य पं० कृष्णदयाल शास्त्री के द्वितीय पुत्र के रूप में १९०० ई० में उनका जन्म हुआ था। उनके नाना विद्वद्वर पं० नारायण मिश्र थे। उनकी माताश्री रामदेवी भी विदुषी थीं। उनके पितामह या प्रपितामह जम्मू के नगरोटा परमंडल से काशी आ कर बसे थे। वे डोगरा ब्राह्मण थे और जम्मू के प्रति उनकी प्रीति अन्त तक बनी रही। हम भाइयों के यज्ञोपवीत एवं विवाह-संस्कार उन्होंने जम्मू में ही किये थे।

व्यक्ति के चरित्र के निर्माण में परिस्थितियों का भी बहुत बड़ा योगदान होता है। कैसी अद्भुत और निर्मम परिस्थितियों में पले-बढ़े थे बाबूजी! कुल डेढ़-दो वर्ष के थे जब भीषण नौका-दुर्घटना में मातृहीन हो गये। यही आश्चर्य था कि नाव के टूटे तख्ते पर बहते हुए वे बच कैसे गये? काशी के तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ विद्वान् महामहोपाध्याय पं० शिवकुमार शास्त्री ने गंगा मैया की कृपा से बचने वाले इस शिशु को गांगेय—गंगा का पुत्र कहा। बड़े हो कर बाबूजी ने इस आख्या को अपने नाम का पूर्वार्ध ही बना लिया। कष्ट ही में पले-बढ़े। वे अभी बालक ही थे जब उनके पिता भी स्वर्गवासी हो गये। पढ़ने-लिखने में अत्यन्त मेधावी थे, फलतः छात्रवृत्तियाँ मिलती रहीं। कुल १८ वर्ष की अवस्था में काव्यतीर्थ हुए, फिर शास्त्री हुए। उनके बड़े भाई पं० पुरुषोत्तम शास्त्री भी व्याकरणाचार्य थे। महामना पं० मदनमोहन मालवीय एवं काशी-नरेश भी उनकी प्रतिभा से प्रभावित थे। कुल २० वर्ष की अवस्था में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्राध्यापक हुए और फिर कुछ ही महीनों बाद उसका परित्याग कर १९२०-२१ के असहयोग आन्दोलन में कूद पड़े। व्याकरणाचार्य के अन्तिम खंड की परीक्षा भी इसी कारण उन्होंने नहीं दी। असहयोग संस्कृत छात्र समिति के अध्यक्ष के रूप में 'तेज प्रचार कर' उन्होंने काशी के तरुण समाज को स्वाधीनता-संग्राम में सम्मिलित होने के लिए उत्साहित किया। उनकी इस क्षमता से प्रभावित हो कर डॉ० भगवानदास ने नवगठित राष्ट्रीय शिक्षा-संस्था 'काशी विद्यापीठ' में उन्हें संस्कृत-हिन्दी का प्राध्यापक नियुक्त किया। करीब डेढ़-दो वर्ष काम करने के बाद वे कलकत्ते चले आये, जहाँ १९२३ ई० में पं० विनायक मिश्र

के समृद्ध घराने में श्रीमती रूपेश्वरी देवी से उनका विवाह हुआ। उन दिनों उस घराने के वृहत्तर परिवार में घोर अन्तर्कलह चल रहा था जिसके परिणामस्वरूप कुछ ही दिनों बाद सम्पत्ति की रक्षा के लिए उन्हें सात-आठ वर्षों तक कई मामले-मुकदमों में उलझे रहना पड़ा जिनमें दो-दो बार फौजदारी भी हो गई। अन्त में एक सम्मानजनक समझौते के अनुसार विवाद हल हुए और तदनन्तर उनकी आर्थिक स्थिति अन्त तक सन्तोषजनक रही।

बचपन से ही अपने पाँवों पर खड़े होने की विवशता और लम्बे समय तक किये कठिन संघर्षों ने उन्हें अपूर्व दृढ़ता प्रदान की थी। वे स्वयं-निर्मित व्यक्ति थे और एक बार निर्णय कर लेने पर उससे डिगते नहीं थे। उस मनस्वी विद्वान् को अपनी विकास-यात्रा में जहाँ महामना मालवीय, डॉ० भगवानदास, श्री श्रीप्रकाश, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० श्यामसुन्दर दास, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन आदि का स्नेह-सहयोग प्राप्त हुआ था वहीं बहुतों का विरोध-विश्वासघात भी झेलना पड़ा था। दूसरी कोटि के अनुभवों की अधिकता से पीड़ित हो कर वे कह उठे थे—

दुनिया के छलछिद्रों से जो ऊब उठा, मैं वह उच्छ्वास।
स्वार्थमयी मित्रों की मति से विचलित जो, मैं वह विश्वास।।

इसकी प्रतिक्रिया उनके व्यवहार में भी हुई थी। वे न तो जल्दी किसी पर भरोसा करते थे, न किसी को अपने मन की बात सहज में बताते थे। कुछ काम-काज की अधिकता, कुछ मर्यादा-बोध, कुछ अकेले रहने के अभ्यास के कारण वे समाज में ज्यादा घुलते-मिलते नहीं थे। कठोरता के इस बाह्य आवरण के भीतर उनका भावुक कवि-मन करुणा, कोमलता, प्रीति और भक्ति से ओत-प्रोत था। इसके प्रमाण उनकी रचनाओं में भी हैं और उनके व्यवहार में भी।

बचपन में माता-पिता के वात्सल्य से वंचित हो जाने की पीड़ा उन्हें बराबर सालती रही। अपनी कविता-पुस्तक 'मालिनी-मन्दिर' उन्होंने अपनी माँ को समर्पित की है। उस छोटे-से समर्पण-लेख में उनकी आन्तरिक भावुकता की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। 'समर्पण' के अन्त की कविता-पंक्तियाँ हैं—

स्पन्दित करें तुम्हारा अंचल, माँ ! मेरे प्राणों के गीत।
इन श्वासों को—उन श्वासों ने कभी किया था जहाँ पुनीत।।

अपने माता-पिता का श्राद्ध भी वे बहुत लगन और श्रद्धा से करते थे। आर्थिक कष्टग्रस्त विद्वानों और साहित्यकारों की सेवा-सहायता भी वे मुक्त हृदय से किया करते थे। पं० पद्मसिंह शर्मा जब अपनी पुस्तकों के प्रकाशनार्थ कलकत्ते आये थे तो उन्होंने उन्हें अपने यहाँ ही कई महीनों तक ठहराया था। संस्कृत के विद्वानों की सार-सँभार वे बहुत आत्मीयता के साथ करते थे। कलकत्ते में ही नहीं काशी, हरिद्वार, जम्मू आदि जहाँ जाते वहाँ पंडित-पूजन अवश्य करते थे। कलकत्ते की पंडित-सभाओं में वे संस्कृत में धारा-प्रवाह व्याख्यान दे कर विद्वानों को सांस्कृतिक गरिमा बनाये रखने की बराबर प्रेरणा दिया करते थे। पूजा के बाद स्तुति करते समय प्रायः उनकी आँखों में आँसू आ जाते थे। वे आलवन्दार स्तोत्र के श्लोकों को बहुत मीठी, करुण लय से पढ़ा करते थे। यह श्लोक उन्हें बहुत प्रिय था—

अपराधसहस्रभाजनं, पतितं भीमभवार्णवोदरे।
अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात् कुरु।

(अर्थात् सहस्रों अपराध करनेवाले, भयंकर संसार-समुद्र में पड़े इस निराश्रित शरणागत को हे हरि, केवल

कृपा के कारण अपना लीजिए!) उन्होंने करुणामय की केवल कृपा की ही कामना नहीं की थी, प्यार की भी याचना की थी। किन्तु उस प्यार की महिमा यह है कि जिसे उसका स्पर्श मिलता है, वह परदुःखकातर और स्वयं करुणामय हो जाता है। उन्हीं की पंक्तियाँ हैं—

अन्तर-अन्तर की पीड़ा को जो अन्तरवासी जाने।
जिससे छू गांगेय जीव ये जीवन को पावन माने।।
करुणामय ही कर देता जो, सबको बन कर हार।
वह अनुभवमय, मिले सिद्धिमय करुणामय का प्यार।।

अपने आश्रितों के सुख में वे भले शामिल न हों, दुःख में अवश्य शामिल होते थे। परीक्षा आदि में असफल हो जाने पर वे बच्चों को डाँटते-फटकारते नहीं थे, फिर से मेहनत से तैयारी करने के लिए उत्साहित करते थे। उन्होंने अपनी पहली कविता-पुस्तक का नाम 'करुण तरंगिणी' रखा था और उसकी व्याख्या करते हुए संकेत दिया था कि जगत् में व्याप्त विषमता की पीड़ा से द्रवित चित्त की ही कृति है यह। उन्हीं के शब्दों में—

निरख-निरख ऐसी अस्थिरता आयी उन्मन रंगिणी।
सहृदय ममता की आँखों से निकली करुण तरंगिणी।।

साहित्य उनकी साधना का क्षेत्र था। जीवन-संघर्ष की थकान दूर करने के लिए और नये सृजन की प्रेरणा के लिए वे उसका आश्रय ग्रहण करते थे, केवल मनोरंजन या भाषा-शैली के अलंकरण के लिए नहीं। 'कला कला के लिए है और जीवन के लिए भी' यह उनका प्रिय वाक्य था। उन्होंने कई निबन्ध भी लिखे हैं किन्तु मूलतः वे कवि थे। उनकी कविताओं में देशभक्ति, करुणा, साहस, प्रकृति-प्रेम एवं सांस्कृतिक चेतना की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। द्विवेदी-युग और छायावादी युग की विशेषताएँ उनकी रचनाओं में सहज ही परिलक्षित होती हैं, फिर भी प्रधानता द्विवेदी-युगीन मनोभावों की ही है।

उनका प्रकृति-प्रेम अद्भुत था। तरुणाई में ही काशी के निकट बदेवली गाँव में अपने स्नेह-भाजनों के निकट वे कई-कई दिनों तक रहते और वहाँ की ग्रामीण शोभा का आनन्द लेते। कलकत्ते में उनका एक बहुत प्रिय स्थल था 'एग्रीकल्चरल एण्ड हार्टिकल्चरल सोसाइटी' का उद्यान जिसकी वार्षिक पुष्प-प्रदर्शनी में वे अवश्य जाया करते थे, हम लोगों को भी ले जाते थे। उसके अंग्रेज अधिकारी श्रीलंकास्टर से उनका स्नेह सद्भाव था। फूलों, पेड़-पौधों की उनकी जानकारी विस्तृत थी। उन्होंने अपने घर में भी फूलों के कुछ गमले रखे थे। कलकत्ते में ही अपनी एक जमीन में उन्होंने अपने शौक की एक छोटी-सी बगिया ही लगा रखी थी, जिसमें अनेक प्रकार के देशी-विदेशी फूलों के पौधे तो थे ही, बहुत-सी जड़ी-बूटियाँ भी थीं। वे साहित्य के साथ-ही आयुर्वेद और ज्योतिष के भी अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने आयुर्वेदशास्त्री की उपाधि प्राप्त की थी और बंगाल सरकार से मान्यता-प्राप्त रजिस्टर्ड कविराज (वैद्य) भी थे। बंगला में कविराज का अर्थ वैद्य भी होता है। इस तरह वे साहित्य और आयुर्वेद दोनों की दृष्टि से कविराज थे। जीवन के शेष भाग में वे कलकत्ते के निकटस्थ बाँसधुनी अंचल में खेती करवाना चाहते थे किन्तु उसमें उन्हें विशेष सफलता नहीं मिल पायी।

जीवन के उत्तरार्ध में वे आर्थिक कष्टों से मुक्त हो गये थे किन्तु तब भी कर्मठतापूर्वक लोकहितकर कार्यों में लगे रहते थे। अपनी मान्यताओं पर दृढ़ रह कर उनकी सिद्धि के लिए कष्ट-वरण करने से वे कभी नहीं सकुचाये। धार्मिकता को वे भारतीयता का अभिन्न अंग मानते थे। इसीलिए बढ़ती हुई नास्तिकता और धर्म के प्रति अनास्था से वे क्षुब्ध रहते थे। 'गो-रक्षा' उनके जीवन का बड़ा व्रत था। जब तक वे जीवित रहे, घर में दो-तीन गायें

बराबर रहीं। स्वामी करपात्री जी एवं कृष्ण बोधाश्रम जी के नेतृत्व में गो-रक्षा के आन्दोलन में अंश ग्रहण करने के लिए १९४७-४८ में वे दिल्ली भी गये थे और उसके लिए कारा-वरण भी किया था। 'गो अवध्य है, गो अवध्य है, यह उद्घोषण हो' शीर्षक उनकी कविता आन्दोलनकारियों में बहुत लोकप्रिय हुई थी और बाद में 'कल्याण' में प्रकाशित भी हुई थी।

पिता अपनी सन्तानों के माध्यम से अपनी अपूर्ण कामनाओं को पूर्ण करना भी चाहता है। उनकी इच्छा थी कि मैं 'वनस्पति-विज्ञानी' बनूँ पर बी. एस-सी. करने के बाद विज्ञान से मेरा मन विद्रोह पर बैठा। फिर वे चाहते थे कि मैं 'ऐडवोकेट' बनूँ, मैंने एल-एल. बी. की परीक्षा पास तो की किन्तु कानूनी पेशे की ओर भी मेरी प्रवृत्ति नहीं हुई। भगवान् की कृपा से मैं हिन्दी साहित्य का प्राध्यापक नियुक्त हुआ कलकत्ता विश्वविद्यालय में। उन्होंने सम्पूर्ण हृदय से मुझे आशीर्वाद दिया। वे स्वयं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं काशी विद्यापीठ में प्राध्यापक रह चुके थे। यह हम लोगों की वंशगत वृत्ति थी। बाबूजी उसके सुख-दुःख दोनों के जानकार थे। उन्होंने यही कहा था मुझसे कि परिश्रमपूर्वक तैयारी करके पढ़ाओगे तो तुम्हें कभी कोई असुविधा नहीं होगी। मुझे परिश्रम करना ही पड़ता था। एम. ए. पास करने के तुरन्त बाद एम. ए. की कक्षाएँ लेना आसान काम नहीं था। मैं रात-दिन कक्षा के व्याख्यानों की तैयारी में जुटा रहता। बाबूजी के कमरे की बगल में ही मेरा कमरा था। वे देखते, उन्हें लगता कि अधिक परिश्रम के कारण मैं बीमार हो सकता हूँ। पर उन्होंने मुझे कुछ नहीं कहा, मेरे तत्कालीन विभागाध्यक्ष डॉ० सत्येन्द्र से अनुरोध किया कि स्वास्थ्य ठीक रखने के लिए अधिक परिश्रम करने से मुझे मना कर दें। जब डॉ० सत्येन्द्र ने मुझसे कहा कि तुम्हारे पिताजी मुझसे यह कह रहे थे तो मुझे लगा कि बाबूजी का वात्सल्य कितना मृदुल है।

बड़े हो जाने पर मैंने एक-दो बार उनसे बहस करने की भी धृष्टता की थी। मैं 'सनातन' का अर्थ सिर्फ़ 'पुरातन' न स्वीकार कर ऐसी अविच्छिन्न परम्परा मानता था, और हूँ, जो अपने को नित्य नूतन करती चलती है। इस दृष्टि से आधुनिकता के कई गुणों को आत्मसात् करना भारतीय संस्कृति के लिए अनिवार्य मानता हूँ। हम दोनों एक-दूसरे की स्थिति को समझते थे और असहमत होने के लिए सहमत थे। मूल्य चुका कर पाया गया विश्वास मतभेद के बावजूद समादर की सृष्टि करता है, यह बात हम दोनों पर भी लागू थी।

बाबूजी का स्वास्थ्य किसी के लिए भी ईर्ष्या का विषय हो सकता था। वे काफी तेज चलते थे और उनके साथ बने रहने के लिए हम लोगों को अतिरिक्त प्रयास करना पड़ता था। नियमित व्यायाम, सदाचार और युक्त आहार-विहार के फलस्वरूप उनका शरीर जैसा कसा हुआ था, वैसा ही तेजोमय था उनका मुख-मण्डल। वर्षों के बाद वे बीमार पड़े १९५५ के मार्च में और फिर उठ नहीं सके। बीमारी की स्थिति में उनकी सेवा करते समय मैं उनसे उनके प्रिय श्लोक सुना करता था। वे महाकवि क्षेमेन्द्र के इस श्लोक को अपनी आराम-कुर्सी कहा करते थे—

परिभ्रमसि किं मुधा क्वचन चित्त विश्राम्यतां
स्वयं भवति यद्यथा भवति तत्तथा नान्यथा।
अतीतमननुस्मरन्नपि च भाव्यसंकल्पयन्
अतर्कितगमागमान्ननुभवामि भोगानहम्।

(अर्थात् ओ रे चित्त, क्यों व्यर्थ इधर-उधर चक्कर काटता फिरता है, कभी तो विश्राम कर। भली-भाँति समझ ले, जैसा स्वयमेव होता है, वैसा ही होता है, अन्यथा नहीं होता। अतीत को बिना सोचे, भविष्य का संकल्प किये बिना, अतर्कित रूप से आने-जानेवाले भोगों का मैं अनुभव करता रहता हूँ।) मानसिक शान्ति के लिए ऐसी

स्थिति सचमुच लाभदायक है, पर ऐसी मानसिकता की रचना कितनी कठिन है? एक हद तक ही बाबूजी इस मानसिकता का विकास कर पाये थे।

कुल पचपन वर्ष की अवस्था में २७-१०-५५ को वे स्वर्गवासी हुए। बहुत-कुछ करने, लिखने की आकांक्षा थी उनके मन में, वे पारिवारिक कार्यों से निवृत्त होने की योजना भी बना रहे थे। पर उसके पहले ही मृत्यु ने उन्हें जगत् से ही निवृत्त कर दिया। उन्हीं की पंक्तियाँ याद आ रही हैं—

भरी हुई है बड़ी हसरतें मन में, नहीं ठिकाना है।
किन्तु न जाने कब किसने हा ! कहाँ यहाँ मर जाना है।।

तो क्या मरण के आगे जीवन लाचार है? मरण की भीति को काट कर भी जीना सम्भव है, यदि हम यह समझ लें कि केवल शरीर से जीना ही जीना नहीं है। बड़े उद्देश्यों के प्रति समर्पित जीवन अपने मन की दुर्बलताओं पर नियन्त्रण रख कर कर्मठ भाव से जीता है। उसके लक्ष्य की पूर्ति के मध्य मृत्यु आतंक बन कर नहीं आती, वह तो उसके स्वागत की तैयारी अपने आचरण द्वारा करता ही रहता है और इसीलिए शरीर के शान्त हो जाने पर भी वह जन-मन में जीता रहता है। उनकी ये पंक्तियाँ वस्तुतः प्रेरणामय हैं—

जीना हो, इस मन की रखवारी;
जीना हो, मरने की तैयारी।
जीना हो, नित कर्मठता-भीना;
जीना हो, बस जन-मन में जीना।। ●

श्रीमती भारती शर्मा

मेरे बाबूजी

मेरे बाबूजी अत्यन्त वत्सल, स्नेहिल और प्रेम करने वाले हैं। बचपन से ही मुझे उनका अगाध प्रेम मिला है। वैसे प्रेम करना बाबूजी का स्वभाव है। वे सब बच्चों से प्रेम करते हैं। हमलोगों का संयुक्त परिवार था। घर में जितने बच्चे थे, वे सबसे समान रूप से प्रेम करते थे और सब बच्चे भी उनसे उतना ही प्रेम करते थे। सब बच्चे उन्हें 'बाबूजी' ही कहते थे। आज उन बच्चों के भी बच्चे हो गये हैं और वे भी बड़े हो गये हैं। पर वे सब भी बाबूजी को 'बाबूजी' ही कहते हैं। बाबूजी उन सबको भी बेहद प्यार करते हैं। बाबूजी का विश्वास है कि प्यार से जो बात बच्चों को जितनी अच्छी तरह से समझाई जा सकती है, डाँट-डपट कर या मार-पीट कर नहीं। लेकिन प्रेम करने का अर्थ यह नहीं कि वे अनुशासनप्रिय नहीं हैं। अधिक लाड़-प्यार से बच्चे बिगड़ न जायें या लापरवाह न हो जायें, इसका वे हमेशा ख्याल रखते थे। विशेषकर पढ़ाई के प्रति बच्चों की लापरवाही उन्हें असह्य थी। बचपन से ही उन्होंने हमेशा पढ़ने में अधिक से अधिक परिश्रम करने के लिए उत्साहित किया। वे मानते थे कि शिक्षा ही भविष्य की नींव है। आज स्त्री शिक्षा के लिए इतने प्रयास किये जा रहे हैं, पर बाबूजी ने आज से सालों पहले हम सब बहनों को पढ़ने के लिए सदा प्रेरणा दी। बचपन से बाबूजी खुद हम लोगों को पढ़ाया करते थे और एम. ए. में आने के बाद वे एक बार फिर मेरे अध्यापक थे। मैंने उनकी कक्षा में बैठकर अध्ययन किया है। इस तरह वे मेरे बाबूजी ही नहीं, गुरु भी हैं। बाबूजी हमलोगों को 'भक्ति साहित्य' पढ़ाया करते थे। वे इतना अच्छा पढ़ाते थे कि यही पेपर लोगों को सबसे अच्छा लगता था। तुलसी साहित्य बाबूजी का प्रिय विषय है और वे इस विषय के मर्मज्ञ भी हैं। उनके बहुत अच्छा पढ़ाने का ही प्रभाव था कि पी-एच.डी. के लिए मैंने भक्ति साहित्य को ही चुना। पी-एच.डी. करने के लिए मेरी स्वर्गीया माँ मुझे सदा उत्साहित किया करती थीं। माँ और बाबूजी की प्रेरणा और आशीर्वाद से ही मैं अपनी पी-एच.डी. पूरी कर सकी।

बाबूजी आदर्श अध्यापक थे। वे अपने विषय को न केवल अच्छी तरह समझते थे बल्कि छात्रों को उतनी ही अच्छी तरह समझा सकते थे। साथ ही अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए एक के बाद एक उद्धरण देते चले जाते थे। बाबूजी को ढेरों कविताएँ याद हैं और वे उनका सही समय पर सही उपयोग करते हैं। वे बचपन से ही हम लोगों को भी कविताएँ याद करने की प्रेरणा देते थे और दोहे, श्लोक या कविताएँ याद करने पर इनाम भी दिया करते थे। कविता याद करने के साथ-साथ उसे अच्छी तरह सुनाना भी एक कला है और बाबूजी इस कला में पारंगत हैं। वे अत्यन्त भावपूर्ण ढंग से कविताओं की आवृत्ति करते हैं। इस सम्बन्ध में वे राजशेखर का श्लोक भी सुनाते हैं—

करोति काव्यं प्रायेण संस्कृतात्मा यथा तथा।
पठितुं वेत्ति स परं यस्य सिद्धा सरस्वती।।

जो व्यक्ति सुसंस्कृत है, वह अगर चाहे तो कविता लिख ही सकता है, किन्तु कविता का अच्छी तरह पाठ करना तो वही जानता है जिसे सरस्वती सिद्ध हो।

इन सारी बातों से आप कहीं यह मत समझ बैठिएगा कि वे बेहद गंभीर हैं। नहीं, उनका ठहाका मशहूर है। उनके मित्र उनके ठहाके को कई नामों से पुकारते हैं।

यूँ भी अपने बच्चों के साथ खेलना उन्हें अत्यन्त प्रिय है। मुझे याद है बचपन में बाबूजी हम लोगों को विक्टोरिया ले जाते थे और वहाँ सब बच्चों को दौड़ाने के लिए उनके साथ खुद भी दौड़ते थे। बाद में मेरी बेटियों विभा, ऋचा के साथ भी वे बड़े प्रेम से खेलते थे या उन्हें कहानियाँ सुनाते थे।

आजकल समाज में लड़कियों एवं लड़कों में जो भेदभाव किया है या लड़कियों की शिक्षा की जो उपेक्षा की जाती है उससे बाबूजी को बहुत दुःख होता है। वे अपने भाषणों में एक बात कई बार दोहराते हैं, "बेटियों को प्यार, बहुओं को अधिकार"।

अपनी बेटी को उन्होंने प्यार भी दिया और अधिकार भी। आज से पच्चीस साल पहले जब स्त्रियों को नौकरी करने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाता था, तब उन्होंने मुझे नौकरी करने के लिए प्रोत्साहित भी किया एवं पूरी तरह सहयोग भी दिया। मेरी बेटियाँ तब बहुत छोटी थीं, माँ और बाबूजी के स्नेह और सहयोग के बिना नौकरी करना संभव ही नहीं होता।

बाबूजी का रहन-सहन अत्यंत सादा एवं सरल है। बचपन से ही मैंने उन्हें सदा सफेद धोती एवं कुर्ते में ही देखा है। राज्यपाल बनने के बाद भी उनका रहन-सहन उतना ही सादा रहा है। वे स्वयं भी अपरिग्रही हैं और मुझे भी अपरिग्रही होने के लिए कहते रहते हैं। जरूरत से ज्यादा वस्तुओं के संग्रह को वे अनुचित एवं अनावश्यक मानते हैं।

"बाबूजी" स्वभाव से "घुमक्कड़" हैं। उन्हें यात्रावीर कहना उचित होगा। कभी साहित्य के काम से तो कभी राजनीति के काम से वे यात्रायें करते ही रहते हैं और थकने के बजाय प्रसन्न होते हैं। मेरी माँ अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति की थीं। बाबूजी ने उन्हें "चारों धामों" की यात्रा करवाई थी, इससे वे अत्यन्त प्रसन्न हुई थीं।

बाबूजी की एक प्रिय पंक्ति है — 'दोष विद्यमान का नहीं होता, वर्त्तमान का होता है।" मैं बचपन में बड़ी चंचल थी और अक्सर किसी न किसी चीज से टकरा कर चोट लगा लेती थी। तब बाबूजी यही समझाते थे कि चीज तो अपने स्थान पर स्थिर थी यानी विद्यमान थी, चलने वाले को ही ध्यान रखना चाहिए कि उनसे वह टकरा न जाये। इसी तरह जीवन में परिस्थितियों को तो आसानी से नहीं बदला जा सकता, पर उन स्थितियों में भी हम अपने व्यवहार में परिवर्तन कर सकते हैं, जिससे हम उनका मुकाबला कर सकें और उनसे ऊपर उठकर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकें।

जीवन में उतार-चढ़ाव, सुख-दुःख आते ही रहते हैं। ऐसी परिस्थितियों में बाबूजी सदा भगवान पर भरोसा करने को कहते हैं। वे गीता के सिद्धान्त को पूरी तरह मानते हैं कि कर्म करते रहना चाहिए और फल की कामना नहीं करनी चाहिए। वे यह भी मानते हैं कि भगवान जिस स्थिति में रखें, उसी में प्रसन्न रहना चाहिए। उनकी प्रिय पंक्तियाँ हैं—

हारिए न हिम्मत बिसारिए न हरिनाम।
जाही बिधि राखे राम, ताही बिधि रहिये।।

जब मैं स्कूल में थी तो एन. सी. सी. में जाने के लिए भी बाबूजी ने ही प्रेरणा दी थी। १९६२ में चीन से शर्मनाक पराजय के बाद हर भारतीय के मन में क्रोध था, दुःख था। सभी अपने स्तर पर कुछ करना चाहते थे। तब विश्वविद्यालय के अध्यापकों को एन. सी. सी. में भर्ती होने को कहा गया था। बाबूजी ने उत्साह से एन. सी.

सी. में भाग लिया। वे एन. सी. सी. शिविर में कल्याणी भी गये थे। हम लोगों को भी स्कूल की अन्य छात्राओं के साथ कैलिम्पोंग के शिविर में जाना था। पर मेरी दादी माँ इसके लिए तैयार नहीं थीं। बाबूजी दादी माँ के राखोंबंद भाई, भैयो, दादाजी को बुला लाए। उन्होंने आकर समझाया तो दादी माँ ने मुझे और मेरी छोटी बहन जया को एन. सी. सी. शिविर में जाने की आज्ञा दे दी। वह शिविर मेरे जीवन की यादगार घटनाओं में एक था। वहाँ मुझे सैनिकों के जीवन की एक झलक देखने को मिली। उनके अनुशासन एवं परिश्रमपूर्ण जीवन का परिचय मिला।

१९७१ के बांगलादेश के मुक्ति संग्राम में भी बाबूजी अपनी ओर से यथासंभव सहयोग देने में पीछे नहीं हटे। पाकिस्तान की सेना जिस तरह पूर्व बंगाल पर अत्याचार कर रही थी, उससे हर भारतवासी के मन में क्षोभ था, क्रोध था। बाबूजी ने मुक्ति संग्राम के समय तीन बार बांगलादेश का दौरा किया एवं युद्ध रिपोर्ताज लिखे। स्वाधीनता के बाद भी वे दो बार बांगलादेश गये। मुक्ति संग्राम की प्रगति के सम्बन्ध में उनके लेख निरन्तर "धर्मयुग" में प्रकाशित होते रहे। इसी संदर्भ में उनकी तीन पुस्तकें भी प्रकाशित हुईं। 'बांगलादेश के संदर्भ में', कृति में उनके रिपोर्ताजों का संकलन है। 'संकल्प, संत्रास और संकल्प' पुस्तक में बांगलादेश की संग्रामी कविताओं का कविताओं में ही अनुवाद है। बांगलादेश पर उनकी तीसरी पुस्तक है 'बांगलादेश : संस्कृति और साहित्य' जिसमें बांगलादेश और भारत के विशिष्ट लेखकों की ऐसी रचनाओं का संकलन किया गया है, जिनसे बांगलादेश के निर्माण की पीठिका स्पष्ट होती है, पाकिस्तानी अत्याचारों के साये में साहित्य की प्रेरणा से विकसित होने वाली असाम्प्रदायिक बांगलादेशी संस्कृति का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है।

बाबूजी छात्रावस्था से ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक रहे हैं, पर सक्रिय राजनीति में उनका आना आकस्मिक ही था। १९७५ में जब आपातकाल की घोषणा की गयी तो सभी के मन में आक्रोश था। विशेषकर गैर कांग्रेसी, गैर कम्युनिस्ट बुद्धिजीवियों ने खुलकर उसका विरोध किया था। बाबूजी भी उनमें एक थे। उन दिनों प्रायः खबरें मिलती रहती थीं कि बाबू जी को शीघ्र ही गिरफ्तार किया जाने वाला है। पर बाबू जी उसकी परवाह किये बिना सभा समितियों में निर्भीकतापूर्वक आपातकाल के विरुद्ध अपने विचार प्रकट करते रहते थे। उन्हें तो गिरफ्तार नहीं किया गया किन्तु श्रीबड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय द्वारा आयोजित कवि सम्मेलन के उनके तेजस्वी संचालन के कारण पुस्तकालय के सभापति श्री नन्दलाल जैन जी को गिरफ्तार कर लिया गया। न केवल कलकत्ते में बल्कि जयपुर, मुम्बई आदि की साहित्य-गोष्ठियों में भी बाबूजी ने आपातकाल के विरोध में अपने विचार व्यक्त किये थे। इसीलिए १९७७ में जब चुनाव हुए तो बाबूजी के मित्रों ने उन पर चुनाव लड़ने का दबाव डाला। वे पहले राजी नहीं हो रहे थे पर अन्त में अपने पुराने मित्रों एवं साथियों के कहने पर बाबूजी ने एम. एल. ए. का चुनाव लड़ने का निर्णय किया। इन मित्रों में प्रमुख थे : सर्वश्री केशव दीक्षित, जुगलकिशोर जैथलिया, घनश्याम बेरीवाला, पुरुषोत्तमदास हलवासिया, सुकुमार बनर्जी, विमल लाठ आदि।

बाबूजी पाँच वर्षों तक एम. एल. ए. रहे, एक बार चार वर्ष और फिर कुछ अन्तराल के बाद छह वर्षों तक पश्चिम बंगाल भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष रहे, चार वर्षों तक भारतीय जनता पार्टी के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष रहे। छह वर्षों तक राज्यसभा के सांसद रहे और १९९९ दिसम्बर से वे पहले एक वर्ष तक हिमाचल प्रदेश के और फिर ३ वर्ष ७ महीने उत्तर प्रदेश के राज्यपाल रहे। इन सभी पदों पर अपनी जिम्मेदारी को उन्होंने परिश्रमपूर्वक एवं ईमानदारी के साथ निभाने की कोशिश की।

बाबूजी कलकत्ते की कई संस्थाओं के सक्रिय सदस्य रहे हैं। सामाजिक एवं सांस्कृतिक कामों में उनकी सदा

से रुचि रही। श्रीबड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय, बड़ाबाजार लाइब्रेरी, बंगीय हिन्दी परिषद, भारतीय संस्कृति संसद, भारतीय भाषा परिषद् जैसी संस्थाओं से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

'अनामिका' नाट्य संस्था थी, पर बाबूजी उसके भी दस वर्षों तक अध्यक्ष रहे हैं। 'अनामिका' ने सदा ही साहित्यिक नाटक प्रस्तुत किए, इसलिए उसके साथ काम करके बाबूजी को अत्यन्त प्रसन्नता एवं संतोष का अनुभव होता था।

बाबूजी हमेशा कहते हैं कि बोलना आसान काम है पर लिखना मेरे लिए अत्यन्त कठिन काम है। भाषण देने में बाबूजी को कठिनाई नहीं होती। वे अत्यन्त ओजस्वी वक्ता हैं। किन्तु इतनी पुस्तकें लिखने के बाद भी उन्हें आज भी लिखना कठिन लगता है। दस पृष्ठों का निबन्ध लिखना हो तो वे बीस पृष्ठों की टिप्पणियाँ लेते हैं। इस सम्बन्ध में वे कई बार अपने उन साहित्यिक मित्रों को बहुत याद करते हैं, जिन्होंने उनसे लेख 'लिखवा' लिये। 'धर्मयुग' के संपादक धर्मवीर भारती एवं 'आलोचना' के संपादक नामवर सिंह को वे अक्सर इसीलिए याद करते हैं। बाबूजी के बहुत से साहित्यिक मित्र हैं और कई बार परस्पर विरोधी खेमों के साहित्यकारों से भी उनकी मित्रता समान रूप से रही है। अमृतराय, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी, प्रतिभा अग्रवाल, धर्मवीर भारती, नामवर सिंह, जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि उनके मित्र रहे हैं। आचार्य ललिता प्रसाद सुकुल और प्रो. कल्याणमल लोढ़ा तो उनके प्राध्यापक रहे ही हैं। वे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और डॉ० राम विलास शर्मा को भी गुरुतुल्य मानते हैं, क्योंकि उन तीनों से उन्होंने बहुत कुछ सीखा है।

डॉ० हरिवंशराय बच्चन एवं अमृतलाल नागर उनके अग्रज मित्रों में थे। बच्चन बाबूजी के प्रिय कवि हैं। उनकी कविताओं को वे बहुत ही अच्छी और भावपूर्ण आवृत्ति करते हैं। निरालाजी और अज्ञेयजी उनके श्रद्धेय कवि हैं। उनकी भी ढेरों कविताएँ बाबूजी को याद हैं। उनके पूज्य कवि हैं—तुलसीदास। वे प्रायः कहते हैं कि उनके जीवन पर सबसे गहरा प्रभाव तुलसीदास का पड़ा है। रामचरितमानस, विनयपत्रिका, कवितावली, दोहावली आदि की सैकड़ों पंक्तियाँ उन्हें याद हैं और वे प्रयोजन के अनुरूप उन्हें सुनाते रहते हैं। भगवान की उन पर बड़ी कृपा है कि उन्हें ठीक समय पर ठीक पंक्तियाँ याद आ जाती हैं।

कई वरिष्ठ साहित्यकारों से भी उनका घनिष्ठ परिचय था। वे अक्सर उनसे मिलते रहते थे। इन साहित्यकारों में निराला, पंत, महादेवी, अज्ञेय आदि प्रमुख हैं। बाबूजी ने कई साहित्यकारों पर भावपूर्ण संस्मरण लिखे हैं। जो उनकी पुस्तकों 'स्मरण को पाथेय बनने दो' और 'सुधियाँ उस चन्दन के वन की' में संगृहीत हैं। धर्मवीर भारती पर उनकी पुस्तक ही है 'अनन्त पथ के यात्री : धर्मवीर भारती'। संस्मरणों की उनकी एक और पुस्तक हाल ही में प्रकाशित हुई है— '.....पर साथ-साथ चल रही याद'।

बाबूजी समय नष्ट करने के बहुत विरोधी हैं। आलस्य में, फालतू गप्पों में या निन्दा-परनिन्दा करने में उनको कोई रस नहीं मिलता। उनका कहना है कि जो समय नष्ट करता है वह आंशिक आत्महत्या करता है। क्योंकि हमारा जीवन क्या है? जन्म से मृत्यु के बीच का जो समय हमें मिला है वही हमारा जीवन है। इस दृष्टि से जो जितना समय नष्ट करता है, वह उतनी ही मात्रा में आंशिक आत्महत्या करता है। नारदीय भक्ति सूत्र का एक सूत्र वे इस संदर्भ में दोहराते रहते हैं :- "क्षणार्धमपि व्यर्थं न नेयम्।" अर्थात् आधा क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताना चाहिए।

बाबूजी 'संरक्षणशील आधुनिकता' के समर्थक हैं। उनका मानना है कि हमें अपनी पुरानी संस्कृति, पुरानी

परम्पराओं को नहीं भूलना चाहिए। उनमें जो कल्याणकारी अंश हैं उनका अवश्य संरक्षण करना चाहिए। इसके साथ ही आधुनिक काल में ज्ञान विज्ञान की जो उन्नति हुई है, उसे भी अपने देश की नई पीढ़ी तक अवश्य पहुँचाना चाहिए। वे एक वैदिक ऋचा का उदाहरण कई बार देते हैं : "आनो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः" अर्थात् सब दिशाओं से मिले शुभ-ज्ञान।

इसी संदर्भ में वे कई बार पं० दीनदयाल उपाध्याय का भी उल्लेख करते हैं। पं० दीनदयाल जी ने इसी बात को अपने ढंग से कहा है कि परम्परा से हम जो लें, उसे युगानुकूल बना कर लें और विदेशों से जो अच्छी बातें लें, उन्हें देशानुकूल बनाकर लें। बाबूजी भी युगानुकूलता और देशानुकूलता की तुला पर तोलकर ही परम्परा और विदेशों से प्रेरणा ग्रहण करने की वकालत करते हैं।

स्वामी अखंडानन्द सरस्वती बाबूजी एवं माँ के दीक्षागुरु थे। मैंने भी उनसे दीक्षा ली थी। गुरु जी प्रकाण्ड विद्वान एवं अनुभवी संत थे। हमलोगों पर उनकी अपार कृपा थी। उनका आश्रम वृन्दावन में था। बाबूजी कई बार वृन्दावन गए हैं। कई संन्यासियों के साथ उनका घनिष्ठ परिचय हो गया है। कई बार उन्होंने वृन्दावन में भक्तों के सामने प्रवचन भी किए हैं।

बाबूजी मानते हैं कि उनके जीवन पर गुरुजी का गहरा प्रभाव पड़ा है। उनके जीवन को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करने में गुरुजी की ही कृपा थी। किसी भी आध्यात्मिक विषय पर प्रवचन करने से पहले वे सदा गुरुजी का स्मरण करते हैं।

बाबूजी ने ईशावास्य उपनिषद पर अठारह प्रवचन किए थे, जो "ज्ञान और कर्म" नामक पुस्तक में प्रकाशित हुए हैं। गीता पर उन्होंने छप्पन प्रवचन किए। इन सभी प्रवचनों के पूर्व वे गुरुजी का ही स्मरण करते रहे हैं।

बाबूजी का व्यक्तित्व बहुआयामी है। एक छोटे से लेख में उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का आकलन बहुत कठिन है। उन्होंने कई क्षेत्रों में सफलतापूर्वक काम किया है। अध्यापन, साहित्य-सृजन, धर्म, समाजसेवा, राजनीति आदि कई क्षेत्रों में वे पिछले कई वर्षों से कार्यरत हैं। भगवान से मेरी प्रार्थना है कि वे शतायु हों और निरन्तर इसी प्रकार कार्य करते रहें। बाबूजी प्रतिदिन ईशावास्योपनिषद् का पाठ करते हैं, उसी की एक पंक्ति से लेख का समापन करती हूँ — "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" अर्थात् निष्काम भाव से काम करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करें। ●

श्रीमती भारती शर्मा

मेरी माँ

'नयन समुखे तूमि नाइ, नयनेर माझखाने निये़छो जे ठाई' आज तुम मेरी आँखों के सामने नहीं हो क्योंकि आँखों में ही बस गई हो। जब भी मैं अपनी स्वर्गीया माँ सुदर्शना इंदिरा देवी के बारे में सोचती हूँ, यही पंक्तियाँ मुझे याद आती हैं।

माँ को याद करते ही आँखों के सामने एक अत्यंत सुन्दर चेहरा उभरने लगता है। बेहद सुन्दर, बेहद भोला, शांत और निष्पाप चेहरा। उनके मन की निश्छलता उनके चेहरे पर प्रतिबिम्बित होती थी।

वे जितनी रूपवती थीं, उतनी ही गुणवती भी। घर गृहस्थी का ऐसा कौन सा काम था, जो उन्हें नहीं आता था। खाना वे इतना अच्छा बनाती थीं जैसे अमृत। विशेषकर जम्मू के व्यंजन जैसे राजमा, छोले-भटूरे, कड़म का साग बनाने में तो उनका जवाब ही नहीं था।

वे सिलाई-कढ़ाई में भी निपुण थीं। मेरी नानी जी स्वयं कढ़ाई में अत्यन्त निपुण थीं। उन्होंने ही माँ को सिखाया था। माँ ने मुझे कई चादरें कढ़ाई करके दी थीं। उनकी कढ़ाई कहीं खराब न हो जाय, इस डर से बहुत दिनों तक मैंने उन्हें बिछाया ही नहीं। अब जब भी उन्हें बिछाती हूँ, माँ को याद करती हूँ।

माँ स्वेटर बुनने में भी अत्यन्त कुशल थीं। सर्दियाँ शुरु होते ही वे स्वेटर बुनने शुरू कर देती थीं। कभी बाबूजी के लिए, तो कभी मेरे लिए, तो कभी मेरी बेटियों के लिए। सर्दियों भर वे इसी में व्यस्त रहतीं। उनके हाथ में इतनी सफाई थी कि स्वेटर देखते ही बनते थे।

उनके इष्टदेव 'बालकृष्ण' थे। श्रीकृष्ण का चित्र सदा उनके कमरे में लगा रहता था। वे नित्य नियम से पूजा-अर्चना करती थीं। भागवत, रामायण एवं गीता का वे प्रतिदिन पाठ करती थीं। घर में जन्माष्टमी एवं झूलन का त्योहार बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था। इस अवसर पर वे सारा-सारा दिन भगवान का श्रृंगार करती रहती थीं या झूले को सजाती रहतीं। इस सजावट में दादी माँ, दद्दा के साथ-साथ ताई जी, तोषी मम्मी एवं चाची जी भी लगी रहती थीं। सब के दिन भर के परिश्रम के बाद शाम को जब भगवान की मूर्त्तियों को झूले पर बैठाया जाता था तो उनकी शोभा देखते ही बनती थी।

संयुक्त परिवार को बनाये रखने में महिलाओं की अहम् भूमिका होती है। मेरी माँ, ताई जी, तोषी मम्मी, चाची जी सभी एक दूसरे के साथ अत्यन्त स्नेह और सद्भाव से रहती थीं।

मेरी माँ बच्चों से बेहद प्यार करती थीं। घर के सभी बच्चे भी उनसे बेहद प्यार करते थे। मेरी छोटी बहन विजया उन्हें खूब चाय बना-बना कर पिलाती थी। इससे वे खूब खुश होती थीं। जबकि मैं उन्हें अक्सर टोकती रहती थी कि चाय पीना अच्छी बात नहीं और ज्यादा चाय तो बिल्कुल ही नहीं पीनी चाहिए। इस पर वे चिढ़ जातीं, कहतीं, खुद तो चाय पीती नहीं है, दूसरों को भी नहीं पीने देती।

मेरी बेटियों, विभा और ऋचा को वे मुझसे भी ज्यादा प्यार करती थीं। उन्हें अक्सर प्यार से 'विटामिन' 'टानिक' कहा करती थीं। जब मैंने नौकरी शुरू की तो मेरी बेटियाँ बहुत छोटी थीं। मेरी माँ ने उन्हें सँभालने एवं

उनके लालन-पालन में पूरा सहयोग दिया। माँ और बाबूजी के स्नेह, सहयोग और प्रोत्साहन के बिना नौकरी करना संभव ही नहीं होता।

माँ बड़े प्यार से ऋचा को उठाती थीं एवं तैयार किया करती थीं। इस पर बाबूजी ने एक बड़ी प्यारी कविता लिखी है। जिसकी कुछ पंक्तियाँ मैं यहाँ उद्धृत करना चाहती हूँ।—

ऋचा हरा देती है मुझको।
मैं उठता पहले वह पीछे,
पीती दुद्धू आँखें मीचे।
उसकी नानी उसे जगाती।
हिला-डुला गुदगुदी लगाती।।

वह उठती है हँसते-हँसते,
अँगड़ाई ले धीरे-सुस्ते।
हाथ जोड़ती सिया-राम को,
बड़े प्रेम से हनुमान को।।

फिर तो फिरकी बन जाती है,
झटपट वह सजधज जाती है।
मैं भी होड़ लगाता रहता,
दाढ़ी तुरत बनाता रहता।।

पर वह अपना डिब्बा लेकर,
मोजा-जूता स्वयं पहनकर।
टा-टा करके चल देती है,
रोज मुझे वह छल लेती है।।

पढ़ने जाती बालकुंज में,
खो जाती पर गीत कुंज में।
मचल डरा देती है मुझको,
ऋचा हरा देती है मुझको।।

मेरी पी-एच.डी. का सारा श्रेय मेरी माँ को है। हमेशा मुझसे कहती रहती थीं—पढ़ो, पढ़ो, लिखो, लिखो। "गृह कारज नाना जंजाला" और नौकरी के बीच पढ़ने-लिखने का समय निकाल पाना बहुत कठिन होता था। पर मेरी माँ मुझे सदा उत्साहित करती रहती थीं। जिस दिन मैंने थीसिस सबमिट की, वे सबसे ज्यादा प्रसन्न थीं। दुःख इसी बात का है कि मुझे डिग्री मिलते हुए वे नहीं देख सकीं। उसके पहले ही उनका देहान्त हो गया। डिग्री मिलने पर जितने भी बधाई के पत्र आये उन सबमें एक ही बात लिखी थी कि "तुम्हें डिग्री मिलने से आज जिसे सबसे ज्यादा खुशी होती वही नहीं रहीं।" न जाने भगवान कभी-कभी इतने क्रूर क्यों हो जाते हैं। जबकि माँ इतनी भक्त थीं, भगवान के प्रति उनकी इतनी आस्था थी। जम्मू के पास वैष्णो देवी का तीर्थ स्थान है। पहाड़ की कठिन चढ़ाई के बाद देवी की गुफा आती है, माँ चढ़ाई चढ़ते-चढ़ते थक जाती थीं, रुआँसी हो जाती थीं, पर न कुछ खाती थीं, न पीती थीं। उनकी मान्यता थी कि देवी के दर्शन सुच्चे मुँह ही करने चाहिए।

बाबूजी के साथ माँ ने चारों धाम की यात्रा की थी। अर्थात् जगन्नाथपुरी, द्वारका, बद्रीनाथ धाम एवं रामेश्वरम् चारों मुख्य तीर्थ स्थानों के दर्शन किये थे। इससे वे अपने आप को कृतकृत्य मानती थीं।

माँ-बाबूजी ने बद्रीनाथ, केदारनाथ के साथ-साथ यमुनोत्री एवं गंगोत्री की भी यात्रा की थी। गंगोत्री से गोमुख की यात्रा अत्यन्त दुर्गम है। पच्चीस किलोमीटर का पहाड़ी रास्ता पैदल ही तय करना पड़ता है। पर माँ की श्रद्धा और विश्वास के सामने ये कठिनाइयाँ कुछ भी नहीं थीं। इन समस्त तीर्थों की यात्रा को वे अपने जीवन की बड़ी उपलब्धि मानती थीं। इसीलिए चारों धामों की यात्रा करने के बाद उन्होंने अपने सभी परिचितों एवं रिश्तेदारों को भोजन पर आमंत्रित किया था। उस दिन घर में उत्सव का माहौल था।

माँ बाबूजी के छात्रों के प्रति अत्यंत उदार एवं वत्सल थीं। उनके प्रति माँ का व्यवहार अत्यन्त ममतापूर्ण होता था। इस पुस्तक के संपादक श्री प्रेमशंकर माँ के अत्यन्त स्नेहभाजन थे। वे उन दिनों अपनी पी-एच.डी. पर काम कर रहे थे। माँ उन्हें भी निरन्तर पढ़ने-लिखने के लिए एवं अपनी पी-एच.डी. शीघ्र ही पूरी करने के लिए प्रोत्साहित करती रहती थीं।

बहुत कम उम्र में ही माँ का देहान्त हो गया। उन्हें डाइबिटीज थी, जिसके कारण हार्ट अटैक हो गया। पहले अटैक से तो वे बच गईं, पर धीरे-धीरे उनका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। उनका फूल सा चेहरा कुम्हलाने लगा, रोग भीतर ही भीतर उन्हें खोखला करने लगा। सत्ताइस मई सन् उन्नीस सौ अट्ठासी को उनका देहान्त हो गया। यह दुर्घटना मेरे लिए वज्रपात के समान थी। माँ इतनी जल्दी साथ छोड़ देंगी, कभी सोचा भी न था। हमलोग औरों के बारे में ऐसी घटनायें सुनते रहते हैं, पर हमारे साथ भी कभी ऐसा हो सकता है, ये सोच भी नहीं पाते हैं। उनकी कमी हमेशा बनी रहेगी। बस उनकी प्रेमपूर्ण यादें हैं, जो जीवन संग्राम में आगे बढ़ने के लिए हमेशा प्रेरणा देती रहेंगी। ●

श्रीमती विभा बत्रा

मेरी नानी*

सच कहती गांगेय भवन वह, लगता केवल भवन नहीं है।
वह मेरी नानी का घर है पर अब नानी वहाँ नहीं है।।
नानी के रहते उस घर में क्या ही ठाठबाट थे मेरे।
बनते थे पकवान नये नित मुझे खिलाने साँझ सबेरे।।
नानी की अति दिव्य खीर का स्वाद जीभ से गया नहीं है।
किन्तु प्यार से मुझे खिलाने वाला अब वह हाथ नहीं है।।
बहुत कुशल गृहिणी थी नानी, साथ-साथ गुणवती बहुत थी।
प्रिय था उसे काढ़ना-बुनना सचमुच वह मेहनती बहुत थी।।
उसके बुने हुए स्वेटर बिन, कोई सर्दी कटी नहीं है।
पीड़ा हरने वाली ममतामयी गोद पर आज नहीं है।
सुच्चे मुँह वैष्णो देवी के, दर्शन भी कर आयी नानी।
गोमुख की दुर्गम यात्रा भी पैदल की, जब मन में ठानी।।
सबको चारों धाम कराने वाली, असली शक्ति वही है।
श्रद्धा तो हम सब करते हैं, पर नानी सी भक्ति नहीं है।।
नानी के निःस्वार्थ प्रेम से, जीवन सारा ओत-प्रोत है।
मम्मी की पी-एच.डी. की तो, नानी ही प्रेरणा स्रोत है।।
बाबूजी** को मिला मान जो, नानी के तप का ही फल है।
नहीं बीच वह आज हमारे, इससे मेरा हृदय विकल है।। ●

---

* स्वर्गीय श्रीमती इंदिरा शास्त्री (धर्मपत्नी आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री)
* आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

पद्मा सचदेव

विष्णु भैया

जम्मू कश्मीर में महाराजा रणजीत सिंहजी के जमाने में जल्ला पंडित हुआ करते थे। वे इतने प्रभावशाली और मशहूर थे कि उन दिनों उनके नाम से एक कहावत का जम्मू में खूब चलन था— 'उप्पर अल्ला, हेठ जल्ला'।

ऊपर अल्लाह है तो धरती पर पंडित जल्ला है। इन्हीं नामी जल्ला पंडित की प्रपौत्र वधू थीं मेरी बड़ी बुआ जी, और इन्हीं बुआजी की ननद थीं आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री जी की नानी। जी हाँ ये बात उन वक्तों की है जब ऐसे रिश्तों का भी खूब सम्मान होता था। मेरी बुआ अपने छोटे भाई प्रो० जयदेव शर्मा जी को पुत्रवत् मानती थी। मेरे पिता संस्कृत के विद्वान तो थे ही उस वक्त उन्होंने लाहौर के डी. ए. वी. कॉलेज से अंग्रेजी और हिन्दी में एम. ए. तथा एल. एल. बी. भी की हुई थी। विष्णु भैया के पिता पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री बड़े विद्वान थे। मेरे पिताजी की उनके साथ मैत्री का आधार यह विद्वत्ता ही थी। मेरे पिताजी की शादी में शास्त्री जी बारात में गये थे। पिताजी की शादी उधमपुर के जमींदारों के घर हुई पर पिताजी सिर्फ ग्यारह बाराती लेकर गये। उनकी बारात की तस्वीर में पंडित गांगेय नरोत्तम शास्त्री अपनी भव्यता के साथ कुर्सी पर विराजमान हैं और नीचे बैठे बच्चों में विष्णु भैया भी हैं। पिताजी न सिर्फ ग्यारह बाराती ही लेकर गये या वहाँ से शादी के बाद ही वापिस आने पर जोर दिया बल्कि दहेज नहीं लूंगा का जयघोष भी किया। नतीजतन मेरे पड़नाना शादी में शामिल भी न हुये।

मैं आज भी कभी-कभी उस चित्र को देख कर चमत्कृत होती हूँ कि मेरी माँ की बारात में विष्णु भैया भी थे। विष्णु भैया की शादी में मैं बारात में तो नहीं गई, क्योंकि उस समय औरतें बारात में नहीं जाती थीं पर उनके ब्याह की कुछ स्मृतियाँ मेरे दिमाग में सुरक्षित हैं।

विष्णु भैया की शादी में सारी सारी रात ढोलक बजाकर गीत गाएँ हैं मैंने। मेरी बुआ जी की पोती विजय, तोषी बहन जी और सब लोग खूब गाते थे। तब विष्णु भैया के पिताजी व माताजी की भी स्मृति है। शरमाए से इधर उधर आते-जाते विष्णु भैया भी याद हैं। जब वो घोड़ी पर चढ़े हुये थे तब बहनों द्वारा घोड़ी को चने की दाल खिलाने और बाग फड़ाई रस्म में मैं भी शामिल थी। विष्णु भैया कहते हैं मैंने देखा एक लड़की का गाने में सबसे ऊँचा स्वर है। वो तुम ही थी। गीत की पंक्ति है—

जन्दा मैनू नै रोक्केया, देई जा बाग फड़ाई।
साढ़े कोला केह तूँ मंगनी, बाबल देग बधाई।।

(ससुराल जाते बहनों ने कहा हमारा बाग फड़ाई का नेग देकर जाओ। दूल्हा कहता है मुझसे क्यूँ माँगती हो, नेग तो तुम्हें बाबुल ही देंगे।)

विष्णु भैया जी की नानी की ही इच्छा रही होगी जो चारों बहुएँ जम्मू की हैं। इन्हें कलकत्ता की सुन्दर बहुएँ कहा जाता था। विष्णु भैया की पत्नी दर्शना बहनजी का मुँह निश्चय ही चाँद से अधिक सुन्दर था। अखरोट की दातुन से लाल हुये होंठों पर वे हल्की सी गुलाबी लिपस्टिक लगाती थीं तो यूँ लगता था जैसे गुलाब के लाल फूल

पर चंपा की कली रख दी गई हो। दर्शना बहनजी जम्मू में फत्तू के चौगान के गुरमत कन्या पाठशाला में दसवीं क्लास में पढ़ती थीं। पंडितों का अच्छा घराना था। स्कूल में छुट्टी के समय कहीं खड़े होकर विष्णु भैया के घर वालों ने उन्हें देखते ही पसन्द कर लिया था।

शादी के दूसरे दिन दर्शना बहनजी और शीला बहनजी दोनों दुल्हिनें विनायक मिश्र की धर्मशाला की पहली मंजिल की बहुत बड़ी छत पर बैठी थीं। उन दोनों दुल्हिनों को हल्दिया रंग की साड़ियाँ पहनाई गई थीं। पीले सोने के जेवरातों से उनके मुँह चमक रहे थे। मैं छोटी सी थी पर नई दुल्हिनों पर जान छिड़कने को जी चाहता था। बस देखती ही रह गई थी। दर्शना बहनजी बहुत प्यार से बात करती थीं। पन्द्रह सोलह बरस की उम्र का रंग कच्चा होता है उस पर विष्णु भैया की विद्वत्ता का रंग चढ़ गया था।

मुझे बचपन से ही बच्चे और नई बहुएँ बहुत अच्छी लगती हैं। जब विष्णु भैया की बेटी भारती पैदा हुई तो तोषी बहन जी ने ही उसे बहुत दुलार से उसका बचपन सुन्दर कर दिया। उनके घर में भारती पहला बच्चा थी। बेहद लाडली। हथेलियों में घूमती, गोदों में सोती, हाथों में झूलती। उसका गोल चेहरा शायद अपनी दादी जैसा था। बातें करने में पिता की तरह पटु। भारती का नित नया रूप देखना तोषी बहनजी का अनेक श्रृंगार का परिणाम होता। कभी फ्राक, कभी अचकन, दुपल्ली टोपी, धोती सब में सज कर नित नई बन उठती दो ढाई या तीन साल की भारती। दर्शना बहनजी सिहर कर कहतीं इसे घर भर से इतना दुलार इतना प्यार मिलता है मैं तो किनारे खड़ी देखती रहती हूँ।

कलकत्ता में ब्याही ये लड़कियाँ अक्सर जम्मू आती रहती थी। भारती तो तोषी बहनजी के साथ ही ज्यादा रहती थी। एक बार मैं गई। शाम ढल रही थी। परिवार में भारती की दो तीन और बहनें हो गई थीं। मैं गई तो मैंने ऊपर दालान में एक अद्‌भुत दृश्य देखा। अनु को गिलास से कुछ पिलाया जा रहा था। भारती सब की लीडर थी। मुझे देख कर कहने लगी मौसी इसकी अम्मा बायस्कोप देखने गई हैं। अनुराधा का जी घबड़ा रहा था हम इसे ग्लुकोज पिला रहे हैं। मेरी हँसी मुँह में घुमला रही थी पर मैं चुप रही। मामला काफी गंभीर था। भारती की सरदारी में अनु की देखभाल सुव्यवस्थित ढंग से हो रही थी। मैं निश्चिंत होकर वापिस आ गई। ये किस्सा मैं कभी नहीं भूलती हूँ।

मैं अट्ठारह बरस की उम्र में अंतड़ियों के टी. बी. रोग से घनघोर बीमार पड़ी थी। श्रीनगर के डुगजन हस्पताल में एकाएक विष्णु भैया देखने आए थे। मुझे कुछ-कुछ याद है।

विष्णु भैया को घर में सब बच्चे बाबूजी कहते हैं। अनुराधा से मैंने पूछा बचपन में बाबूजी कैसे लगते थे। तुम्हें क्या याद है। अनुराधा अब दो बेटों की अम्मा और कुशल गृहिणी हैं। कहने लगी—

"हम चार बहनें थीं। उनकी घूमने वाली कुर्सी के सामने आदमकद शीशा लगा था। सामने ही उनके पढ़ने लिखने की मेज थी। हम चारों बहनें रहतीं। पढ़ाने का जिम्मा बाबूजी का था। कई बार वो हमारे नाम बदल देते। भारती का नाम अपराजिता हो जाता। दर्शना मम्मी इन्दू मम्मी हो जाती। जया अजिता हो जाती विजया अपरा हो जाती और मैं अनामिका। सब के नये नामों के बाद वो कहते मैं कौन हूँ हम कहें बाबूजी। वो कहें नहीं शशांक। फिर हमारे भाई का नाम उन्होंने शशांक रखा।"

"हमारी बाल मण्डली के कार्यक्रम होते। बेड कवर का पर्दा बड़े कमरे में लगा दिया जाता। घर की बहुएँ पर्दा खींचती बंद करती। हम लड़कियाँ कई तरह के कार्यक्रम करतीं। पढ़ाई में कभी फिसलते तो बाबूजी कान पकड़ कर उमेठते थे। उनकी कनेठी हमेशा याद रही।"

दिल्ली में डॉ० धर्मवीर भारती और पुष्पा भाभी हमारे बंगाली मार्केट वाले फ्लैट में आए हुये थे। भारती जी को वो इलाका बहुत पसन्द था। वहाँ इलाहाबाद का पनवाड़ी उनकी पसन्द का पान बनाता और अवधी में बात करता। भैया-भाभी, मैं, मेरे पति बैठकखाने में बैठे थे ठहाकों की आवाज सीढ़ियों को चुप्पी तोड़ कर ऊपर आ पहुँची। भैया खुश हुये। देखा तो विष्णु भैया और अटलजी भारती जी से मिलने आए थे। विष्णु भैया ने कहा देखो पद्मा हम सरप्राइज देना चाहते थे। फिर कितनी बातें, कितनी कविताएँ, कितने जिक्र उस जगह होते रहे।

इटावा में एक हिन्दी का इनाम गैर हिन्दी भाषी लोगों को मिलता है। उस साल मुझे मिला था। मुझे अनुराधा ही ले गई। विष्णु भैया वहाँ गवर्नर की हैसियत से आये हुये थे। बहुत प्रसन्न हुये। उन्हें देख कर हमेशा उस माज़ी की याद आती है जहाँ सब अपने होते थे। अमृत वर्ष पर उन्हें ढेरों बधाइयाँ। ●

तारा दूगड़

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का जीवन परिचय

सुप्रसिद्ध समालोचक, मूर्धन्य विद्वान, प्रखर चिन्तक, सम्मोहक वक्ता एवं छात्र वत्सल प्राध्यापक आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ने अपने अप्रतिम व्यक्तित्व एवं अतुलनीय साहित्यिक कर्तृत्व के द्वारा देश के विशिष्ट स्थान बनाया है।

साहित्यिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रों में शास्त्री जी की गतिविधियाँ उनके बहुआयामी व्यक्तित्व का परिदर्शन कराती हैं। विविध क्षेत्रों को अपनी सेवाओं से परिपुष्ट करने वाले शास्त्रीजी की असली पहचान उनका साहित्यकार एवं अध्यापक रूप ही है। वही वह मुख्य धारा है जिसमें अन्य समस्त अन्तर्धाराएँ समाहित हैं। साधारण वेशभूषा वाले शास्त्रीजी की प्रतिभा असाधारण है।

जन्म एवं परिवार

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का जन्म २ मई १९२९ को कलकत्ता में हुआ। उनके पितामह काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान षड्दर्शनाचार्य पं० कृष्ण दयालु शास्त्री एवं पिता पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री थे। अप्रतिम मेधा के धनी गांगेय नरोत्तम शास्त्री हिन्दी जगत के सुप्रतिष्ठित विद्वान और प्रख्यात कवि के रूप में समादृत रहे हैं। केवल २० वर्ष की उम्र में वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्राध्यापक बने। शास्त्री जी के प्रपितामह जम्मू के नगरोटा परिमंडल से काशी आ कर बस गये थे। शास्त्री जी डोगरा ब्राह्मण हैं।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की माता का नाम श्रीमती रूपेश्वरी देवी था। परिवार में दो बड़े भाई श्री कृष्णकान्त शास्त्री (स्वर्गीय) एवं श्री रमाकांत मिश्र (स्वर्गीय) तथा एक छोटे भाई श्रीयुत श्रीकान्त शास्त्री हैं। एकमात्र छोटी बहन मीरा देवी का शुभ-विवाह डॉ० जगदीश प्रसाद शर्मा से हुआ था। कुछ वर्षों पूर्व श्रीमती मीरा शर्मा का देहांत हो गया।

शास्त्रीजी का बाल्यकाल उनकी बड़ी नानी-माँ के स्नेह संरक्षण में बीता। वे अपने जमाने के अत्यन्त प्रतिष्ठित समाजसेवी पं० विनायक मिश्र की पोती थीं। परिवार की वरिष्ठ सदस्या होने के नाते शादी विवाह के मामलों में नानीमाँ की अहम भूमिका होती थी। १९५२ में विष्णुकान्त जी के बड़े भाई के विवाह के लिये पूरा परिवार जम्मू गया हुआ था। शास्त्री परिवार जम्मू के काशी और फिर कलकत्ता आकर बस जरूर गया था पर सभी लड़कों के विवाह संस्कार जम्मू में ही सम्पन्न हुए। विष्णुकांत जी का शुभ विवाह २६ जनवरी १९५३ को जम्मू निवासी स्व. पं० अमर चंद शर्मा की सुपुत्री कुमारी इंदिरा के साथ सम्पन्न हुआ। इस संदर्भ में एक रोचक प्रसंग उल्लेखनीय है।

विष्णुकान्त जी के बड़े भैया की शादी में सम्मिलित होने सारा परिवार जम्मू गया था। उनकी नानीमाँ, बाबूजी एवं माँ पर वहाँ रह रहे रिश्तेदारों द्वारा यह कह कर दबाव डाला गया कि कलकत्ते से इतनी दूर बार-बार जल्दी आना तो संभव नहीं है अतः विष्णु का भी विवाह करके ही वे सब कलकत्ता जायें। रिश्तेदारों का सत्परामर्श शास्त्रीजी की नानीमाँ एवं अभिभावकों को जँच गया और फिर नानीमाँ ने अधिकारपूर्वक सिर्फ इतना कहते हुए विष्णुकान्त जी को सूचना भर दी कि 'बड़ी सुन्दर, बड़ी अच्छी लड़की है। तू देखकर क्या करेगा? क्या मैं तेरे लिए खराब बहू लाऊँगी?" इस प्रकार नानीमाँ दो दौहित्रों की नई दुल्हनों को साथ लेकर प्रसन्नता के साथ कलकत्ता लौटीं।

शास्त्री दम्पति की एकमात्र संतान डॉ. भारती शर्मा हैं। वे साहित्यानुरागी, कलाप्रिय, प्रखर वक्ता एवं कोमलहृदया हैं। वे स्वयं प्राध्यापिका रह चुकी हैं। शास्त्रीजी के जामाता श्री विनोद शर्मा इण्डियन ऑयल में वरिष्ठ अधिकारी के रूप में कार्यरत हैं। शास्त्रीजी की दो दौहित्रियाँ कुमारी विभा एवं ऋचा शर्मा हैं। विष्णुकान्त जी की धर्मपत्नी श्रीमती इन्दिरा शास्त्री का देहावसान २७ मई १९८८ को कलकत्ता में हुआ।

श्रीमती शास्त्री अत्यन्त धर्मनिष्ठ एवं आध्यात्मिक-सांस्कृतिक रुचि वाली गृहिणी रही हैं। संगीत एवं साहित्य के प्रति उनका आत्मीय लगाव था। अपने गार्हस्थिक दायित्व का निर्वाह करते हुए भी उनकी यह भावना रही है कि भारतीय नारी घर और बाहर दोनों ही क्षेत्रों में अपनी क्षमता का परिचय देकर समाज का मंगल करे। श्री रामचरितमानस एवं श्रीमद्भगवद्गीता के प्रति उनकी विशेष निष्ठा रही है। उनके देहावसान के उपरांत लगातार १३ वर्षों तक कलकत्ता के श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय ने श्रीमती इंदिरा शास्त्री स्मृति गीता प्रतियोगिता के द्वारा महानगर के विभिन्न विद्यालयों की छात्राओं को इस प्रतियोगिता के अन्तर्गत पुरस्कृत किया। २००२ से उन्हीं की स्मृति में इंदिरा-विष्णुकान्त शास्त्री मातृशक्ति सम्मान की शुरुआत की गई।

विविध क्षेत्रों में शास्त्रीजी की सफलता के पीछे निश्चय ही श्रीमती इंदिरा शास्त्री की प्रभावी भूमिका रही है। 'तुलसी के हिय हेरि' कृति अपनी धर्मपत्नी को समर्पित करते हुए विष्णुकान्तजी ने इसे स्वीकार भी किया है—

दिवंगता पत्नी सुदर्शना इंदिरा को
जिसने मुझे बनाने के प्रयास में अपने को मिटा दिया।

शिक्षा-दीक्षा

विष्णुकान्त शास्त्री प्रारम्भ से ही मेधावी छात्र रहे हैं। छठीं कक्षा से वे लगातार प्रथम स्थान प्राप्त करते रहे हैं। परिवार में तीसरी पीढ़ी में लड़के हुए थे। अतः शास्त्री जी सहित चारों भाइयों का घर में अत्यधिक प्यार-दुलार होता था। यद्यपि स्कूल घर से करीब पौन किलोमीटर की दूरी पर ही था फिर भी स्कूल जाने-आने के लिए मोटर के साथ-साथ एक अतिरिक्त नौकर की भी व्यवस्था थी ताकि वे गाड़ी से उतरने के बाद अपने गंतव्य तक सुरक्षित पहुँच सकें। उनका मकान भी कलकत्ता की व्यस्ततम सड़क चित्तरंजन एवेन्यू पर स्थित है जहाँ लगातार रफ्तार से गाड़ियाँ दौड़ती रहती हैं। ऐसे में नानीमाँ के ममतामयी मन में सदैव यही चिन्ता लगी रहती थी कि 'कहीं बाहर खेलते समय कोई लड़का सड़क पर चला गया तो'[3] और इस तो का इन नादान बच्चों के पास तब कोई जवाब नहीं होता था।

एक निजी संस्मरण 'मेरा बचपन' में शास्त्री जी लिखते हैं— 'अपने बचपन के बारे में सोचता हूँ तो लगता है कि संरक्षणशील, आस्तिक, सम्पन्न परिवार के बीच बीतने के कारण वह सुखमय तो था किन्तु खतरा उठाने या जीवन के साथ नये-नये प्रयोग करने की प्रेरणा देने में असमर्थ भी था। मेरे पिता पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री संस्कृत, हिन्दी के उद्भट विद्वान एवं अत्यंत मर्यादावादी व्यक्ति थे। उनकी इच्छा ही हमलोगों के लिये कानून थी।'[4]

कुशाग्रबुद्धि होने के कारण शास्त्रीजी को कक्षा में अत्यधिक मान एवं स्नेह मिलता था इसलिये वे विद्यालय जाने के लिये सदैव तत्पर रहते थे। बचपन पर केन्द्रित संस्मरण में ही शास्त्रीजी लिखते हैं— 'बचपन में मैं न अधिक चंचल था न शरारती। पढ़ना-लिखना मुझे खेलने से ज्यादा अच्छा लगता था।'[5] और इसका निश्चित प्रमाण यह घटना है- एक बार शास्त्रीजी की तबीयत कुछ खराब हो जाने पर नानीमाँ ने उन्हें स्कूल नहीं जाने की सलाह दी और घर पर रहकर डॉक्टर के आने की प्रतीक्षा करने को कहा। नानीमाँ के आदेशानुसार जब दोनों बड़े भाई

विष्णुकान्त जी को विद्यालय जाने के लिए छटपटाता छोड़कर मोटरपर चढ़कर चले गये, तब शास्त्री जी के विद्यालय-प्रेमी मन पर क्या बीती.... इसका वर्णन स्वयं उन्हीं के शब्दों में पढ़ें-

'सीढ़ी के दरवाजे में कुंडी लगाकर माँ, नानीमाँ ऊपर चौके में चली गईं। उन लोगों के जाने के बाद मैं एक कुरसी खींच लाया दरवाजे के पास। उस पर चढ़कर मैंने कुंडी खोली, अपना बस्ता लिया और पैदल गिरता पड़ता स्कूल चलागया। रोज हमारे साथ जाने वाले नौकर ने जब मुझे अकेले पैदल आते देखा तो उसके होश उड़ गए। वह समझ गया कि घर में मेरी खोज हो रही होगी। स्कूल के जमादार को यह जिम्मेदारी देकर कि हमलोग कहीं बाहर नहीं निकल जायँ, वह घर गया। मेरे सकुशल पहुँचने के समाचार से माँ, नानीमाँ आदि को शांति मिली पर उस दिन घर लौटने पर मेरी कसकर पिटाई भी हुई।.... पड़ोस के कुछ बच्चे ऐसे थे जो स्कूल नहीं जाना चाहते थे, अतः बीच-बीच में उनकी पिटाई होती थी। बड़ी नानीमाँ के बाद में कई बार कहा कि और बच्चे इसलिये पिटते हैं कि वे स्कूल जाना नहीं चाहते, विष्णु बेचारा इसलिये पिटा कि वह मना करने पर भी स्कूल चलागया था।'[4]

सात वर्ष की उम्र में उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ और धर्मपरायण पिताजी के निर्देशानुसार वे तभी से नियमित संध्यावंदन करने लगे।संस्कृत के स्पष्ट एवं शुद्ध उच्चारण के कारण बाबूजी को शिक्षानुसार विष्णुकान्त जी बचपन से ही पूजा, दान एवं श्राद्ध आदि के संकल्प बखूबी करवाने लग गए थे जो उनकी नानीमाँ को सात्विक संतोष प्रदान करते थे। प्रत्येक एकादशी के दिन घर पर कथा का वाचन होता था जिसे सिर्फ घरवाले ही नहीं अपितु अच्छी खासी संख्या में समाज, परिवार एवं पड़ोस की महिलाएँ भी सुनने आया करती थीं। प्रारंभ में पंडित जी कथा कहने आते थे पर बाद में कथा-वाचन का कार्य इन्हीं लोगों के द्वारा सम्पादित होने लगा। बड़ी नानीमाँ अपने कर्णप्रिय स्वरों में भजन कीर्तन में पूरी सहभागिता निभाती थीं। धर्म एवं अध्यात्म के प्रति गहरी संसक्ति शास्त्री जी को नानीमाँ, माता-पिता एवं परिवार से उत्तराधिकार में मिली है।

१९४५ में सारस्वत क्षत्रिय विद्यालय से विष्णुकान्त जी ने मैट्रिक एवं १९४७ में प्रेसीडेन्सी कॉलेज, कलकत्ता से इंटरमीडिएट (विज्ञान) परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कीं।

प्रायः सभी माता-पिता अपनी अपूर्ण कामनाओं को अपनी संतति के माध्यम से पूरा करना चाहते हैं। शास्त्री जी के साथ भी वैसा ही हुआ। उनके पिता चाहते थे कि वे वनस्पति-विज्ञानी बने पर बी-एस.सी. (विद्यासागर कॉलेज, कलकत्ता) करने के बाद विज्ञान के प्रति उनका संवदेनशील मन विद्रोह कर बैठा और उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम.ए. की पढ़ाई शुरू कर दी। चूँकि बाबूजी की इच्छा थी कि वे एडवोकेट ही बनें अतः एम.ए. के साथ एल-एल.बी. की पढ़ाई भी चलती रही।

विष्णुकान्त जी ने १९५३ में कलकत्ता विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम. ए. की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान लेकर स्वर्ण पदक प्राप्त किया और एलएलबी की उपाधि भी उसी साल प्राप्त की।परन्तु कानून की अपेक्षा उनका झुकाव हिन्दी साहित्य की ओर ही अधिक था। साहित्य के प्रति इस अभिरुचि ने स्वाभाविक रूप से उन्हें अध्यापन की ओर प्रवृत्त किया। जगदीश गुप्त की पंक्तियाँ हैं—

भावी अपना मार्ग स्वयं ही चुन लेती है
आगत के अनुकूल बुद्धि-मन कर देती है
किन्तु मनस्वी कोई उसकी दुर्वह गति को—
मोड़ चुनौती देता जैसे स्वयं नियति को।[5]

शास्त्री जी की प्रतिभा का प्रस्फुटन हिन्दी साहित्य में ही होना था अतः विज्ञान एवं कानून के गलियारों से होते हुए साहित्य के क्षेत्र में ही उन्होंने प्रवेश किया।

विष्णुकान्त जी के पिता स्वयं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं काशी विद्यापीठ में प्राध्यापक रह चुके थे। वे अध्यापकीय पेशे के सुख-दुःख दोनों से भली भाँति परिचित थे अतः शास्त्रीजी को जब कलकत्ता विश्व विद्यालय में हिन्दी साहित्य के प्राध्यापक के रूप में नियुक्ति मिली तब अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में हृदय से आशीर्वाद देते हुए उन्होंने यही कहा– 'परिश्रम पूर्वक तैयारी करके यदि पढ़ाओगे तो तुम्हें कभी कोई असुविधा नहीं होगी।'[3] शास्त्रीजी की अप्रतिम मेधा एवं सतत कर्म निष्ठा का ही परिणाम था कि उन्होंने एम.ए. की कक्षाओं में अधिकारपूर्वक पढ़ाना शुरू कर दिया। एम.ए. की पढ़ाई समाप्त करते ही उसी स्तर के विद्यार्थियों को पढ़ाना आसान काम नहीं था। शास्त्रीजी अपनी कक्षा के व्याख्यानों की तैयारी में रात दिन जुटे रहते थे। इस संदर्भ में वे स्वयं लिखते हैं– 'मैं सुबह से लेकर रात तक पढ़ता ही रहता था। पिताजी मेरे कमरे के बगल वाले कमरे में रहते थे। वे जब आयें, देखें, विष्णु पढ़ रहा है। कक्षा लेने गया और आकर फिर पढ़ने बैठ गया। मेरे विभागाध्यक्ष उस समय डॉ० सत्येन्द्र थे। मेरे पिताजी एक दिन उनसे मिले। उन्होंने उनसे कहा कि विष्णु बहुत पढ़ता है इतना पढ़ने से वह बीमार पड़ जाएगा, आप उसको मना कीजिये कि इतना न पढ़े। डॉ. सत्येन्द्र ने मेरी पीठ ठोंकते हुए मुझसे कहा कि आज तक पचासों पिताओं ने मुझसे कहा कि मेरा बेटा पढ़ता नहीं, आप उससे कहिये कि वह पढ़ा करे। पर आज पहली बार एक पिता ने मुझसे कहा कि मेरा बेटा बहुत पढ़ता है आप उसको मना कीजिये कि इतना न पढ़े।'[4] यह शास्त्री जी का स्वभाव ही है कि वे जिस किसी कार्य को भी करते हैं उसे पूर्ण मनोयोग से करते हैं। वे स्वयं कहते हैं– 'मेरा स्वभाव ही ऐसा विचित्र है कि एक छोटा सा लेख लिखने के लिये भी मैं पुस्तक लिखने जैसी तैयारी करता हूँ।'[5]

प्रेरणा एवं प्रभाव

'मनुष्य केवल अपनी काया में ही नहीं जीता, वह अपनी कृति में जीता है, कीर्ति में जीता है, संतति में भी जीता है।'[6] यदि यह कहा जाये कि पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री की सहृदयता, पर दुःखकातरता, अध्ययनशीलता, कवित्व प्रतिभा, प्रकृति-प्रेम, संस्कृति-प्रेम एवं देशभक्ति की सुदृढ़ भावना उनके सुपुत्र विष्णुकान्त शास्त्री में पूरी तरह जीवित है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं। अपने श्रद्धेय पिता से जो नैसर्गिक गुण शास्त्री जी को मिले उन्हें अपनी निष्ठा एवं श्रम से तराश-निखार कर उन्होंने उसका बहुमुखी विकास किया है।

अभिजात वैष्णव कुल के संस्कारों में पले-बढ़े होने के कारण नियमित पूजा-अर्चन, संस्कृत के श्लोकों का शुद्ध पारायण आदि सत्संस्कार शास्त्री जी में बचपन से ही विकसित होने लगे। अध्यात्म, संस्कृति एवं साहित्य के जो बीज विष्णुकान्त जी के बाल मस्तिष्क में पड़ गये थे वे अनुकूल परिवेश एवं उचित संस्पर्श पाकर पल्लवित-पुष्पित होने लगे। पल्लवन काल में अनेक उच्च कोटि के साहित्यकारों, दार्शनिकों, कवियों, शिक्षागुरुओं, संतों, महात्माओं एवं विचारकों से उन्हें प्रेरणा-पाथेय मिलता रहा है। 'कहै पद्माकर सुगंध की तरंग जैसो पायो सतसंग फेरि पाइबो कहा रह्यौ। सत्संग के सुगंध की तरंग किसमें कितनी बस पायी यह बात अलग है, किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि श्रेष्ठ जनों का साहचर्य सुवासित करता है। मैं इस दृष्टि से भाग्यवान हूँ कि मुझे विविध क्षेत्रों के सत्पुरुषों का स्नेह, सौहार्द्र मिलता रहा है।'[7]

अपनी संस्मरणात्मक कृति की भूमिका में लिखी शास्त्री जी की इन पंक्तियों के अनुसार उनके जीवन में ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों की लम्बी सूची है। वे इस अर्थ में सचमुच भाग्यशाली रहे हैं कि उन्हें एक साथ साहित्यिक,

सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों के विशिष्ट एवं प्रख्यात महापुरुषों का स्नेह साहचर्य प्राप्त हुआ है।

कविता शास्त्री जी के लिए 'प्रीतिकर जीवन ऊर्जा है।'[३] फिर इस ऊर्जा या टॉनिक के बिना उनका कलाप्रिय जीवन कैसे निखर सकता था? स्वाभाविक रूप से उन्हें बचपन से ही अच्छे कवि, अच्छी कविताएँ एवं श्रेष्ठजनों का साहचर्य ही सर्वाधिक प्रिय था।

तब चालीस-पचास के दशक में कवि श्री हरिवंशराय बच्चन की कविताओं की चर्चा सरे-आम हुआ करती थी। उन्हीं दिनों नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर हुए विराट कवि सम्मेलन में बच्चन जी की कविताओं ने श्रोताओं पर विशेष रूप से अपना प्रभाव छोड़ा था। उस वक्त ९वीं कक्षा के विद्यार्थी के रूप में अपने प्रिय कवि की रचनाएँ स्वयं उन्हीं के मुख से सुन कर शास्त्री जी ने कृतकृत्यता का अनुभव किया था।

विष्णुकान्त जी के पिताजी को संस्कृति के हजारों श्लोक कण्ठस्थ थे। शास्त्री जी बताते हैं— 'वे पुरानी परिपाटी से पढ़े थे जिसका आदर्श था विद्या कण्ठ और पैसा गण्ठ अर्थात् समय पर वही विद्या काम आती है जो जबानी याद हो और वही पैसा मदद करता है जो अपनी गाँठ में हो। पैसा तो खैर मेरी गाँठ में भी कभी ज्यादा आया नहीं.... विद्या के सम्बन्ध में कुछ दूर तक मैं भी अपने पिता के चरण चिन्हों पर चला।'[४] इसके साथ ही वे कहते हैं— 'मेरी माँ को इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिये कि उन्होंने बचपन से ही मुझे बहुत से अच्छे श्लोक और छन्द याद कराये।'[५] उनके पिता ही नहीं बल्कि उनकी माता भी गीत रचती थीं, भजन लिखती थीं।

विष्णुकांत जी के व्यक्तित्व निर्माण में कलकत्ता, वाराणसी तथा जम्मू का प्रवर्तनकारीसूत्र रहा है। बंगीय नवजागरण के परिवेश ने उनको प्रबुद्ध तथा कलात्मक स्थितियों के साथ प्रतिबद्ध किया, वाराणसी ने उनके साहित्यकार को उकेरा तथा जम्मू के उनके इष्टदेव श्री रघुनाथ जी ने उनको परम निष्ठावान रामभक्त बनाया।

माँ के सत्प्रयासों एवं पिताजी से विरासत में मिली स्मरणशक्ति का व्यापक उपयोग शास्त्री जी ने अपने प्रिय कवियों की कविताएँ याद करने एवं फिर उनका भावपूर्ण पाठ करने में किया। अच्छी काव्य पंक्तियों को अपनी डायरी में उतार कर कण्ठस्थ कर उन्हें प्रसंगानुकूल सुनाकर वे श्रोताओं को भाव-विभोर कर देते हैं। उनका मानना है— 'जिस कविता से वास्तविक आनंद मिला हो उसे कण्ठस्थ कर मित्रों को सुनाकर ही आंशिक रूप से कवि ऋण से उऋण हुआ जा सकता है।'[६]

यह बच्चन जी की विशेषता रही है कि अपनी करुणा एवं प्रेम को साधारण जन के साथ उनके स्तर पर जुड़कर वे इतनने सहज, सरल और स्वभाविक भाव-भंगिमाओं द्वारा प्रस्तुत करते थे कि कोई भी सहृदय पाठक अनायास ही उनका यशंवद होता चला जाता था। और यही कारण है कि शास्त्री जी को बच्चन जी की सतरंगिनी, मिलन-यामिनी, प्रणय-पत्रिका आदि काव्य संग्रहों की काफी रचनाएँ तब ही कण्ठस्थ हो गई थीं। विष्णुकान्त जी लिखते हैं— 'मानवीय प्रणय भावना का इतना सहज, इतना मांसल, इतना स्वस्थ, इतना प्राणवान चित्रण हिन्दी में विरल है। इन कविताओं को याद नहीं करना पड़ता, ये अपने आप याद हो जाती हैं और फिर उपयुक्त अवसरों पर अकेले में या स्नेहियों के बीच इनकी आवृत्ति करना कितना रोमांचक, कितना आनंददायी अनुभव है। यह कैसे बताऊँ।'[७] बच्चन जी की जिन्दादिली, सहजता, सरलता, निर्भीकता एवं छोटों के प्रति उदारता शास्त्रीजी के मन को गहरे तक प्रभावित कर गयी।

शास्त्री जी के पिता स्व० गांगेय नरोत्तम जी शास्त्री महादेवी वर्मा को बहन की तरह सम्मान प्रदान करते थे। महादेवी जी का शास्त्री जी के परिवार के साथ घनिष्ठ पारिवारिक सम्बन्ध था। जब वे दसवीं कक्षा के छात्र थे एक

दिन अचानक महादेवी जी की कविता की व्याख्या लिखते समय स्वयं उन्हीं का विष्णुकांत जी के घर पर आ जाना उन्हें एक क्षण के लिए स्तब्ध कर गया और जब वे स्वयं यह जान गईं कि शास्त्री जी उन्हीं की कविता की व्याख्या लिख रहे हैं तो खूब जोर-जोर से हँसने लगीं। 'हँसना तो मानो उनकी आदत थी... उनकी वह शुभ्र निष्कलुष हँसी मन का मैल बहा ले जाती थी.... मुझे उनका स्नेह तब से बराबर मिलता रहा।"[७]

१९७५ में नागपुर विश्व हिन्दी सम्मेलन में राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति पथभ्रष्ट राजनेताओं द्वारा की जा रही अवहेलना की भर्त्सना महादेवी जी ने जिन शब्दों में की उसकी अमिट छाप आज भी शास्त्री जी के दिलो-दिमाग पर अंकित है। अनेक केन्द्रीय मंत्रियों, मुख्यमंत्रियों और राजनेताओं के समक्ष अंग्रेजियत के खिलाफ एवं राष्ट्रभाषा के सम्मान में कहे गये वचन निश्चय ही शास्त्री जी के लिये अनुकरणीय थे। शास्त्री जी के जीवन में जब-जब राष्ट्रभाषा के सम्मान एवं उपयोग की बात आई तब-तब उन्होंने राष्ट्रभाषा एवं मातृभाषा का अपने आचरण द्वारा यथोचित सम्मान किया एवं तथाकथित अंग्रेजियत की खुलकर उपेक्षा की।

महाप्राण निराला जैसे यशस्वी रचनाकार से शास्त्री जी का पहले-पहले परिचय काशी के अपने घर पर हुआ जब वे अखिल भारतीय विक्रम परिषद द्वारा आयोजित वृहद कवि सम्मेलन में सम्मिलित होने पधारे थे। अपने पिताजी द्वारा कराए गए उस प्रथम साक्षात्कार के दौरान निरालाजी की तेजोदीप्त पानीदार बड़ी-बड़ी आँखें, उन आँखों से टपक रहे वात्सल्य एवं उनके प्रभावशाली भव्य व्यक्तित्व की अमिट छाप आज भी विष्णुकान्त जी के मन में बसी हुई है।

इसके ११-१२ वर्षों बाद १९५३ में कलकत्ता में पुनः उनके दर्शन करने पर उनके आँखों की दीप्ति एवं कांति में उत्तरोत्तर निखार को देख शास्त्री जी जहाँ उनकी ओर अधिक खिंचते चले गये थे वहीं जीवन के अंतिम दिनों में उसी कालजयी रचनाकार का पीला निस्तेज चेहरा और विषाद से भरी कांतिहीन आँखें, उनके संवेदनशील मन को भीतर तक मर्माहत कर गयीं थीं।

१९६१ में गुजरात से भारतीय हिन्दी परिषद के अधिवेशन से लौटते वक्त अंतिम मिलन के दौरान निराला ने अपनी दूरदर्शिता से हिन्दी के इस अति विशिष्ट पर चलते हुए अनवरत हिन्दी की सेवा करते रहने का जी भर आशीर्वाद प्रदान किया था। आज वही आशीर्वाद फलीभूत हो रहा है। भेंट के उन अविस्मरणीय क्षणों में शास्त्री जी ने निराला जी को उन्हीं की कविताएँ सुनाकर प्रभावित कर दिया। फिर तो कविवर निराला भी मूड में आ गये और उन्होंने भूषण, पद्माकर आदि के छन्द सुनाये भी और शास्त्रीजी से सुने भी। इन अविस्मरणीय आह्लादकारी क्षणों का वर्णन करते हुए शास्त्री जी निराला पर केन्द्रीय अपने संस्मरण में लिखते हैं-

'मैं अपने सौभाग्य पर स्वयं गद्‌गद् था। निराला का स्नेह पाकर मैं हर्ष विभोर हो उठा था। इस रुग्णावस्था में भी काव्यचर्चा के प्रति यह स्वाभाविक अनुराग निराला की सहज महत्ता का द्योतक है। उस साकार काव्यगंगा का पावन दर्शन, स्पर्श और प्रसाद पाकर मेरा प्रयाग प्रवास सार्थक हो गया।"[८]

१९५२ में एम.ए. की परीक्षा देने से पहले शास्त्रीजी साहित्य के इतिहास से संबंधित कुछ शंकाओं के समाधान हेतु लिखे गये अपने पत्र का आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा समादरपूर्ण, स्नेहसिक्त उत्तर पाकर उनकी सरलता, सादगी एवं अपरिचित परीक्षार्थी के प्रति बरती गयी उनकी उदारता के कायल हो गये।

'द्विवेदी जी सिर्फ कंठ से नहीं अंग-अंग से बोलते थे।"[९] शास्त्रीजी के युवा मस्तिष्क पर उनके सम्मोहक व्याख्यानकार रूप की तो छाप पड़ी ही उसके साथ-साथ उनके अनेक नैसर्गिक गुणों से भी शास्त्रीजी गहराई तक प्रभावित हुए। गुरुजन के रूप में द्विवेदी जी पर उनकी अपार आस्था एवं प्रीति थी। शास्त्री जी की लेखन प्रतिभा

को द्विवेदी जी ने अपनी प्रेरणा, प्रोत्साहन, आग्रह एवं आदेश से विकसित करने का भरपूर प्रयास किया। हर इंसान में एक कुशल लेखक, कुशल वक्ता या विकास की अनंतानंत संभावनाएँ व्याप्त रहती हैं पर वह सबमें एक समान विकसित नहीं होती। एक कुशल गुरु का निर्देशन प्रोत्साहन एवं स्वयं व्यक्ति विशेष के प्रयत्न उसकी प्रतिभा प्रस्फुटन के हेतु बनते हैं। विष्णुकांत जी की लेखन प्रतिभा को विकसित करने के साथ-साथ द्विवेदी जी की यह हार्दिक इच्छा थी कि शास्त्रीजी अपना शोधकार्य शीघ्रातिशीघ्र पूरा कर लें। इसके लिये उन्होंने यथा-संभव प्रयास भी किये। शोधकार्य तो पूरा नहीं हुआ पर उन्हीं के सत्प्रयासों से विनय-पत्रिका पर शास्त्रीजी के कई सारगर्भित निबन्ध प्रकाश में आए।

द्विवेदी जी सतत कर्मशील रहते हुए अपने सम्पर्क में आनेवालों को भी निरंतर कार्य करते रहने की प्रेरणा देते रहते थे। वे यही कहते थे– 'काम थोड़ा सही पर सतत करते रहने पर वह अवश्य ही पूरा होता ही है।'[२०] शायद यही कारण है कि अध्यापकीय जीवन में तो शास्त्री जी ने साहित्य-सृजन किया ही पर सतत कार्य करते रहने की प्रवृत्ति के कारण ही राजनीतिक सक्रियता के बावजूद उनकी कई रचनाएँ प्रकाश में आईं। अपनी संस्मरणात्मक 'कृति सुधियाँ उस चंदन के वन की' को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं अज्ञेय जी की पावन स्मृति को समर्पित करते हुए शास्त्री जी ने समर्पण पृष्ठ पर लिखा भी है- जिनसे साहित्य को न केवल समझने की बल्कि सिरजने की भी प्रेरणा मिली।

शास्त्रीजी को एक साथ जिनका विद्यार्थी, अनुयायी एवं विश्वविद्यालय में सहयोगी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, वे हैं उनके गुरु आचार्य ललिता प्रसाद सुकुल। छात्र-वत्सल सुकुलजी अपने छात्रों को अपने से छोटा नहीं अपितु मित्र समझते थे। और यही कारण था कि उनकी कक्षा में बिना किसी विशेष प्रयास के सभी छात्र उनके प्रति श्रद्धासिक्त एवं मर्यादित रहते थे।

विष्णुकान्त जी उनके विशेष स्नेहभाजनों में एक थे। एम.ए. में प्रथम श्रेणी में सफलता प्राप्त करने के बाद जब वे अपने गुरु को प्रणाम करने गये तब सुकुलजी ने हृदय से आशीर्वाद देते हुए उन्हें मास्टर ऑफ आर्ट्स का जो शाब्दिक अर्थ समझाया उससे उनकी सहजता, सरलता, विनोदप्रियता एवं इन सबसे ऊपर उनके अध्यापकीय दायित्व का अंदाज लगाया जा सकता है– 'अब आप एम. ए हो गये हैं। .... विद्या के क्षेत्र में मास्टर का अर्थ स्वामी नहीं होता। उन बच्चों को मास्टर कहा जाता है न जो अपने पैरों पर चलने फिरने लगते हैं, उसी तरह आप भी हिन्दी साहित्य में अपने पैरों पर चलने फिरने लायक हो गये हैं, अतः मास्टर कहलाने योग्य हो गये हैं किन्तु याद रखिये अभी आपने चलना शुरू किया ही है, और यह भी याद रखियेगा कि यह राह अनंत है।'[२१] इतने सारगर्भित पथ प्रदर्शन को प्राप्तकर शास्त्री जी कृत-कृत्य हो गये और इन विचारों को उन्होंने अपनी जीवन यात्रा का लक्ष्य बनाया।

शास्त्री जी के व्यक्तित्व निर्माण में कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्राध्यापक प्रो० कल्याणमल लोढ़ा का महत्वपूर्ण योगदान है। लोढ़ाजी ने अध्यापक एवं अग्रज दोनों रूपों में शास्त्री जी के साहित्यिक कर्तृत्व एवं लेखन को प्रेरित-प्रभावित किया है। स्वयं शास्त्री जी के शब्दों में 'अपने गुरु और विभागाध्यक्ष श्री कल्याणमल लोढ़ा के स्नेहपूर्ण दबाव के कारण भी मुझे कुछ लेख लिखने पड़े।'[२२]

लोढ़ा जी के प्रोत्साहन एवं आत्मीय संस्पर्श ने भैयाजी (विष्णुकान्त जी) की लेखन प्रतिभा का ही नहीं बल्कि अन्य क्षेत्रों में विशेषकर उनकी प्रबन्ध पटुता को भी प्रभावित किया है। लोढ़ाजी ने ही उन्हें मनोविज्ञान की अनेक पुस्तकें पढ़ने हेतु प्रेरित किया। अपने विचारोत्तेजक निबन्धों के महत्वपूर्ण संग्रह अनुचिंतन को शास्त्रीजी ने अत्यन्त आदर के साथ अपने 'अग्रज तुल्य सहृदय गुरु श्रद्धेय कल्याणमल लोढ़ा को सादर समर्पित' किया है।

कलकत्ता महानगर की साहित्यिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक गतिविधियों में दोनों का परस्पर तालमेल आयोजन को नई ऊर्जा प्रदान कर देता है।

पिता स्व० गांगेय नरोत्तम शास्त्री एवं गुरु आचार्य सुकुल जी की डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र के साथ घनिष्ठ मित्रता ने शास्त्री जी को भी उनके अनन्य स्नेह एवं दुलार का भागीदार बना दिया। अध्यापन के क्षेत्र में प्रवेश करते ही देश के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान बलदेव प्रसाद मिश्र से उन्हें पुत्रवत् वात्सल्य एवं मार्गदर्शन प्राप्त होने लगा। कथनी और करनी को समान भाव से अपने आचरण में चरितार्थ करने वाले तुलसी दर्शन के मर्मज्ञ संत मिश्र जी के जीवन से शास्त्री जी ने काफी कुछ सीखा है परन्तु एक बात जिसकी वे अक्सर चर्चा किया करते हैं, उल्लेखनीय है-

'उन्होंने ही मुझे तुलसीदास का उदाहरण देकर यह बात समझाई थी कि बड़ी रचना के लिये तल्लीनता के साथ-साथ तटस्थता भी आवश्यक होती है। किसी विषय से तादात्म्य स्थापित किये बिना उसका मर्म नहीं समझा जा सकता और बिना उससे कुछ दूरी रखे कलाकार के रूप में निर्लेप हुए बिना उसको सुचारु रूप से, प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता... सृष्टिकर्ता की ही तरह प्रत्येक कलाकार को परस्पर विरोधी गुणों का आश्रय बनना पड़ता है।'[२३]

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का असली छात्रत्व तब शुरू हुआ जब कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्राध्यापक के रूप में नियुक्ति हुई। यह शास्त्री जी का स्वभाव ही है कि वे जिस किसी भी काम को करते हैं पूरी लगन एवं निष्ठा के साथ करते हैं। रीतिकालीन साहित्य को पढ़ाने के प्रसंग में उन्होंने १९५३ में पत्र-मित्र की तर्ज पर पत्र-छात्र के रूप में मूर्द्धन्य विद्वान आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का शिष्यत्व स्वीकारा। पत्र-गुरु मिश्र जी से उनके प्रत्युत्तरों द्वारा जो समाधान एवं वात्सल्य उन्हें प्राप्त हुआ वह शास्त्रीजी की बहुमूल्य निधि है। पत्र-व्यवहारों तक ही यह सीमित नहीं रहा, स्वयं काशी जाकर शिष्य ने गुरु विश्वनाथ जी के दर्शन कर अगाध-स्नेह, विश्वास एवं वात्सल्य का प्रसाद प्राप्त किया जो उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता गया।

हिन्दी साहित्य के जिन सुप्रतिष्ठित समालोचकों को विष्णुकान्त जी गुरु तुल्य मानते हैं उनमें अन्यतम हैं डॉ. राम विलास शर्मा। वैचारिक दृष्टि से विपरीत धुरी पर प्रतिष्ठित ऋषितुल्य साहित्यकार का कर्मठ साहित्यिक जीवन शास्त्री जी को सदैव प्रेरणा देता रहा है। उनकी साहित्य-साधना, अथक परिश्रम तथा निष्ठा के प्रति वे सदैव श्रद्धावनत रहे हैं। इसी संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा के प्रति उनके मार्मिक उद्‌गार उल्लेखनीय हैं– 'बिना किसी सरकारी या संस्थाई सहायता के उन्होंने कितने बड़े-बड़े काम किए हैं, यह देखकर सचमुच आश्चर्य होता है। फिर सोने में सुगन्ध यह है कि इतने काम का अहंकार उनकी वाणी को बोझिल नहीं बनाता।'[२४] उनकी उदारहृदयता की चर्चा करते हुए शास्त्री जी आगे लिखते हैं कि वे सहज में अपनी स्थापना से हटते नहीं थे किन्तु दूसरे को अपनी स्थापना पर खड़े रहने की छूट अवश्य देते थे। श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र द्वारा प्रसाद पर किये गये आरोपों का उत्तर देते हुए शास्त्रीजी ने एक लेख लिखा था और उसे समालोचक में छापने हेतु डॉ. राम विलास शर्मा के पास भेजा था। इस निबन्ध में मिश्र जी के प्रति दो-एक व्यंग्योक्तियों को राम विलास जी स्वीकार नहीं कर सके और उन्होंने शास्त्रीजी से कहा था मिश्र जी आपसे उम्र में भी बड़े हैं और प्रतिष्ठा में भी। आप उन पर व्यंग्य करके अपने को और छोटा साबित करेंगे। आपकी मूल बातों में काफी दम खम है। वरिष्ठ साहित्यकार के इस परामर्श को स्वीकार कर शास्त्री जी ने समालोचक में संशोधित लेख छपने के लिये भेजदिया था। रामविलास जी के सम्पादकीय कौशल एवं अनुज साहित्यकारों के प्रति सद्‌भाव का मार्मिक उल्लेख करते हुए विष्णुकान्त जी ने इसी संस्मरण में महत्वपूर्ण टिप्पणी करते हुए लिखा है– 'मैंने उसी दिन से उन्हें अपने गुरु के रूप में स्वीकार कर लिया। वैचारिक मतभेद

तो बना रहा, यथास्थान लेखों में और व्याख्यानों में उनका प्रकाशन भी होता रहा किन्तु मैं अन्तःकरण से उन्हें अपना शुभाकांक्षी गुरुजन मानने लगा।'[२५]

सन् १९५७ के अंत में आयोजित एक लेखक सम्मेलन के अवसर पर प्रथम बार शीर्षस्थ उपन्यासकार अमृतलाल नागर के दर्शन करने का सौभाग्य शास्त्री जी को प्राप्त हुआ और उन्होंने पाया कि 'जिसका अंतर और बाहर बिल्कुल एक जैसा है, जो हृदय की गहराइयों से बोलता है, अनुभूत सत्य को बेबाक प्रस्तुत करता है, जो बागाडम्बर एवं दंभ से कोसों दूर है।'[२६] ऐसे विलक्षण व्यक्तित्व के प्रथम दर्शनोपरांत ही शास्त्रीजी उनकी ओर खिंचते चले गये। उसके बाद ऐसे अनेक अवसर आए जब शास्त्री जी ने उनकी सहजता एवं जीवंतता से साक्षात्कार किया।

जिन कुछ गुरुजनों एवं मित्रों ने 'वाक्शूर' किन्तु 'लेखनी भीरु' विष्णुकान्त शास्त्री को लेखन में प्रवृत्त किया उनमें हिन्दी के शीर्षस्थ समालोचक डॉ. नामवर सिंह प्रमुख हैं। अपने कई व्याख्यानों, भेंटवार्ताओं, निबन्धों तथा संस्मरणों में शास्त्री जी ने इस बात को स्वीकारा है। शास्त्री जी स्वयं लिखते हैं—

'नामवरजी से आरम्भिक औपचारिक परिचय, भावोष्ण विचार-विमर्श बल्कि वाद-विवादों के माध्यम से कब अन्तरंग आत्मीयता में बदल गया, अपने तमाम विरोधों के बावजूद, नहीं कह सकता। ऐसा हो सका, इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि विरोध वैचारिक स्तर पर था, वैयक्तिक स्वार्थों के धरातल पर नहीं और हम दोनों एक दूसरे को स्वीकारते समय हृदय से अधिक जुड़े थे, इस अन्तर्निहित सहमति के साथ कि बुद्धि के स्तरपर अलग-अलग मतों का पोषण करने के लिये हम दोनों स्वतंत्र हैं। हम दोनों के लिये यह बन्धुत्व प्रीतिकर और स्फूर्तिप्रद रहा है।'[२७]

आलोचना के सम्पादक की हैसियत से शास्त्री जी को लिखे डॉ. नामवर सिंह के प्रोत्साहन भरे रचनात्मक विचारों को पढ़कर ही उनके अपनत्व का अंदाज लगाया जा सकता है। 'लेख मिल गया, पढ़ भी लिया और कहीं कलम लगाने की गुंजाइश नहीं दिखी।'[२८]

'आपका नन्ददुलारे वाजपेयी जी वाला लेख समचुच बहुत अच्छा है। मैंने मुँह देखी नहीं कही थी। अच्छा से मेरा मतलब संतुलित आलोचना है। एक ओर आपके भावावेश को याद करता हूँ और दूसरी ओर इस निबन्ध के विवेचन में प्रीतिकर ठंडापन देखता हूँ तो आश्चर्य होता है। इसलिये मुझे आपके निबंध की भाषा बहुत अच्छी लगी। आज बहुत कम लोग ऐसी साफ सुथरी और संयत हिन्दी लिख रहे हैं।'[२९]

मंच पर भले ही दोनों टकराते रहे हों परन्तु जीवन में एक दूसरे के अत्यन्त निकट हैं, यह सर्वविदित तथ्य है। विष्णुकान्त जी डॉ. नामवर सिंह के साथ आत्मीय संबंध को अपने जीवन का महत्वपूर्ण पक्ष मानते हैं— 'नामवर से बहस करना, नामवर से सीखना, नामवर का खंडन-मंडन करना, नामवर को बड़े भाई के रूप में पाना मेरे जीवन की विशिष्ट उपलब्धियाँ हैं।'[३०]

'बांगलादेश के मुझ पर बहुत से ऋण हैं उनमें से यह भी एक है कि उसी के चलते सोलह-सत्रह दिन मैं भारती जी के अहर्निश साहचर्य में रह सका। पुराना सामान्य परिचय कब और कैसे अंतरंगता में बदल गया, मुझे और शायद उन्हें भी मालूम नहीं पड़ा।'[३१] शास्त्रीजी की यह उक्ति सार्थक ही है क्योंकि जिन लोगों ने उनके जीवन को अपने साहचर्य से समृद्ध किया है उनमें धर्मवीर भारती का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बांगलादेश के खंड प्रलय से निराश हुए बिना जिंदगी की तलाश की उनकी आस्था ने बहुतों को बल ही नहीं दिया, उनकी इन पंक्तियों को सार्थक भी कर दिया—

प्रलय से निराशा तुझे हो गई? इस ध्वंस में मूर्छित हो कहीं
पड़ी हो, नई जिन्दगी क्या पता? सृजन की थकन भूल जा देवता![१४]

हिन्दी के मूर्द्धन्य साहित्यकार अज्ञेय की आत्मीयता ने न केवल शास्त्री जी को आलोकित किया अपितु उनको प्रेरणा पाकर वे रचना कर्म में निरत हुए। उनके प्रथम सान्निध्य का वर्णन करते हुए शास्त्री जी लिखते हैं– 'अज्ञेय जी का गरिमामण्डित भव्य व्यक्तित्व जो अनायास सामनेवाले को प्रभावित कर देता था। ..... अज्ञेय जी बहुत कम बोले, किन्तु उनकी थोड़ी सी बातों में भी अध्ययन और असाधारणता की छाप थी। उनका व्यक्तित्व भी प्रभावी था और व्यवहार भी। मिलकर भी न मिलने का सा, तटस्थता, असम्पृक्त सा भाव।'[१३]

सौम्य, सरल, मृदुभाषी, अध्यात्मप्रेमी एवं धुन के पक्के श्री सीताराम सेकसरिया के कर्मठ व्यक्तित्व को निकट से देखने का सौभाग्य शास्त्री जी को मिला था। उनके पिता उन्हें बड़े भाई की तरह सम्मान करते थे और सेकसरिया जी का भी पूरे परिवार के प्रति स्नेह-सद्भाव प्रायः एक सा ही बना रहा। प्रखर समाज सुधारक, नारी शिक्षा एवं नारी विकास के प्रबल पक्षधर, राष्ट्रभाषा के समुचित प्रचार-प्रसार हित अहर्निश प्रयत्नरत सेकसरिया जी की सामाजिक गतिविधियों का विष्णुकान्त जी पर काफी प्रभाव पड़ा। वे उन्हें 'ताऊजी' कहकर बुलाते थे।

शास्त्री जी के आध्यात्मिक-सांस्कृतिक संस्कारों पर उनके पिताजी एवं पारिवारिक पृष्ठभूमि का बहुत बड़ा योगदान है। शास्त्री जी के चरित्र-निर्माण में नानीमाँ की भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय है। एक संस्मरण में विष्णुकान्त जी ने लिखा है– 'मेरी बड़ी नानीमाँ हमलोगों को बहुत प्रेम से कहानियाँ सुनाया करती थीं। रामायण, महाभारत, पुराण आदि की कहानियाँ का जीवन्त विश्वकोश थीं वे। .... मुझे कहानियाँ सुनना बहुत ही अच्छा लगता था। मैं उन कहानियों में खो जाता था, उनके चरित्रों के साथ अपने को जोड़ कर अपने उपयुक्त भूमिका की तलाश करने लगता था। कथा-साहित्य से प्रेम का बीज मेरे बालमन में नानीमाँ ने ही बोया था। धार्मिक संस्कारों का शिलान्यास भी मेरे मन में मुख्यतः नानीमाँ ने ही किया।'[१४]

नानीमाँ की कहानियाँ अब भले ही मुहावरे में सिमटती जा रही हों पर शास्त्री जी के अपरिपक्व बाल मन पर अध्यात्म एवं ईश्वरप्रेम के गहरे पक्के रंग को चढ़ाने का गुरुतर कार्य नानीमाँ की प्रेम एवं भक्ति रस में रची-पगी इन कहानियों ने ही किया है।

यही नहीं शास्त्री जी के भव्य प्रवचनाकर की पृष्ठभूमि में भी बड़ी नानीमाँ का अपरोक्ष योगदान है। अपनी बड़ी नानीमां पर केन्द्रित एक संस्मरण के अनुसार जब विष्णुकान्त जी सोलह-सत्रह वर्ष के थे तभी अपनी नानीमाँ की रिश्ते की मामी की मनौती पूर्ण करने हेतु उनके घर जाकर उन्होंने सत्यनारायण भगवान की कथा का वाचन किया। एक अन्य प्रसंग में नानीमाँ की ही एक मरणासन्न सहेली, जिन्हें अन्य समय में जमीन पर उतार दिया गया था,उनके सिरहाने बैठकर, मनोयोगपूर्वक शास्त्री जी ने गीता के अध्यायों को सुनाया जिसे सुन उनके पारिवारिक जन शास्त्रीजी एवं उनकी नानीमाँ के प्रति श्रद्धा एवं आभार से अभिभूत हो गये। आज श्रीमद्भगवद्गीता एवं तुलसी साहित्य के अधिकारी विद्वान के रूप में शास्त्री जी के भक्ति पर अनेक प्रवचन देश-विदेश में हुए हैं जिन्हें अध्यात्मरसिक श्रोताओं ने आग्रहपूर्वक सुना एवं सराहा है। ऐसा लगता है कि एक चित्रकार की भाँति नानीमाँ की पारखी आँखों ने अपने तुलसी बेटू (शास्त्रीजी) के भावी प्रवनचकार रूप को पहचान कर उसमें आत्मीय प्रेरणा एवं वात्सल्य भरे संस्पर्श से ऐसे रंग भर दिये जो उत्तरोत्तर आकर्षक एवं प्रभावी बनते जा रहे हैं।

जो आध्यात्मिक संस्कार नानीमाँ, माँ एवं पिताजी के पारिवारिक संरक्षण में विकसित हुए उन्हें परिपुष्ट करने में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है-स्वामी श्री अखण्डानन्दजी सरस्वती का। १९७४ का नवम्बर मास शास्त्रीजी के

लिये रामकृपा का मास बनकर आया था जब श्री बसन्त कुमार जी बिड़ला के आमंत्रण पर पक्षव्यापी गीता प्रवचन करने पधारे स्वामी जी का उन्हें दर्शन प्राप्त हुआ। प्रथम दर्शन में ही उनकी भव्य, प्रसन्न, सौम्य मुखमुद्रा, ऊर्जस्वित व्यक्तित्व एवं अमृतमयी मर्मस्पर्शी वाणी में गीता के उनके वैदुष्यपूर्ण विवेचन ने शास्त्रीजी के आस्तिक संस्कारों को और भी प्रगाढ़ बना दिया। प्रवचन के दौरान केवल शास्त्री जी ही नहीं समस्त श्रोता उनके वाक्-सम्मोहन में बँध जाते 'मति दौरि थकी न लहै ठिक ठौर, अमोही के मोह मिठास ठगी'[१५] जैसे चारों तरफ दौड़ भाग कर भी घनानंद अपनी प्रिया के प्यार में परम तोष पाते थे वैसी ही स्थिति प्रवचन श्रवण करने वालों की होती थी। शास्त्रीजी भी पन्द्रह दिनों की उस छोटी सी अवधि में दिनों दिन उनकी ओर खिंचते चले गये। उन्हें पहली बार महसूस हुआ कि व्यक्ति एक साथ कैसे तृप्ति और अतृप्ति का अनुभव करता है। प्रवचन सुनते समय जहाँ उन्हें लगता जैसे गीता का मर्म परत दर परत उद्घाटित होता जा रहा है वहीं प्रवचन समाप्त होने पर अधिकाधिक सुनने की अतृप्त चाह लिये वे घर लौट आते। शास्त्री जी की बचपन से ही यह प्रवृत्ति रही है कि जो प्रसंग या कविता उनके मन को भा जाती उसे वे अपने संपर्क में आनेवालों के बीच दानवीर कर्ण की भाँति बाँटते रहते हैं। ठीक वैसे ही उन दिनों संत शिरोमणि श्रीअखण्डानन्द जी स्वामी के श्री मुख से निःसृत परम पुनीत भागवत के तलस्पर्शी मनोहारी प्रवचनों की चर्चा उन्होंने घर-बाहर सभी जगह की और यह मात्र संयोग ही था कि अग्रज रमाकांत जी की प्रेरणा एवं पं० देवधर जी शर्मा के सदुद्योग से शास्त्री जी ने सपत्नीक स्वामी जी से दीक्षा ग्रहण की और हमेशा-हमेशा के लिये गुरु शिष्य एक सूत्र में बँध गये। गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है— 'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही, राम कृपा करि चितवा चेही।'[१६]

प्रभु की असीम अनुकम्पा से ही शास्त्री जी की वर्षों की संचित अभिलाषा फलीभूत हुई। उन्हीं की एक चुतष्पदी है—

प्रभु तेरे पथ का मैं दुर्बल गिरता-पड़ता राही
मन में प्रीति, अश्रु नयनों में, मुख में नाम सदा ही
मैं न पहुँच पाऊँ यदि तुझ तक, तो आ तू ही मुझ तक,
मुझको संजीवन दे सकती तेरी कृपा-सुधा ही।।[१७]

और तभी से रामजी की अमित कृपा-प्रसाद स्वरूप अध्यात्म के सुमेरु समन्वयी मनीषा के चमत्कारिक महापुरुष स्वामी जी के वे अनन्य भक्त हो गये। आज भी शास्त्री जी के प्रवचनों में बार-बार गुरुजी के नाम का उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि वे कितनी गहराई से उनके मस्तिष्क में रचे बसे हैं।

आध्यात्मिक क्षेत्र में विष्णुकान्त जी को संतो का आशीर्वाद प्राप्त होता रहा है। विरासत से प्राप्त धार्मिक संस्कारों को संतों के सान्निध्य ने सुदृढ़ बनाया है। स्वामी करपात्री जी महाराज को शास्त्री जी गुरुतुल्य मानते रहे हैं। उनके प्रवचनों का व्यापक प्रभाव शास्त्री जी के जीवन पर पड़ा।

इसी प्रकार मानस मर्मज्ञ पं० रामकिंकर उपाध्याय के प्रति भी शास्त्री जी का अपार सम्मान-भाव रहा है। अपनी व्यस्त जीवन-चर्या के बीच समय निकालकर रामकिंकर जी के प्रवचनों को सुनना उन्हें प्रेरक एवं प्रीतिकर लगता रहा है।

सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक, साहित्यिक सभी क्षेत्रों में अपनी विशिष्ट उपलब्धियों के बावजूद विष्णुकान्त जी की विनम्रता, सहजता, सरलता उनके व्यक्तित्व की विरल विशेषता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वे निष्ठावान स्वयंसेवक रहे हैं। इसके सरसंघचालक स्वनामधन्य माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर (गुरुजी) की

सहजता के शास्त्री जी कायल रहे हैं। अत्यन्त विशिष्ट संगठन के अतिविशिष्ट पद पर आसीन होने के बावजूद माननीय गुरु गोलवलकरजी अपने को सदैव साधारण मानते थे। अपार ज्ञान तथा संगठन की अद्‌भुत क्षमता से सम्पन्न, असाधारण प्रतिभा वाले गुरुजी में झूठा अहंकार या बड़प्पन नहीं था। उनकी एक उक्ति शास्त्री जी को भीतर तक प्रभावित कर गयी थी– 'विश्वासाची धन्याजाती' यानि जो विश्वास योग्य हैं वे धन्य हैं।

भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष पं० दीनदयाल उपाध्याय ने भी अपने सहज शालीन व्यक्तित्व एवं कार्य करने की अद्‌भुत क्षमता से शास्त्री जी को प्रभावित किया है। वेशभूषा की सादगी के साथ व्यवहार की मृदुता तथा सभी कार्यकर्त्ताओं के साथ घुलमिलकर काम करने का उनका अभ्यास सचमुच अनुकरणीय था। शास्त्री जी व्यक्तिगत बातचीत में बताते हैं कि अत्यन्त विशिष्ट पद पर रहते हुए भी पं० दीनदयाल जी को अपने बड़प्पन का अहंकार नहीं था। एक बार राष्ट्रीय कार्यसमिति की बैठक में सम्मिलित होने हेतु वे स्वयं स्टेशन से बस पर चढ़कर आ गये। वे पारिवारिक व्यक्ति जैसे लगते थे और अपनी आत्मीयता से सबको मोह लेते थे।

अपने राजनैतिक जीवन में शास्त्री जी श्री अटल बिहारी वाजपेयी की कार्यशैली एवं वाक्‌पटुता से आकृष्ट हुए हैं। २५ वर्षों से अधिक की अपनी राजनीतिक यात्रा में विष्णुकान्त जी ने अटल जी के नेतृत्व में काम करके उनसे बहुत कुछ सीखा है। साहित्यिक स्तर पर दोनों की रुचियाँ समान होने के कारण परस्पर आकर्षण स्वाभाविक है।

शास्त्रीजी को वाजपेयीजी का स्नेह-सद्‌भाव सदैव प्राप्त हुआ है। अटल जी ने शास्त्री जी के आग्रह पर कलकत्ता में श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय के मंच से एकल काव्य पाठ करने की जो स्वीकृति प्रदान की वह दोनों की आत्मीयता का ही परिचायक है। तत्कालीन विपक्ष के नेता के रूप में अपनी घोर व्यस्तता के बावजूद श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने शास्त्री जी के संयोजकत्व में कलकत्ते में लगभग ढाई घंटे तक कविताएँ सुनाकर श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध कर लिया था। विष्णुकान्त जी की षष्टिपूर्ति (१९८९ ई०) पर अटलजी ने कलकत्ता आकर उनके प्रति जो उद्‌गार प्रगट किये थे वे न केवल अविस्मरणीय हैं बल्कि दोनों के प्रगाढ़ सम्बन्धों को भी रेखांकित करते हैं।

राजनीति के क्षेत्र में शास्त्री जी ने श्रीलालकृष्ण आडवाणी के गतिशील नेतृत्व से भी प्रेरणा प्राप्त की है। आडवाणी जी का संगठन-कौशल, कार्यकर्त्ताओं को उत्साहित करने की कला तथा स्वीकृत कार्य को पूर्ण करने की तत्परता- जैसे गुणों के शास्त्री जी कायल रहे हैं। भारतीय जनता पार्टी जैसे विराट संगठन के महत्वपूर्ण पदों पर रहते हुए भी आडवाणी जी का अपनापन एवं अग्रज तुल्य व्यवहार उन्हें स्फूर्ति प्रदान करता रहा है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और भारतीय जनता पार्टी के अपने सामाजिक, राजनैतिक जीवन में शास्त्रीजी ने माननीय राजेन्द्र सिंहजी (रज्जूभैया) श्री भाऊराव देवरस, नानाजी देशमुख, प्रो० हरिपद भारती, श्री सुन्दर सिंह भंडारी, डॉ० मुरली मनोहर जोशी आदि की निकटता को प्राप्त कर अपने को समृद्ध किया है।

इस प्रकार विष्णुकान्त शास्त्री ने अपने घर, परिवार, संस्कार तथा विविध क्षेत्रों में विशिष्ट जनों के साहचर्य से अपने को समृद्ध किया है। साहित्यिक क्षेत्र के शीर्षस्थ रचनाओं एवं विद्वानों का स्नेह-सामीप्य पाकर यदि उनका साहित्कार परिपुष्ट हुआ है तो सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्र के श्रेष्ठ जनों की कार्यशैली एवं व्यक्तित्व ने उनके सामाजिक, राजनीतिक जीवन का निर्माण किया है। ●

संदर्भ संकेत

१. साहित्य अमृत/जून-१९९९ पृष्ठ-२३
२. वही, पृष्ठ-२१
३. 'कलकत्ता-८६'/संपादक : विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ-१०२
४. वही, पृष्ठ-१०३
५. साहित्य अमृत, पृष्ठ-२०
६. बोधिवृक्ष/जगदीश गुप्त, पृष्ठ-३२
७. सुधियाँ उस चंदन वन की,/विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ-७३
८. 'माध्यम' अक्टूबर-दिसम्बर २००२, पृष्ठ-३८
९. सुधियाँ उस चंदन के वन की, पृष्ठ-७७
१०. वही, पृष्ठ-५७
११. वही, भूमिका
१२. जीवन पथ पर चलते-चलते/विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ-३
१३. 'कलकत्ता-८६', पृष्ठ-१०४
१४. वही, पृष्ठ-४
१५. स्मरण को पाथेय बनने दो/विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ-६७
१६. वही, पृष्ठ-६७
१७. सुधियाँ उस चंदन के वन की, पृष्ठ-३२
१८. स्मरण को पाथेय बनने दो, पृष्ठ-६
१९. वही, पृष्ठ-१९
२०. सुधियाँ उस चंदन के वन की, पृष्ठ-६३
२१. स्मरण को पाथेय बनने दो, पृष्ठ-४३
२२. 'माध्यम' अक्टूबर-दिसम्बर २००२, पृष्ठ-३९
२३. स्मरण को पाथेय बनने दो, पृष्ठ-४८
२४. वागर्थ (अंक ५३) सितम्बर १९९९, पृष्ठ-७६
२५. वही, पृष्ठ-६९
२६. स्मरण को पाथेय बनने दो, पृष्ठ-८१
२७. सुधियाँ उस चंदन के वन की, पृष्ठ-८१
२८. वही, पृष्ठ-८७
२९. वही, पृष्ठ-८७
३०. वही, पृष्ठ-९५
३१. अनंत पथ के यात्री/विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ-२३
३२. वही, पृष्ठ-२३
३३. सुधियाँ उस चंदन के वन की, पृष्ठ-४०
३४. कलकत्ता-८६/संपादक-विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ-१०४
३५. घनानंद कवित्त (प्रथम भाग)/सम्पादन : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृष्ठ-८२
३६. सुधियाँ उस चंदन के वन की, पृष्ठ-१९
३७. जीवन पथ पर चलते-चलते/विष्णुकान्त शास्त्री, पृष्ठ-६९

जुगलकिशोर जैथलिया

'ज्यों की त्यों धरि दीन्हीं चदरिया'

विष्णुकान्त शास्त्री : राजनैतिक जीवन के तीन दशक

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ने, जिनका हम अमृत महोत्सव मना रहे हैं, जून १९७५ ई० में जे. पी. आन्दोलन के माध्यम से राजनीति की राह पर प्रथम कदम रखा एवं जुलाई २००४ ई० में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल पद से निवृत किए जाने तक (जिसका मामला सर्वोच्च न्यायालय में विचाराधीन है) लगभग तीन दशक तक अनेक राजनैतिक एवं गैर राजनैतिक संवैधानिक उच्च पदों को सम्हाला एवं हर पद को अपने व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व से गरिमा बढ़ाई। राजनीति के आजके कलुषित वातावरण में वे बहुत थोड़े या विरले व्यक्तियों में से एक हैं जो काजल की कोठड़ी में जाकर भी बेदाग रहे। कबीर के शब्दों में— "ज्यों की त्यों धरि दीन्हीं चदरिया" की उक्ति को चरितार्थ किया।

शास्त्रीजी जैसा हम सबने उन्हें जाना है, मूलतः पुरानी पीढ़ी के ममतामय अध्यापक हैं। खूब पढ़ना और अच्छा पढ़ाना यही उनका व्यसन रहा। माँ सरस्वती की साधना उन्हें अपने स्वनामधन्य पिता पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री से विरासत में मिली जिसे उन्होंने अपनी सुदीर्घ कालकी तपस्या से परिपुष्ट किया एवं छात्रों तथा सहकर्मियों का भरपूर आदर एवं विश्वास अर्जित किया। साहित्यिक एवं परम्परागत आध्यात्मिक परिवेश से पूर्णतः आप्लावित शास्त्रीजी कभी राजनीति जैसे आपाधापी के क्षेत्र में जाएँगे यह न तो उन्होंने कभी सोचा होगा न उनके चाहने वालों ने भी कभी कल्पना की होगी कि उनके शास्त्रीजी कभी राजनेता भी कहलाएँगे।

पर सोचा हुआ सब कहाँ होता है ? काल जिससे जो कराना चाहता है, वैसा ही परिवेश एवं वैसी ही परिस्थितियाँ बन जाती है। जैसे स्वाधीनता संग्राम के दौरान छात्र, अध्यापक, वकील, व्यवसायी, किसान, मजदूर एवं गृहिणियाँ तक सभी अपना-अपना निर्धारित कार्य छोड़कर अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध आन्दोलन में कूद पड़े, कुछ वैसा ही आवेग जे. पी. आन्दोलन के समय बना जब देश भर में समाज के सभी विचार एवं वर्गों के लोग तत्कालीन प्रधानमंत्री इन्दिरा गाँधी की अनैतिक एवं भ्रष्ट सरकार के विरुद्ध लोकनायक जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में एकजुट होते गए एवं क्रमशः कारवाँ बढ़ता गया।

जे. पी. आन्दोलन में शरीक

जे. पी. के इस आन्दोलन के प्रति शास्त्री जी का भी सहज सद्भाव हो चला था। कलकत्ता में ५ जून १९७५ ई० को जयप्रकाशजी की ऐतिहासिक सभा हुई जिसमें ९-१० लाख लोग शामिल हुए। शास्त्री जी जुलूस एवं सभा दोनों में ही सम्मिलित हुए एवं यहीं से शुरू हुई उनकी राजनैतिक यात्रा। कांग्रेस एवं कम्यूनिस्टों को छोड़कर बाकी सभी राजनैतिक दलों एवं भारी मात्रा में आम जनता का इसमें सहयोग था। जे. पी. ने इन्दिरा गाँधी के कुशासन एवं भ्रष्टाचार के विरुद्ध संघर्ष शुरू करने का लोगों से आह्वान किया। संयोग से परिस्थितियों ने तेजी-से मोड़ लिया। १२ जून १९७५ ई० को इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री जगमोहनलाल सिन्हा ने श्रीमती इन्दिरा गाँधी का चुनाव अवैध घोषित कर दिया एवं ६ वर्ष तक उनके चुनाव लड़ने पर रोक लगा दी परन्तु न्यायालय के निर्णय का

आदर करने की बजाय श्रीमती गाँधी ने पदत्याग करने से इन्कार कर दिया। कांग्रेस अध्यक्ष श्री बरुआ ने तो चाटुकारिता की सभी सीमायें पार करते हुए 'इन्दिरा इज इन्डिया' का नारा दिया। देश भर में इसकी प्रतिक्रिया हुई। गुजरात विधानसभा के चुनावों में कांग्रेस को बुरी तरह हराकर विरोधी दलों का मोर्चा जीता एवं सरकार बनाई। इससे जे. पी. आन्दोलन को भारी बल मिला। २४ जून ७५ को सर्वोच्च न्यायालय ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय के फैसले को आंशिक मान्यता देते हुए कहा कि वे संसद सदस्य के रूप में सही तो करती रहेंगी पर वेतन नहीं ले सकेंगी। वे प्रधान मंत्री भी बनी रहेंगी। इस पर सभी विरोधी दलों ने नैतिकता के आधार पर इन्दिराजी के त्यागपत्र की मांग की एवं इस हेतु २९ जून से सत्याग्रह करने की घोषणा की।

इन्दिरा जी को हवा अपने विपरीत बहती दिखाई दी तो उन्होंने लोकतान्त्रिक पद्धति को धता बताते हुए महज अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा के कारण २६ जून १९७५ ई० को देश में आन्तरिक आपातकाल की घोषणा करते हुए समाचारपत्रों पर सेन्सर लगा दिया। लोकनायक जयप्रकाश नारायण, मोरारजी देसाई, अटल बिहारी वाजपेयी, पीलू मोदी एवं चरण सिंह प्रभृति लगभग सात सौ विरोधी नेताओं को आनन-फानन में गिरफ्तार कर लिया एवं सब प्रकार के आन्दोलनों को क्रूरता से कुचलने हेतु पुलिस, फौज एवं प्रशासन को सतर्क एवं सन्नद्ध कर दिया।

आपात्काल का मुखर विरोध

शास्त्री जी की दृष्टि में यह ऐसी नंगी तानाशाही का कार्य था जिसका विरोध हर भारतीय को हर स्तर पर करना उसका सहज धर्म बनता था और यही बात अन्ततः शास्त्री जी के सक्रिय राजनीति में प्रवेश का कारण बनी। १९७७ ई० में सक्रिय राजनीति में प्रवेश के पूर्व वे पूरे दम से लिखकर, बोलकर एवं हाथ में आए हर अवसर का निर्भीकतापूर्वक समुचित उपयोग तानाशाही एवं आपात्काल का विरोध करने में करते रहे।

आपात्काल की घोषणा करते ही इन्दिराजी ने हर विरोधी स्वर को दबाने के लिए दमनचक्र तेजी से चलाना शुरू कर दिया। विरोधी नेताओं की गिरफ्तारी के बाद शीघ्र ही ४ जुलाई को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर भी प्रतिबंध लगा दिया। शास्त्री जी भी बचपन से ही संघ के स्वयंसेवक रहे हैं। इस प्रतिबन्ध को उन्होंने 'दुर्भाग्यपूर्ण कुकृत्य' की संज्ञा दी। अब दहशत का वातावरण सब तरफ पसरने लगा एवं उसी अनुपात में लोगों का क्षोभ भी बढ़ने लगा पर विरोध मुखर नहीं हो पा रहा था।

मुखर विरोध करने का अवसर आया १९ एवं २० जून १९७६ ई० को हल्दीघाटी चतुःशती समारोह के रूप में। कलकत्ता की प्रसिद्ध साहित्यिक सामाजिक संस्था श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय के अधिकारियों ने समाज में पसरी गहन चुप्पी को तोड़ने के निमित्त दो दिवसीय कार्यक्रम की योजना की। प्रथम दिन अहिंसा प्रचार समिति के बड़े हाल में व्याख्यान हुए जिसमें ठसाठस भरे हॉल में शास्त्री जी ने भयमुक्त समाज के निर्माण की अपील की एवं लोकतन्त्र को बचाने हेतु लोगों को आगे आने का आह्वान किया। कार्यक्रम की अध्यक्षता कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री सलिल कुमार रायचौधरी ने की। लोगों ने एक वर्ष के बाद ऐसा कुछ सार्वजनिक रूप से देखा, सुना। दूसरे दिन आयोजित हुआ वीर रस कवि सम्मेलन, जिसमें भाग ले रहे थे श्यामनारायण पाण्डेय, देवराज दिनेश एवं मणि मधुकर प्रभृति कवि। समारोह का संचालन शास्त्री जी कर रहे थे। कवियों ने खुलकर आपात्काल की भर्त्सना की जिसका गरमजोशी से श्रोताओं ने स्वागत किया। हिन्दी हाई स्कूल के सभागार में वस्तुतः तिल धरने को भी जगह नहीं थी। कवियों की साफगोई पर सीताराम जी सेकसरिया जैसे वयोवृद्ध लोगों ने शास्त्री जी को इसके लिए चेताया भी पर शास्त्री जी का सीधा जवाब था— 'हम तो कफन बाँधकर बैठे हैं, जो होगा,

देखा जाएगा।' कार्यक्रम की विस्तृत रपट समाचार पत्रों के मुखपृष्ठों पर छपी तो पुस्तकालय के अध्यक्ष श्री नन्दलाल जैन को गिरफ्तार कर लिया गया एवं लेखक सहित कई पदाधिकारियों पर गिरफ्तारी के वारंट निकले। शास्त्री जी को पकड़ा नहीं गया पर उन पर नजर रखी गई एवं उन्हें द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन में मारिशस जाने की अनुमति नहीं मिली। १२-१३ सितम्बर १९७६ ई० को बम्बई में आशीर्वाद नामक संस्था के वार्षिकोत्सव पर आयोजित काव्यगोष्ठी में शास्त्री जी शामिल हुए। इसके ३-४ दिन पहले ही आपात्काल का विरोध करने का कारण प्रसिद्ध लेखिका दुर्गा भागवत गिरफ्तार कर ली गई थीं, जिसका शास्त्री जी के मन में बड़ा क्षोभ था। उन्होंने जम कर खरी-खरी बातें कहीं। उन्होंने कहा कि— 'चिन्तन की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता जितनी सीमित होगी, उसका समर्थन करने वाली रचनाएँ उतनी ही दुर्बल होंगी। भय के कारण किसी स्थिति का समर्थन करने वाला साहित्य बड़ा नहीं हो सकता। अन्याय का प्रतिरोध करने वाला साहित्य ही बड़ा होता है।' इस कथन पर शास्त्री जी को व्यापक जनसमर्थन मिला। फिर इसी कथन को उन्होंने २६ सितम्बर से जयपुर में आयोजित राजस्थान विश्वविद्यालय के उच्चस्तरीय हिन्दी साहित्य शिविर में अपने भाषण में दोहराया। यहाँ के वामपंथी आपात्काल की प्रशंसा के पुल बाँधते रहे। शास्त्री जी की गिरफ्तारी की अफवाह भी उड़ी पर गिरफ्तारी नहीं हुई। इसके पश्चात् जहाँ-जहाँ भी वे गए, उन्होंने साफ-साफ शब्दों में साहसपूर्वक आपात्काल की स्थिति का विरोध किया एवं लोगों से इसके विरोध में आगे आने का आह्वान किया।

अचानक फरवरी १९७७ ई० में इन्दिराजी ने अति आत्मविश्वास के कारण लोकसभा के चुनाव कराने की घोषणा कर दी। जयप्रकाशजी की प्रेरणा से जनसंघ, संगठन कांग्रेस, लोकदल तथा समाजवादी दल ने मिलकर 'जनता पार्टी' नामक नया राजनैतिक दल बनाया जिसके अध्यक्ष बने श्री मोरारजी भाई देसाई। जगजीवन राम ने भी कांग्रेस से अलग होकर 'लोकतान्त्रिक कांग्रेस' बनाई एवं जनता पार्टी से सहयोग का हाथ बढ़ाया। इससे विरोधी दलों एवं उनके नेताओं का आत्मविश्वास बढ़ा। मार्च १९७७ में चुनाव हुए एवं इन्दिरा कांग्रेस की करारी हार हुई एवं इन्दिराजी भी हार गईं। जनता पार्टी की सरकार बनी एवं लोकतन्त्र को पुनः पटरी पर लाया गया। सभी काले कानून हटे एवं जनता ने स्वच्छन्दता की साँस ली। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर से भी प्रतिबन्ध हटा। प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई बने। इस चुनाव में शास्त्री जी ने चुनावी सभाओं में अनेक व्याख्यान देकर अपनी सक्रिय भागीदारी निभाई। जिन नौ राज्यों में लोकसभा में कांग्रेस बुरी तरह हारी थी उनकी विधानसभा को भंग कर नए चुनाव कराने की घोषणा की गई। बंगाल भी उनमें से एक था।

विधायक निर्वाचित

बंगाल के चुनाव की जब चर्चा चली तो जनसंघ गुट की ओर से शास्त्री जी एवं प्रो० हरिपद भारती का नाम प्रस्तावित किया गया। यद्यपि शास्त्री जी जनसंघ के सदस्य तक भी नहीं थे पर सबके दबाव के आगे उन्हें झुकना पड़ा। स्वयं की अनिच्छा एवं परिवार की आपत्ति के बावजूद उन्हें चुनाव लड़ना पड़ा और वे जीतकर विधायक बनकर सीधे सक्रिय राजनीति में आगए। बंगाल में कांग्रेस तो हारी परन्तु जनता पार्टी के तत्कालीन नेतृत्व की जिद एवं अदूरदर्शिता के कारण यहाँ सी.पी.एम. से सीटों का समझौता नहीं हुआ। परिणामतः जनता पार्टी केवल २९ सीटों पर सिमट गई एवं सी.पी.एम. ने बहुमत से अन्य वामपंथी दलों के साथ अपनी सरकार बनाई। २१ जून १९७७ को श्री ज्योति बसु ने मुख्यमंत्री की शपथ ली। जनसंघ गुट के प्रो० भारती एवं शास्त्रीजी दोनों जीत गये।

यद्यपि शास्त्री जी के सरल अध्यपकीय जीवन के साथ व्यावहारिक राजनीति का तालमेल बड़ा अटपटा था

पर स्वीकृत कार्य को पूरे दम से करने के स्वभाव के कारण वे इसमें जुट गए। विधानसभा में किसी विषय पर बोलना हो या अपने क्षेत्र के लोगों के अभाव-अभियोगों का निराकारण अथवा पार्टी कार्यकर्ताओं के साथ सामंजस्य, शास्त्री जी कहीं पीछे नहीं रहे। २४ जून को विधानसभा का उद्घाटन हुआ। शास्त्री जी ने ३० जून को धारावाहिक बंगला में अपना वक्तव्य रखा एवं आपात्काल के सन्दर्भ में कवि जीवनानन्द दास की कविता की पंक्तियाँ सुनाकर सभी को आश्चर्यचकित कर दिया। बंगाल के सभी समाचार पत्रों में प्रमुखता से इसकी चर्चा हुई। फिर तो उनके लिए मार्ग खुल गया, उन्हें ध्यान से सुना जाने लगा। शास्त्रीजी भी हर विषय की पूरी तैयारी करके बोलते। विधानसभा में ही नहीं, कक्षा के व्याख्यानों एवं सार्वजनिक समारोह के व्याख्यानों में भी अपने विषय पर तैयारी करना उनका स्वभाव रहा है। जनसंघ गुट के मात्र दो ही विधायक होने के कारण पूरे प्रान्त में भी निरन्तर उनका प्रवास लगा ही रहता। इस पर भी विश्वविद्यालय की कक्षाओं में पढ़ाना उन्होंने जारी रखा। वे ११ बजे से १२ बजे तक कक्षा लेते एवं तब १ बजे विधानसभा के सत्र में समय से पहुँच जाते। इससे उनके विद्यार्थी भी बड़े प्रसन्न रहते। राजनेताओं की आम प्रकृति के प्रतिकूल शास्त्रीजी अपने विरोधी पक्ष की निन्दा या कटूक्तियों का ही बखान नहीं करते बल्कि रचनात्मक सुझाव भी देते एवं उनकी अच्छी बातों की प्रशंसा में भी कंजूसी नहीं करते। पाखंड का पर्दाफाश, अच्छे कार्यों की प्रशंसा से वे आदर के पात्र बन गए। २५ मार्च १९८० को विद्युत समस्या पर शास्त्री जी के भाषण के एक अंश को नमूने के रूप में उद्धृत करना चाहता हूँ— "ज्योति बाबू ने अपनी बजट वक्तृता में विद्युत मंत्रालय में प्रगति का दावा किया है। जबकि टीटागढ़ में सी.ई.एस.सी. के नए उत्पादन केन्द्र का शिलान्यास करते समय उन्होंने राज्य विद्युत परिषद की बड़ी भर्त्सना की थी। इस भर्त्सना में यदि ज्योति बाबू ने विलाप किया है तो बजट वक्तृता में उन्नति का दावा प्रलाप मात्र है। इस विलाप और प्रलाप के बीच सत्य का जो अपलाप हुआ है, उसे मैं विद्युत विभाग के पिछले वर्ष के क्रियाकलाप से उजागर करना चाहता हूँ.....।" कहना नहीं होगा कि इस अनुप्रास भरे आक्रामक भाषण का सभी सदस्यों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा एवं सदन के भीतर, बाहर सर्वत्र इसकी प्रशंसा हुई। शिक्षा एवं स्वास्थ्य के अलावा बजट, पुलिस बजट, ऊर्जा संकट, भूमि राजस्व, शरणार्थी समस्या, नगर उन्नयन, बस्ती उन्नयन, विक्रयकर संशोधन प्रभृति सभी विषयों पर उनके भाषण प्रभावी रहे। विधानसभा के एक सत्र में एक विद्यालय के प्रश्नपत्र में आए गणेशजी सम्बन्धी उद्धरण का विरोध करने के कारण, जिसमें गणेशजी को मुनाफाखोर बताया गया था, उन्हें काफी प्रशंसा मिली। उनके वक्तव्य के बाद स्वयं अध्यक्ष ने इस वृत्ति की भर्त्सना की। इस प्रकार १९८२ तक उन्होंने एक कर्मठ विधायक के रूप में अपना दायित्व निभाया।

राजनैतिक उथल-पुथल

इस बीच राष्ट्रीय राजनीति में काफी उथल-पुथल होकर उसका चेहरा ही बदल गया। जुलाई ७९ में चौधरी चरण सिंह ने इन्दिरा गाँधी से गुप्त समझौता कर मोरारजी देसाई की सरकार गिरा दी एवं २८ जुलाई को स्वयं प्रधान मंत्री बन गए। यह सरकार एक माह भी नहीं चल पाई क्योंकि इन्दिरा गाँधी ने समर्थन वापिस ले लिया। राष्ट्रपति जी ने जनता पार्टी के नेता जगजीवन राम को सरकार बनाने का न्योता देने के बजाय चरण सिंह की सिफारिश पर लोकसभा भंग कर दी एवं चरण सिंह को कार्यवाहक प्रधानमंत्री बने रहने दिया। जनवरी १९८० में लोकसभा के नये चुनाव में इन्दिरा कांग्रेस को अप्रत्याशित ३५१ सीटें मिली एवं जनता पार्टी को कुल ३१ सीटें। ८ अक्टूबर १९७९ को जनता पार्टी के संसदीय दल ने बहुमत से यह प्रस्ताव पास किया कि जनता पार्टी के अधिकारी, सांसद एवं विधायक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की दैनन्दिन गतिविधियों में भाग नहीं ले सकते क्योंकि यह दोहरी सदस्यता

होगी। इस बेतुकी बात की जनता पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी ने भी १४ के मुकाबले १७ मतों से पुष्टि कर दी। मोरारजी भाई के एकता के प्रयत्न विफल हुए एवं उसकी स्वाभाविक परिणति के रूप में जनसंघ गुट के सदस्यों ने ५ अप्रैल १९८० को वृहत् सम्मेलन कर अलग नई पार्टी बनाने का निश्चय किया एवं ६ अप्रैल को पार्टी का नाम 'भारतीय जनता पार्टी' रखा एवं श्री अटल बिहारी वाजपेयी इसके अध्यक्ष बने। शास्त्री जी नई पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी में नियुक्त किए गए। प्रो० हरिपद भारती पश्चिम बंगाल भा.ज.पा. के अध्यक्ष बने। १९ अगस्त १९८० को पश्चिम बंगाल विधानसभा में भाजपा को अलग गुट की स्वीकृति मिली।

राष्ट्रीय कार्यकारिणी के सदस्य के रूप में शास्त्रीजी ने केन्द्रीय नेताओं के साथ विभिन्न प्रान्तों का दौरा किया एवं राष्ट्रीय कार्य समिति में प्रस्तावों का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करने में एवं अपने व्याख्यानों द्वारा मीटिंगों में सटीक कवितायें उद्धृत कर सरस बनाने एवं वातावरण में उत्साह भरने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। व्यापक दौरे कर बंगाल के कार्य को भी शास्त्रीजी ने खूब आगे बढ़ाया। विद्वान के नाते तो उनका सर्वत्र सम्मान था ही, फिर विधायक एवं राष्ट्रीय कार्यकारिणी की सदस्यता के कारण उनका प्रभाव कार्यकर्त्ताओं के साथ-साथ बाहर के समाज में भी व्यापक था। दुर्भाग्य से १९ मार्च १९८२ ई० को अचानक दिलका दौरा पड़ने से हरिपद बाबू की मृत्यु हो गई एवं २८ मार्च को उनकी शोकसभा में शामिल होने के बाद अटलजी ने शास्त्री जी को प्रदेश भाजपा का अन्तरिम काल के लिये अध्यक्ष नियुक्त कर दिया। एक प्रकार से यह काँटों का ताज था। दो माह बाद मई में ही विधानसभा के चुनाव थे एवं राजनैतिक वातावरण भी प्रतिकूल था। अकेले ही अपने दम पर चुनाव लड़ना था। पार्टी ने ५४ उम्मीदवार तय किये। शास्त्रीजी स्वयं भी जोड़ासाँकू से उम्मीदवार बने। उनके एक अति निकट के मित्र ने जब उनसे कहा कि जब हार निश्चित है तब आप क्यों खड़े हो रहे हैं? उनका सीधा जवाब था— 'जब अनुकूलता थी तो पार्टी ने मुझे टिकट दी। अब प्रतिकूलता है तो मैं इन्कार कैसे कर सकता हूँ? यही है शास्त्रीजी की सच्ची पहचान। उन्होंने चुनाव के लिये पूरा जोर लगाकर काम किया। अध्यक्ष के नाते विभिन्न क्षेत्रों में भाषण भी दिये एवं अर्थ संग्रह हेतु भी जी-तोड़ परिश्रम किया। परिणाम तो पहले से ही जाना हुआ था। एक भी प्रत्याशी नहीं जीता। शास्त्रीजी फिर कार्यकर्त्ताओं का उत्साह बढ़ाने एवं संगठन को चुस्त-दुरस्त करने में जुट गये।

राज्यशाखा के पुनः अध्यक्ष निर्वाचित

१९८३ की ९ जनवरी को पुनः शास्त्रीजी को विधिवत सर्वसम्मति से प्रदेश अध्यक्ष चुना गया जिस पद को फरवरी १९८६ तक उन्होंने सम्हाला।

इस कार्यकाल में पार्टी की शक्ति बढ़ाने हेतु शास्त्रीजी ने जिलों के व्यापक दौरे किए। अर्थ संग्रह एवं संगठन हेतु काम का विभाजन कर अलग-अलग लोगों को दायित्व दिया एवं स्वयं भी सब की देखभाल एवं मदद में जुटे रहे।

वर्ष १९८३ में राज्य के प्रमुख जिलों में कार्यकर्त्ता-प्रशिक्षण वर्ग आयोजित किए गए। इससे कार्यकर्ताओं के आपसी मतभेद भी दूर हुए। अन्य पार्टियों के विशेष कर बंगला कांग्रेस के कई कार्यकर्त्ता पार्टी में शामिल हुए। १९ मार्च '८४ को कलकत्ता के पोर्ट इलाके में स्थानीय मुसलमान गुंडों द्वारा विनोदकुमार मेहता डी.सी. का दिन दहाड़े खून कर दिया गया। दंगे में हिन्दुओं की जानमाल की भी हानि हुई। शास्त्रीजी ने दंगाग्रस्त क्षेत्र का दौरा किया। हिन्दू, मुसलमान सभी से सम्पर्क किया एवं दोषियों को दंड की मांग की। जनता में इसकी व्यापक प्रशंसा हुई। कलकत्ता में 'श्यामाप्रसाद मुखर्जी की मूर्त्ति लगाने हेतु शास्त्रीजी आडवानीजी के साथ दो बार मुख्यमंत्री ज्योति बसु से मिले।

माँग तो बहुत पहले से ही चल रही थी। १७ जुलाई १९८४ को राज्य सरकार ने इसकी स्वीकृति दी, इससे सभी कार्यकर्ता प्रसन्न हुए। मूर्त्ति २ वर्ष बाद रेड रोड पर स्थापित हुई।

राजनैतिक परिस्थिति ने फिर पलटा खाया और ३१ अक्टूबर १९८४ को इन्दिराजी की उन्हीं के दो सुरक्षाकर्मियों द्वारा हत्या किए जाने से उनके प्रति उपजी सहानुभूति के कारण भाजपा के लिए परिस्थिति फिर विषम हुई। राजीव गाँधी प्रधानमंत्री नियुक्त हुए। दिसम्बर में हुए लोकसभा चुनाव में पार्टी को जबरदस्त धक्का लगा। स्वयं अटलजी भी हार गए एवं लोकसभा में पार्टी के केवल दो प्रत्याशी जीते। इस कठिन समय में भी शास्त्रीजी अपनी जिन्दादिली एवं कविताओं के द्वारा कार्यकर्त्ताओं एवं पार्टी के नेताओं का भी हौसला बढ़ाते रहे।

जून १९८५ में कलकत्ता कार्पोरेशन के १६ वर्ष बाद चुनाव हुए इसमें दो पार्षद चुने गए, तीन दूसरे स्थान पर रहे। व्यापक रिगिंग एवं हिंसा को देखते हुए यह असन्तोषजनक नहीं था। १० फरवरी १९८६ को शास्त्रीजी ने पेट्रोल आदि की कीमतों में वृद्धि के विरुद्ध पार्टी के प्रदर्शन का नेतृत्व किया जिसपर लाठी चार्ज हुआ एवं शास्त्रीजी पर भी लाठियाँ पड़ी। कई कार्यकर्त्ताओं को भी चोट लगी पर अपने नेता के साथ रहने से कार्यकर्त्ताओं का हौसला बुलन्द रहा। इस दौर के अध्यक्ष के रूप में शास्त्रीजी का यह आखिरी कार्यक्रम था, एक सप्ताह के बाद ही नया अध्यक्ष निर्वाचित होना था। १४ फरवरी ८६ को सुकुमार बनर्जी नए अध्यक्ष चुन लिए गए। बाद में १९९५ से १९९७ के कार्यकाल में वे फिर एक बार पश्चिम बंगाल शाखा के अध्यक्ष बने।

इसी वर्ष ६ नवम्बर १९८६ को डॉ० मुरली मनोहर जोशी बंगाल के पर्यवेक्षक नियुक्त होकर आए। शास्त्रीजी उनके साथ मिलकर पत्रकारों, अध्यापकों एवं समाज के अन्य महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से व्यापक सम्पर्क बनाकर पार्टी के निकट लाने, पार्टी चलाने के लिए अर्थ संग्रह एवं नए-पुराने कार्यकर्त्ताओं को पार्टी के काम में जुटाने में पूरी तरह जुटे रहे। इसका अच्छा परिणाम आने लगा। कलकत्ता कार्पोरेशन में भी कांग्रेस एवं सी.पी.एम. की संख्या लगभग समान-समान होने के कारण भाजपा का महत्त्व बढ़ा, इससे भी संगठन को प्रतिष्ठा मिली। शास्त्रीजी ने इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। राजनीति में इतने सराबोर होने पर भी शास्त्रीजी कलकत्ता ही नहीं, देश भर की सामाजिक-साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं से सक्रिय रूप से जुड़े रहे। राजनेता और साहित्यिक-धार्मिक व्यक्तित्व का यह आश्चर्यजनक मेल अन्यत्र मिलना कठिन है।

शास्त्रीजी जितने प्रज्ञावान है, उतने ही साहसी भी हैं। प्रज्ञा और शौर्य का यह मणिकांचन संयोग दुर्लभ होता है। जहाँ-जहाँ चुनौती आई, वे कभी पीछे नहीं हटे। बात १९९७ के विधानसभा चुनावों की है। तपन सिकदर जोड़ाबागान से पार्टी के उम्मीदवार थे। मुकाबले में कांग्रेस के सुव्रत मुखर्जी। सुव्रत मुखर्जी एवं उनके लोगों ने मारवाड़ी बालिका विद्यालय के पोलिंग स्टेशन पर आतंक की सृष्टि कर कुछ मतपेटियाँ नीचे फेंक दी एवं गोलियाँ चलाई। भय से लोग भागने लगे पर शास्त्रीजी सूचना पाकर वहाँ आए एवं सुव्रत को गिरफ्तार करने की माँग की। पुलिस ने लाठियाँ भांजी तब शास्त्रीजी पुलिस जीप के सामने दृढ़ता से डट गए तो पुलिस मुँह ताकने लगी। कार्यकर्त्ता शास्त्रीजी को घेरकर धरने पर बैठ गए। वातावरण गर्म हो गया। अन्त में मुख्यमंत्री ने हस्तक्षेप कर शास्त्रीजी को वार्ता हेतु राइटर्स बिल्डिंग बुलाया। गृह सचिव, मुख्य सचिव आदर पूर्वक मिले एवं उस स्टेशन का निर्वाचन रद्द कर पुनर्निर्वाचन करने एवं मामला दायर कर उचित कार्यवाही का आश्वासन दिया तब धरना हटाया गया। इससे कार्यकर्त्ताओं का हौसला बढ़ा। ऐसे ही तेवर राम मन्दिर आन्दोलन में कई प्रसंगों में प्रकट हुए जिनकी आगे चर्चा होगी।

राष्ट्रीय उपाध्यक्ष एवं राज्यसभा के सदस्य

१४ अप्रैल १९८८ को शास्त्रीजी को भाजपा का राष्ट्रीय उपाध्यक्ष मनोनीत किया गया जिस पर वे १९९३ तक रहे एवं उपाध्यक्ष रहते हुए ही १९९२ की ४ जुलाई को वे उत्तर प्रदेश से राज्यसभा के सांसद् चुने गए जिसकी अवधि ६ वर्ष यानी १९९८ तक रही। १९८९ से ही भाजपा अयोध्या आन्दोलन से जुड़ी। १९८९ में रामशिला पूजन, अयोध्या में राम मन्दिर शिलान्यास, लोकसभा चुनाव जिसमें विश्वनाथ प्रताप सिंह प्रधानमंत्री चुने गए, १९९० की आडवानी जी रथयात्रा एवं कारसेवा, १९९२ में बाबरी ढाँचे का गिरना, भाजपा शासित चार प्रदेशों की सरकारों का भंग होना, उसके बाद भाजपा एवं संघ परिवार की बाकी सब दलों द्वारा घेरे-बन्दी का प्रयत्न, तीन बीघा का बंगलादेश को हस्तान्तरण एवं डॉ० मुरली मनोहर जोशी की एकता यात्रा— ये सभी घटनायें इस दस वर्ष के काल में ही घटित हुई। इन सबमें शास्त्रीजी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही एवं उनके तीखे तेवर एवं परिस्थितियों को योग्य प्रकार से सम्हालने की क्षमता उभर कर सामने आई। हाँ, उनके व्यक्तिगत जीवन की एक बहुत बड़ी दुर्घटना भी इसी काल के एकदम प्रारंभ में घटी वह थी उनकी जीवन संगिनी इन्दिरा (दर्शना) शास्त्री का २७ मई १९८८ को प्रातः अस्पताल में हृदयगति के रुकने से देहान्त हो गया। वे कुछ काल से अस्वस्थ थी, उपचार से स्वस्थ हो चली थी पर अचानक यह वज्राघात हो गया जिस पर किसी का कोई बस नहीं था।

१९८६ में राममन्दिर का कोर्ट के आदेश से ताला खोला गया तभी से कट्टरपंथी मुसलमान साम्प्रदायिक विष वमन कर रहे थे। ऐसी स्थिति में १९८९ में भाजपा ने मन्दिर निर्माण के न्यायपूर्ण आन्दोलन को समर्थन देने का तय किया। बाद के दिनों में एक परिचर्चा में जब खुशवन्त सिंह ने शास्त्रीजी से पूछा कि यदि महात्मा गाँधी आज होते तो क्या करते ? शास्त्रीजी ने कहा कि वे क्या करते यह तो केवल अनुमान का विषय है, पर ऐसी स्थिति में उन्होंने क्या किया यह इतिहास में स्पष्ट है। अभी जहाँ सोमनाथ का मन्दिर बना हुआ है वहाँ कब्रिस्तान था, एक टूटी-फूटी मस्जिद भी थी, जिसको हटाकर मन्दिर का निर्माण हुआ क्योंकि इतिहास में वहाँ मन्दिर था। महात्मा गाँधी ने इसे अपना आशीर्वाद दिया अतः आज वे राममन्दिर पुनर्निर्माण को अपना आशीर्वाद नहीं देते, यह मानने का कोई कारण नहीं है। इससे खुशवन्त सिंह चुप हो गए।

सितम्बर १९८९ में देश भर में रामशिला पूजन का कार्यक्रम बना। बंगाल में ३० सितम्बर की तारीख तय हुई। मुख्यमंत्री ज्योति बसु ने इसको हँसी उड़ाते हुए कहा कि— 'बंगाल में ईंट-टींट पूजा नहीं करने देंगे' —शास्त्रीजी ने इसका जोरदार प्रतिवाद किया। कलकत्ता में बिनानी धर्मशाला में पूजन का बड़ा कार्यक्रम हुआ, उसी के प्रांगण में सभा हुई जिसमें शास्त्रीजी पूरे तेवर से बोले एवं चुनौती स्वीकारी। दुर्गापूजा के कई पंडालों में कलकत्ता एवं बाहर की शिला पूजन हुआ जिसके चित्र भी समाचार पत्रों में छपे। यह तो हुआ पर भागलपुर में हुए दंगे का बहाना बनाकर शिलायज्ञ के अवसर पर ५ नवम्बर को निकलने वाले नगर कीर्तनों की ४ शोभायात्राओं पर जिनकी पुलिस पहले अनुमति दे चुकी थी, पाबन्दी लगा दी। कुछ पदाधिकारियों का मत था कि सरकार अनुमति नहीं दे रही है तो शोभायात्रा नहीं निकालनी चाहिए पर शास्त्रीजी का मत था कि चाहे जो हो, शोभायात्रा कम से कम एक तो अवश्य निकालनी चाहिए। शास्त्रीजी को ही प्रशासन से बात करने का जिम्मा आया। वे पुलिस के आला-अधिकारियों से मिले एवं दृढ़ता से बात की। पुलिस का कहना था कि भागलपुर की तरह यहाँ भी अशान्ति हो सकती है। शास्त्रीजी ने कहा कि आपकी अनुमति के बिना हम शोभायात्रा निकालेंगे और आप उस पर गोली चलाएंगे तो भी तो अशान्ति होगी। उनकी दृढ़ता ने काम किया। वे मुख्य सचिव से भी मिले एवं अन्ततोगत्वा एक शोभायात्रा की अनुमति

मिली। कई दिन तक बनी दुविधा की स्थिति में पत्रों में बहुत गरमागरम खबरें आती रहीं। अनुमति देने के समय एक अधिकारी ने व्यंग्य किया कि जुलुस की सुरक्षा में हम जितने लोग लगाएंगे, उतने लोग तो जुलूस में सम्मिलित होंगे क्या? शास्त्रीजी ने कहा कि हाथ कंगन को आरसी क्या? पुनः बैठक में सारी बातों की चर्चा हुई तो यह प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया एवं सब की शक्ति लगने से जोड़ाबागान पार्क से प्रारंभ हुआ यह जुलूस ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता गया, लोग अपूर्व उत्साह से सम्मिलित होते गए एवं मित्रों की दृष्टि में १ लाख तो विरोधियों की दृष्टि में ६०-७० हजार। पर किसी भी दृष्टि से यह इस प्रकार की सबसे बड़ी शोभायात्रा रही एवं धर्मतल्ला मैदान के पास आई.टी.एफ. पेवेलियन पर जहाँ यह समाप्त हुई, श्री अशोक सिंघल एवं आचार्य प्रथमेशजी के प्रभावी भाषण हुए। पूरे प्रदेश में इसका अनुकूल प्रभाव पड़ा। इसका पूरा श्रेय शास्त्रीजी को मिला। इससे शास्त्रीजी की सर्वत्र माँग बढ़ गई। मालदा में इसी सिलसिले में ३०० स्वयंसेवकों की गिरफ्तारी के प्रतिवाद में 'मालदा बन्द' का आह्वान किया गया, मुख्यमंत्री ज्योति बसु की उस दिन वहाँ उपस्थिति के बावजूद मालदा पूरी तरह बन्द रहा। कांग्रेस एवं सी.पी.एम. द्वारा अल्पसंख्यकों की नाजायज तुष्टीकरण की नीति के विरुद्ध एवं हिन्दुत्व के पक्ष में लोगों में आई जाग्रति का यह परिचायक था।

इसके बाद लोकसभा के निर्वाचन आगए। बंगाल में भाजपा ने १८ सीटों पर उम्मीदवार उतारे। शास्त्रीजी ने प्रचार एवं अर्थ संग्रह हेतु भरपूर परिश्रम किया। वोट बढ़े पर सीट नहीं मिली। सन्तोष का विषय यह रहा कि अखिल भारतीय स्तर पर भाजपा की सीटें दो से बढ़कर ८६ हो गईं जो कल्पना से अधिक एवं प्रसन्नता देने वाली थी। इससे भाजपा के सभी लोगों एवं हिन्दुत्ववादी ताकतों का सम्मान बढ़ा। २ दिसम्बर को राजीव गाँधी के स्थान पर विरोधी पक्ष के समर्थन पर विश्वनाथ प्रताप सिंह ने प्रधानमंत्री की शपथ ली। सी.पी.एम. का भी समर्थन था। इससे वे लोग भी भाजपा के समर्क में आए, शास्त्रीजी से स्वाभाविक ही बंगाल के बड़े नेताओं का सम्पर्क बढ़ा। कांग्रेसी की १९३ सीटें, उसके बाद जनता दल की एवं तीसरा स्थान भाजपा का था। इसके बावजूद बंगाल में सी.पी.एम. का संत्रास कम नहीं हुआ अतः स्थान-स्थान पर संत्रास के विरोध में लगभग सभी जिलों में सफल कार्यक्रम हुए। बाद में कलकत्ता के शहीद मीनार में आडवानीजी का भव्य कार्यक्रम हुआ जिसमें करीब १ लाख लोग उपस्थित थे। शास्त्रीजी का इसमें महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। आडवानीजी बेलूड़ मठ भी गए।

१९९० के प्रारंभ में राज्यों के चुनाव में भाजपा को मध्यप्रदेश, हिमाचलप्रदेश में दो-तिहाई बहुमत मिला एवं राजस्थान में सबसे बड़ी पार्टी बन कर उभरी और उसीके नेतृत्व में सरकार बनी। शास्त्रीजी के आग्रह पर ६-७-८ अप्रैल को राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक कलकत्ता में करने को केन्द्रीय नेतृत्व राजी हुआ। अर्थ संग्रह हेतु शास्त्रीजी को भरपूर परिश्रम करना पड़ा पर बैठक बहुत सफल हुई। ब्रिगेड की जनसभा में २ लाख से ऊपर लोग भाजपा नेताओं को सुनने आए।

पूरे देश में शिलापूजन के कार्यक्रम के उपरान्त राम मंदिर परसर में शिलान्यास का स्थान तय किया गया एवं ९ नवम्बर ८९ को शिलापूजन सम्पन्न हुआ और १४ फरवरी ९० का दिन आगे के निर्माण हेतु तय किया गया। ८ फरवरी को तत्कालीन प्रधानमंत्री वी. पी. सिंह ने मामले को सुलझाने हेतु ४ माह का समय माँगा। पर इस अवधि में भी एवं इसके बाद भी कोई प्रगति नहीं होने से विश्व हिन्दू परिषद ने अपनी हरिद्वार की बैठक में ३० अक्टूबर के दिन श्रीराम मन्दिर निर्माण के लिए कारसेवा की तिथि तय की। देश भर से कार सेवकों के अयोध्या पहुँचने के प्रयत्न प्रारंभ हुए। इस परिपेक्ष में श्री लालकृष्ण आडवानी ने भी २५ सितम्बर से सोमनाथ से अयोध्या तक

जनजागरण हेतु रामरथ यात्रा करने की घोषणा की एवं सोमनाथ का पूजन कर १० हजार किलोमीटर की ऐतिहासिक यात्रा पर निकल पड़े। इस यात्रा का अद्‌भुत स्वागत हुआ इससे तथाकथित 'धर्मनिरपेक्षतावादी' बौखला उठे। आडवानी जी के रथ को समस्तीपुर (बिहार) में रोककर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। इस पर भाजपा ने विश्वनाथ प्रसाद सिंह की सरकार से अपना समर्थन हटा लिया। मुख्यमंत्री मुलायम सिंह ने अयोध्या पहुँचने वाले कारसेवकों को बीच में ही रोकने के लिए भारी पुलिस प्रबन्ध किए एवं गर्व से दावा किया कि अयोध्या में ३० अक्टूबर को परिन्दा भी पर नहीं मार सकेगा। राम भक्तों ने इस चुनौती को स्वीकार किया एवं श्री अशोक सिंघल, श्रीशचन्द्र दीक्षित तथा उमा भारती सहित ५० हजार कारसेवक देश के भिन्न-भिन्न भागों से अयोध्या पहुँच गए एवं तय तारीख पर बाबरी के गुंबदों पर भगवा फहराकर कारसेवा पूर्ण की। २ नवम्बर को खीज मिटाने हेतु मुलायम सिंह की पुलिस ने कोठारी बन्धुओं सहित करीब बीस कारसेवकों की गोली मारकर हत्या कर दी। कारसेवकों ने इस चुनौती में किस तरह यात्रा की इसका बहुत अच्छा वर्णन शास्त्रीजी ने अपने लेख 'विकट तूफान की झड़ियाँ' में किया, जो 'पाञ्चजन्य' सहित बहुत से पत्रों में भी छपा। यह उनकी पुस्तक 'सुधियाँ उस चन्दन के वन की' में भी मुद्रित है। इस ग्रंथ के खंड ५ में भी इसे उद्धृत किया गया है।

शास्त्रीजी लिखते हैं— 'राष्ट्रीय अस्मिता के स्वाभिमान की रक्षा के संग्राम में अपना विनीत योगदान देने के लिए अयोध्या पुकार रही थी। इस पुकार का उत्तर न देना असंभव था। श्रीराम के जन्मस्थान पर ही रामलला के मन्दिर के निर्माण के लिए कलकत्ता के अन्य रामभक्तों के साथ मैंने भी अपनी सेवा अर्पित करने का संकल्प लिया।' इसी संकल्प के अनुसार वे ८० कार्यकर्त्ताओं के साथ २५ अक्टूबर '९० को हावड़ा स्टेशन से अयोध्या के लिए रवाना हुए। मार्ग में पूरी सावधानी बरतते हुए कहीं रेल, कहीं पैदल, कहीं रिक्सा से यात्रा करते-करते आखिर पुलिस के हत्थे चढ़ ही गए एवं गोण्डा की जेल में बन्द कर दिए गए। अयोध्या जाने का संकल्प इतना दृढ़ था कि लोहे के छड़ काटकर वे एवं उनके साथी जेल से भागे और सारी रात पैदल चलकर ३० तारीख की दोपहर अयोध्या में सरयू के पुल पर पहुँच गए।

पुल पर रामभक्तों की भारी भीड़ थी। पुलिस अधिकारी पुल खाली न करने पर गोली चलाने की धमकी देते रहे पर छन-छन कर यह सूचना आ रही थी कि गुम्बद पर भगवा फहरा कर कारसेवा हो चुकी है। अतः जिलाधिकारी से बातचीत कर बीच-बचाव का रास्ता निकाला। शास्त्रीजी एवं एक स्थानीय नेता श्री अवधेश सिंह श्रीराम जन्मभूमि मन्दिर के दर्शन हेतु ले जाए गए। वापिस आकर उन्होंने पुल पर एकत्र कारसेवकों को कारसेवा होने के समाचार बताए तब जाकर भीड़ वहाँ से हटी। शास्त्रीजी के शब्दों में—

'अयोध्या के लिए प्रस्थान करते समय मैंने कल्पना भी नहीं की थी कि उस दुर्भेद्य सैन्य-दुर्ग में मैं रामलला के दर्शन कर पाऊंगा। श्री मुलायम सिंह यादव जिस तरह रामभक्तों को ध्वस्त करने की धमकियां पर धमकियाँ, चुनौतियों पर चुनौतियाँ दिये जा रहे थे उससे हम सबके मन क्षुब्ध ही नहीं थे, क्रुद्ध थे। बार-बार वे रामभक्तों को डरा रहे थे कि वे उन्हें कुचल देंगे। उन्होंने दम्भ भरे स्वर में कहा था— 'वहाँ इतना पक्का इन्तजाम करेंगे कि परिन्दा भी पर नहीं मार सकेगा।' भारतीय जनता को लगा कि इस चुनौती को स्वीकार करना चाहिए। उनके इस दम्भ को चूर-चूर कर देने के लिए बरसती गोलियों की उपेक्षा कर रामभक्त जनता जिस आवेश में उमड़ी थी उस प्रलय-ज्वार के थपेड़ों के चिन्ह भी उस ढाँचे पर अंकित हुए थे। सचमुच लोकशक्ति का उभार राजसत्ता की पशु-शक्ति को स्तम्भित कर देता है। बीस के करीब शहीदों और सैंकड़ों घायलों ने यह साबित किया कि आदर्शवादी परिन्दे अपने

परों को फड़फड़ा कर दम्भी शासकों का मान-मर्दन कर गये हैं।' .....हम लौटे। हमने पुल पर बैठे रामभक्तों को शहीदों के रक्त से रंजित कारसेवा का तथ्य वर्णन सुनाया।'

६२ वर्ष के शास्त्रीजी जो एक विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे, साथ ही भाजपा जैसे बड़े राजनैतिक दल के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष थे, कैसे संकल्पित होकर अयोध्या कारसेवा हेतु पहुँचे वह अयोध्या आन्दोलन की एक छोटी सी बानगी है। रेडियो एवं टी.वी. लगातार गलत समाचार प्रसारित कर रहे थे अतः अयोध्या से शास्त्रीजी अपने केन्द्रीय नेताओं को प्रामाणिक बात बताने दिल्ली चले गए।

इसके एक सप्ताह बाद ही संसद में आडवाणी जी ने विश्वनाथ प्रसाद सिंह की दो मुँही नीति पर जबरदस्त प्रहार किया एवं फलस्वरूप उनकी सरकार गिर गई। चन्द्रशेखर कांग्रेस के सहयोग से प्रधानमंत्री बने। २१ मई १९९१ को मद्रास के निकट लिट्टे उग्रवादियों द्वारा राजीव गाँधी की हत्या कर दिये जाने से राजनैतिक परिस्थितियों ने फिर मोड़ ले लिया।

अगस्त १९९१ में बंगाल के तत्कालीन पुलिस मंत्री श्री बुद्धदेव भट्टाचार्य ने धमकी दी कि पुलिस थानों में बने मन्दिर हटा दिये जाएँगे। शास्त्री जी ने इसका कड़ा प्रतिवाद किया। बाद में पुलिस ने इस पर चुप्पी साध ली।

जनवरी १९९२ में भाजपा के नए राष्ट्रीय अध्यक्ष डॉ० मुरली मनोहर जोशी ने राष्ट्रीय एकता को दृढ़ करने हेतु कश्मीर जाकर २६ जनवरी को लाल चौक पर तिरंगा फहराने का संकल्प लिया एवं उस हेतु देशव्यापी 'एकता यात्रा' निकाली। प्रान्तों में भी यात्रायें निकाली गई। बंगाल में भी सभी जिलों में रथ निकाले गए जिससे अच्छा लोक सम्पर्क हुआ। तपन सिकदर (जो प्रान्तीय अध्यक्ष थे) के साथ-साथ शास्त्रीजी ने भी अनेक जगह व्याख्यान दिए। वे डॉ० जोशी की अगवानी करने लखनऊ, दिल्ली एवं जम्मू भी गए।

यद्यपि श्रीनगर जाने हेतु सुरक्षा की दृष्टि से केन्द्रीय सरकार के आग्रह पर संख्या में भारी कटौती की गई पर शास्त्रीजी वहाँ भी डॉ० जोशी के साथ गए। इसके दो दिन पूर्व ही श्रीनगर में बहुत बड़ा विस्फोट हुआ। इसके बावजूद डॉ० जोशी वहाँ गए उसका सुरक्षा कर्मियों एवं जनता पर बहुत अच्छा असर पड़ा।

मार्च ९२ में भारत सरकार ने घोषणा की कि २६ जून को 'तीन बीघा' का स्थान बंगला देश को दे दिया जाएगा। भाजपा इसका प्रारंभ से ही विरोध कर रही थी। उत्तर बंगाल की जनता भी इसके प्रबल विरोध में थी पर कांग्रेस एवं सी.पी.एम. दोनों ही इसके पक्ष में होने से विरोध को सरकारी ताकत के बल पर कुचला जा रहा था। शास्त्रीजी इस आन्दोलन को सफल करने हेतु १८ से २४ जून तक सिलीगुड़ी जाकर बैठे। उस सारे क्षेत्र को सेना एवं पुलिस की छावनी के रूप में बदल दिया गया था। डॉ० मुरली मनोहर जोशी एवं शास्त्रीजी दोनों तीन बीघा तक गए। जनसभायें हुई। सी. पी. एम. के अत्याचारों के बावजूद भारी संख्या में लोग सभाओं में शरीक हुए। २५ को आडवानी जी भी आए। २६ को भाजपा के कार्यकर्त्ता स्थानीय निवासियों के साथ तीन बीघा हस्तान्तरण का विरोध करने तीन बीघा तक पहुँचे, उनपर गोलियाँ चलाई गई, दो कार्यकर्त्ता मारे गए, अनेक घायल हुए। सरकारी बल का प्रयोग करते हुए तीन बीघा बंगलादेश को हस्तान्तरित कर दिया गया। २७ को उत्तर बंगाल बन्द रहा, उस दिन भी गोली चली। कूचबिहार में तीन और कार्यकर्त्ता शहीद हुए। सब प्रयत्नों के बावजूद हस्तान्तरण रोका नहीं जा सका।

१९९२ के उत्तरार्द्ध में अयोध्या मामला फिर उभर कर आया। ६ दिसम्बर का दिन पुनः कारसेवा के लिए तय हुआ। सुप्रीम कोर्ट ढाँचे की रक्षा हेतु एफीडेविट चाहता था। २३ नवम्बर को राजमाताजी ने एफिडेविट जमा किया। इससे कार्यकर्त्ता प्रसन्न नहीं थे। कार्यकर्त्ताओं में उत्साह भरने हेतु १ दिसम्बर से काशी से आडवाणीजी एवं

मथुरा से डॉ० जोशी रथयात्रा पर निकले। इससे उत्साह बढ़ा। भाजपा के सभी पदाधिकारी विभिन्न प्रान्तों में जनसभाओं एवं सम्पर्क हेतु भेजे गए। शास्त्रीजी हिमाचल प्रदेश गए। ६ दिसम्बर को ठीक १२.१५ बजे राम मन्दिर निर्माणार्थ शंखध्वनि के साथ सारे प्रदेशों में पुष्पाञ्जलि भेंट की गई। तीन घंटे बाद ही खबर आने लगी कि कारसेवकों के एक अंश ने ढाँचा गिराना चालू कर दिया है— यह बहुत अप्रत्याशित था। सायंकाल तक सारे गुम्बद गिरा दिए गए एवं रामलला के लिए एक काम चलाऊ आवासीय मन्दिर भी बनाया गया। कल्याण सिंह सरकार ने इस्तीफा दे दिया इसके बावजूद केन्द्रीय सरकार ने उन्हें बर्खास्त किया। आडवाणीजी ने भी विरोधी दलके नेतापद से त्यागपत्र दे दिया। अटलजी भी इस अप्रत्याशित कार्य से दुखी थे। प्रधानमंत्री नरसिंह राव ने विश्वासघात का आरोप लगाया एवं बाबरी मस्जिद वहीं फिर से बनाने की घोषणा की जो आग में घी डालने के समान सिद्ध हुई। राजनैतिक लड़ाई गरम होने के आसार दिखने लगे।

८ दिसम्बर को आडवाणीजी एवं जोशीजी दोनों ही गिरफ्तार कर लिए गए। इस अन्याय का विरोध करने हेतु अटलजी ने संसद की कार्यवाही ठप्प करने को कहा। राज्यसभा में विरोध करने का नेतृत्व शास्त्रीजी ने किया। दोनों सदनों की कार्यवाही ठप्प हुई।

११ दिसम्बर को रा. स्व. संघ, विश्व हिन्दू परिषद, बजरंग दल, जमाते इस्लामी, आई.एस.आई. को प्रतिबन्धित कर दिया गया। कलकत्ता में दंगे भड़के। देश के अन्य भागों में भी दंगे भड़के। भाजपा की प्रान्तीय सरकारों ने कड़ाई से शान्ति बनाये रखी। १२ दिसम्बर को शास्त्रीजी कलकत्ता आए। भाजपा कार्यालय में प्रेस कॉन्फ्रेन्स कर दंगे भड़काने का आरोप सी.पी.एम. पर लगाया। रात्रि में आकर हरियाना भवन में मटियाबुर्ज से भागकर आए हिन्दुओं से मिले जिन्होंने बताया कि दंगाई एक हाथ में लाल झंडा और एक में काला झंडा लेकर हिन्दुओं पर हमला करते रहे। करीब १५ हजार हिन्दू विस्थापित हुए। इतने ही मुसलमान भी हिन्दू बस्तियों में विस्थापित हुए। चालीस से ऊपर दोनों धर्मों के लोग मरे। यह वाममोर्चा सरकार की नितान्त असफलता कही जाएगी। १३ दिसम्बर को शास्त्रीजी एवं अन्य भाजपा पदाधिकारी दंगाग्रस्त क्षेत्रों को देखने हेतु पार्टी कार्यालय से रवाना हुए तो उन्हें तत्काल गिरफ्तार कर लिया गया। बाद में शाम को छोड़ा गया। १५ दिसम्बर को केन्द्र सरकार ने राजस्थान, हिमाचल एवं मध्यप्रदेश की सरकारों को यह कहकर भंग कर दिया कि इनके मुख्यमंत्री संघी हैं। हाल में उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश एवं गुजरात के राज्यपालों की बर्खास्तगी पर भी ऐसा ही कहा गया।

२० दिसम्बर को जुलूस निकालकर 'ललकार दिवस' मनाने एवं रेड रोड पर श्यामाप्रसाद मुखर्जी की मूर्ति पर माल्यदान करने का भाजपा ने कार्यक्रम बनाया। शास्त्रीजी एवं तपन सिकदर नेतृत्व कर रहे थे, उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। कार्यकर्त्ता छुपते, पुलिस की लाठी खाते, फिर छुपते हुए रेड रोड पहुँच ही गए एवं श्यामाप्रसाद की मूर्ति पर माला पहना दी। काफी कार्यकर्त्ता गिरफ्तार हुए। दिल्ली में अटलजी को भी गिरफ्तार किया गया। वे अनशन पर बैठे। गृहमंत्री ने जब आश्वासन दिया कि भाजपा की राजनैतिक गतिविधि पर पाबन्दी नहीं लगाई जाएगी तभी उन्होंने अनशन तोड़ा। बंगाल में पूरी ताकत लगाकर जनसभायें करने का निश्चय हुआ। केन्द्र में भी भाजपा ने राम मन्दिर वहीं बनाने, रामलला के दर्शनों पर से प्रतिबन्ध हटाने एवं केन्द्र सरकार को दमन से विरत होने की माँग की। शास्त्रीजी कार्यकर्त्ताओं से सम्पर्क हेतु जम्मू गये। २७ को ही रामलला के दर्शनों पर से प्रतिबन्ध हट गया, पर फिर प्रतिबन्ध लगाया। शास्त्रीजी को इसी क्रम में मद्रास भी भेजा गया। इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने शीघ्र ही रामलला के दर्शन पर प्रतिबन्ध हटा दिया। इससे सरकार के मुँह पर तमाचा पड़ा। ६ से १३ जनवरी १९९३ तक

शास्त्रीजी मेघालय, असम, नागालैण्ड एवं त्रिपुरा के चुनावी दौरे पर गए। त्रिपुरावासियों ने जय श्रीराम के नारे लगाए।

इस वातावरण में कलकत्ता में राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक १०-११ अप्रैल को तय हुई। ११ को ब्रिगेड में जनसभा होनी थी पर अचानक पुलिस कमिश्नर ने ६ दिसम्बर की घटना का उल्लेख कर सभा पर रोक लगा दी। इसके विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील की गई, न्यायालय ने १० अप्रैल को अपने फैसले में शान्ति रक्षार्थ कुछ अंकुश लगाकर सभा की अनुमति दे दी। सभा बहुत अच्छी हुई, सवा लाख से ऊपर लोग थे। इससे नेताओं एवं कार्यकर्त्ताओं में बहुत प्रसन्नता हुई। शास्त्रीजी का इसमें बहुत योगदान रहा। जून ९३ में पंचायत चुनावों में भाजपा को काफी सफलता मिली— १७ प्रतिशत वोट मिले, २५०० सीटें मिली एवं हावड़ा की नगरपालिका पर कब्जा हुआ। पंचायत समिति के चुनाव में भी ११४ सीटें मिली। भाजपा का विस्तार हुआ।

पार्टी के अखिल भारतीय स्तर पर संगठन के निर्वाचन अधिकारी भी शास्त्रीजी ही थे। ५ जून को अगले सत्र के लिए डॉ० जोशी के स्थान पर श्री आडवानी जी राष्ट्रीय अध्यक्ष निर्वाचित हुए। शास्त्रीजी राष्ट्रीय कार्यसमिति में बने रहे पर नई कमेटी में उपाध्यक्ष नहीं रहे। वे राज्यसभा के सदस्य तो थे ही। सितम्बर ९५ में उन पर पश्चिम बंगाल के अध्यक्ष की पुनः जिम्मेदारी आई जिसे उन्होंने दो वर्ष पूरे परिश्रम से निभाया। जून १९९६ में श्री वाजपेयी जी की कलकत्ता के एसप्लेनेड ईस्ट में अभूतपूर्व सभा हुई। वे १३ दिन प्रधानमंत्री रहने के बाद त्यागपत्र दे कर आये थे। लोगों में उन्हें देखने-सुनने का उत्साह इतना अधिक था कि पुलिस के टीन के लगाए बन्धन लोगों ने तोड़ दिये। वाजपेयी जी ने हँस कर पुलिस अधिकारीयों से कहा कि उन्हें इतनी अधिक सुरक्षा की आवश्यकता नहीं है। देश की जरूरतों को नजरअन्दाज कर बांगलादेश को गंगा का पानी देने के करार के विरुद्ध २८ जनवरी १९९७ को आडवाणीजी की विशाल सभा फरक्का में हुई जिसमें ७५ हजार लोग उपस्थित थे। इसके बाद २२ मार्च को ब्रिगेड-परेड ग्राउन्ड में श्री वाजपेयी जी की पुनः विराट सभा हुई। २१ से २५ जून (५ दिन) श्री आडवाणी जी की स्वर्ण-जयन्ती रथयात्रा का सफल कार्यक्रम हुआ। दक्षिण बंगाल में उड़िसा से लगी सीमा पर राज्य पार्टी की ओर से ५० से अधिक बड़ी जनसभाएँ आयोजित की गयीं। इस प्रकार यह दो वर्ष का शास्त्रीजी की अध्यक्षता का कार्यकाल बहुत उत्साहवर्द्धक रहा।

यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि समस्त राजनैतिक व्यस्तताओं एवं दबावों के बावजूद भी शास्त्रीजी का साहित्यिक संस्थाओं से बराबर सम्पर्क बना रहता था। श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय में एक कार्यक्रम के समय उनकी पुरानी छात्राओं ने उनसे आग्रह किया कि वे उनसे धार्मिक विषय पर प्रति माह कुछ सुनना चाहती हैं। उसी समय निश्चय हुआ कि वे प्रति माह एक प्रवचन करेंगे और प्रारंभ ईशोपनिषद से होगा। फरवरी १९९४ ई० से कुमारसभा पुस्तकालय में प्रारंभ हुई, यह व्याख्यानमाला पूरे ६ वर्ष अबाधित चली। ७६ व्याख्यान हुए, १८ ईशोपनिषद् पर एवं ५५ श्रीमद्भागवत गीता पर। तीन प्रवचन तो उनके हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल नियुक्त होने के बाद हुए, उसी निष्ठा से। यह शास्त्रीजी के व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य है। शास्त्रीजी के ही प्रयत्न से १३ अगस्त १९९४ ई० को श्री अटल बिहारी वाजपेयी का कुमारसभा के तत्वावधान में एकल काव्य पाठ हुआ जिसमें वाजपेयीजी ने ढाई घंटे तक अपनी कवितायें स्वयं सुनाई। यह अपने ढंग का अनूठा कार्यक्रम था। इसका संचालन शास्त्रीजी ने किया।

हिमाचल के राज्यपाल

२ दिसम्बर १९९९ को शास्त्रीजी को हिमाचल प्रदेश का राज्यपाल नियुक्त किया गया। उन्होंने जिलों के दौरे

कर प्रशासन को और भी गतिशील बनाया एवं मंदिरों के पंडित, पुजारियों का समुचित शिक्षण एवं प्रशिक्षण होता रहे एतदर्थ कदम उठाये। कुलपति के रूप में विश्वविद्यालयों के शैक्षिक कलेण्डर ठीक हों एवं हिन्दी का हर स्तर पर प्रयोग बढ़े इस हेतु भी निर्देश दिए। अपने लगभग एक वर्ष के कार्यकाल में जो कुछ उन्होंने किया उसके बारे में १४ नवम्बर २००१ के दैनिक जागरण की टिप्पणी है—

"राज्यपाल श्री शास्त्री ने छात्रों के लोकतान्त्रिक अधिकारों की वकालत करते हुए वहाँ छात्रसंघ चुनाव कराने की भरपूर कोशिश की एवं वे कामयाब भी रहे। हिमाचल में सरकारी कामकाज में हर स्तर पर हिन्दी के प्रयोग की जबर्दस्त हिमायत और सुदूर इलाके में फैले पौराणिक महत्व के धार्मिक स्थलों की व्यवस्था को दुरुस्त करने के लिए भी उन्होंने प्रयास किए और इसकी चर्चा भी खूब हुई।"

प्रदेश के सर्वोच्च पद पर आसीन कोई व्यक्ति अपनी सादगी, सरलता, सहजता तथा आत्मीयता के कारण सर्वसाधारण में कितना लोकप्रिय हो सकता है, इसे देखा जा सकता है बंगला दैनिक 'वर्त्तमान' में १ मई २००० को छपे वरिष्ठ पत्रकार श्री वरुण सेनगुप्त के लेख के इन अंशों में—

"शिमला में हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल विष्णुकान्त शास्त्री ने अपार लोकप्रियता हासिल की है। वहाँ का साधारण से साधारण व्यक्ति भी विष्णुकान्तजी की प्रशंसा करने से नहीं चूकता, जिसका एक प्रमुख कारण यह है कि विष्णुकान्तजी लाटसाहबों की तरह हरकतें नहीं करके एक साधारण मनुष्य की तरह व्यवहार करते हैं। .....शिमला शहर से कुछ मील दूर गाड़ीसाज के कारखाने के करीब एक छोटे से दुकानदार ने मुझसे कहा— हमारे नये राज्यपाल (श्री शास्त्री) की खासियत यह है कि वे छोटे-छोटे जिलों में घूमते हैं, वहाँ जाकर साधारण व्यक्तियों से सम्पर्क साधते हैं। उनके सुख-दुःख को समझने का प्रयास करते हैं। वे हेलीकाप्टर में यथासंभव उड़ते ही नहीं है एवं अन्य राज्यपालों की भाँति विराट काफिले के साथ गाड़ियों में भी अपेक्षाकृत कम यात्रा करते हैं। .....शिमला के एक अभिजात होटल के वेटर ने कहा कि हमारे नये राज्यपाल विशिष्ट व्यक्तियों की अपेक्षा साधारण मनुष्यों से अधिक वार्तालाप करते हैं।।"

शास्त्रीजी के राज्यपाल के रूप में इन कार्यों से अभिभूत श्री वरुण सेनगुप्त ने अपने उपर्युक्त आलेख का शीर्षक दिया है— "विष्णुकान्त शास्त्री ने हिमाचल में कलकत्ते का गौरव बढ़ाया है।"

नवम्बर २००० में जब उन्हें उत्तरप्रदेश का राज्यपाल बना दिया गया तो हिमाचल के हर नागरिक को यह अखरा। 'दैनिक जागरण' ने अपने २४ नवम्बर के अंक में छापा— "हिमाचल प्रदेश में एक लम्बी श्रृंखला के बाद विष्णुकान्त शास्त्री ऐसे राज्यपाल हैं जिन्होंने बेहद सद्भावना भरे माहौल में वहाँ से विदा ली। गौरतलब है कि राज्यपालों की विदाई के लिहाज़ से शिमला का राजभवन अभिशप्त कहा जाता है। .....लेकिन आज सुबह जब श्री शास्त्री वहाँ से विदा हो रहे थे, तब हर कोई उनके प्रति शुभकामित था।"

हिमाचल के राज्यपाल के रूप में शास्त्रीजी का कार्यकाल कितना प्रभावी एवं मधुर रहा, उपर्युक्त टिप्पणियाँ इस बात का प्रमाण हैं। मुख्यमंत्री प्रो० प्रेमकुमार धूमल के साथ तो सदैव उनके आत्मीय सम्बन्ध बने रहे।

उत्तर प्रदेश के राज्यपाल

हिमाचल जैसे छोटे राज्य के राज्यपाल रहने के बाद एक वर्ष के भीतर ही उन्हें भारत के सबसे बड़ी आबादी वाले एवं राजनैतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राज्य उत्तरप्रदेश का राज्यपाल बना दिया गया, जिसकी शपथ उन्होंने २४ नवम्बर २००० को ली। यह दायित्व काफी चुनौतीपूर्ण भी था क्योंकि पूर्व के राज्यपाल के कई निर्णयों के कारण

राजभवन विवादों के दायरे में आगया था। शास्त्रीजी के नाम की घोषणा होते ही प्रदेश की जनता में नई आशायें जाग उठीं। २४ नवम्बर २००० के 'जागरण' ने लिखा— 'राज्यपाल विष्णुकान्त शास्त्री के आने से पिछले अढ़ाई साल से लगातार विवादनुमा चर्चाओं के घेरे में रहे राजभवन की सीरत में बदलाव की उम्मीद की जा रही है।'

उत्तरप्रदेश के राज्यपाल के रूप में प्रारंभिक १५-१६ महीने मुख्यमंत्री श्री राजनाथ सिंह के साथ भलीभाँति सद्भावपूर्ण व्यवहार एवं सहयोग के साथ व्यतीत हुए परन्तु मार्च २००२ में विधानसभा चुनाव के परिणाम ऐसे आये जिनमें किसी लोकप्रिय सरकार बनने की सम्भावना बहुत कम थी। तीन बड़े दलों द्वारा जीती गयी सीटों के जटिल अंकगणित के बीच शास्त्रीजी ने संविधान द्वारा प्रदत्त अपने दायित्व का बखूबी निर्वाह किया और जब बड़े दलों के नेता विधानसभा सदस्यों के बहुमत का आँकड़ा अपने पक्ष में प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे तो उन्होंने राष्ट्रपति शासन लगाये जाने की संस्तुति केन्द्र को भेज दी। कठिन एवं चुनौती भरे इस कार्य को जिस शालीनता, धैर्य एवं आत्मविश्वास से शास्त्रीजी ने सम्पन्न किया उसको प्रदेश की जनता ने उत्साह से स्वीकारा। इस प्रकार शास्त्रीजी ऐसे दसवें राज्यपाल बने जिन्हें राज्य के संवैधानिक मुखिया होने के साथ-साथ प्रत्यक्ष प्रशासन चलाने की जिम्मेवारी भी सम्हालनी पड़ी।

शास्त्रीजी के लिये प्रथम एवं बहुत बड़ी चुनौती थी १५ मार्च को अयोध्या में प्रस्तावित विश्व हिन्दू परिषद का शिलादान कार्यक्रम। उच्चतम न्यायालय के निर्देशों का पूरी तरह पालन करते हुए कारसेवकों की गतिविधियों को नियन्त्रित रखना एवं शान्तिपूर्ण ढंग से शिलादान के कार्यक्रम को सम्पन्न कराना बहुत ही कठिन कार्य लगता था। देश-विदेश के न्यूज चैनल एवं समाचार पत्रों के संवाददाताओं की पैनी नजरें उस विकट परीक्षा की घड़ी पर टिकी हुई थीं। विश्व हिन्दू परिषद के अधिकारी केन्द्रीय सरकार के रवैये के प्रति अपनी नाराजगी सार्वजनिक कर चुके थे, ऐसे में कब क्या घटेगा इसकी आशंकाओं का बाजार गरम था। लोग सोच नहीं पा रहे थे कि कभी कारसेवक रहे रामभक्त राज्यपाल अब प्रशासक एवं रामभक्त दोनों की भूमिका एक साथ कैसे निभा पायेंगे? परन्तु लोगों ने आश्चर्यचकित होकर देखा कि इस चुनौती भरे कार्य को शास्त्रीजी ने अत्यन्त शान्तिपूर्ण ढंग से निपटा कर अपने प्रशासकीय कौशल की जबरदस्त छाप सब पर छोड़ दी।

१५ मार्च से दो दिन पहले श्री अशोक सिंघल लखनऊ होकर इस कार्यक्रम के निमित्त अयोध्या जाने वाले थे। पुलिस एवं पूरे प्रशासन की राय थी कि उन्हें गिरफ्तार करना ही शान्ति बनाये रखने का एक मात्र उपाय है लेकिन शास्त्रीजी ने गिरफ्तार करने बजाय उन्हें सीधे राजभवन आमंत्रित किया। बन्द कमरे में लम्बी मंत्रणा हुई एवं सबकी आशंकाभरी नजरों के बीच उन्हें सम्मानपूर्वक अयोध्या के लिए विदा कर दिया गया।

सर्वोच्च न्यायालय के आदेश का भी अक्षरशः पालन हुआ एवं शिलादान कार्य भी शान्तिपूर्वक निपटा। इस पर शास्त्रीजी की टिप्पणी थी— 'रामजी की कृपा से सारा काम शान्तिपूर्वक निपट गया।' जानकार लोग बताते हैं कि परिस्थितियों को नियंत्रित करने में राजभवन को काफी पापड़ बेलने पड़े एवं इसमें शास्त्रीजी की ही अहम् भूमिका रही। अपने सारे आदेश उन्होंने लिखकर दिये एवं जिम्मेदारी स्वयं ओढ़ी।

एक संकट टला तो दस दिन बाद ही दूसरा बड़ा संकट आ खड़ा हुआ। २६ मार्च को केन्द्रीय ऊर्जा मंत्री श्री सुरेश प्रभु ने राज्य पर भारी बकाये के कारण उत्तरप्रदेश को बिजली न देने की घोषणा कर दी। शास्त्रीजी ने कठोर निर्णय लिए— (क) बिजली उधार न खरीदना (ख) बिजली चोरी अभियान चलाना जिसका प्रारंभ राजभवन से हो। साथ ही राजस्व वसूली अभियान को तेज करना एवं निर्धारित वसूली न करने वाले अभियन्ताओं एवं

कर्मचारियों के वेतन से कटौती करना। राजभवन की ए. सी. बन्द कर दी गई एवं हर दूसरी बत्ती को बन्द कर दिया गया। केन्द्र से भी बात हुई। सबका सुफल निकला एवं बिजली का संकट दूर हुआ। प्रसंग और भी अनेक हैं। पत्रकारों ने राजभवन के नए शाकाहारी भोजन menu, कक्षों के नाम का भारतीयकरण एवं शैक्षिक पंचांग के नियमपूर्वक पालन पर बहुत कुछ प्रशंसा में लिखा है।

आम लोगों की कठिनाइयाँ दूर करने हेतु उन्होंने प्रति सप्ताह 'जनमिलन' का कार्य प्रारंभ किया। जनता की तकलीफों के निवारण हेतु अनेक प्रशासनिक कदम उठाये। एक पत्रकार ने टिप्पणी की— 'प्रदेश के संचित पापों को बहा देने हेतु विष्णुकान्तजी भगीरथ बनकर आए हैं।'

राजनैतिक गणित में बदल आने पर दो माह बाद ही ३ मई २००२ को उन्होंने सुश्री मायावती को मुख्यमंत्री की शपथ दिलाई पर जब ताज कोरिडर के मामले से वे पहले विवाद एवं फिर अल्पमत में आ गई तो उनका विधानसभा भंग करने का प्रस्ताव न मानते हुए उन्होंने केवल उनका त्यागपत्र ही स्वीकार किया एवं आश्वस्त होने पर २८ अगस्त को मुलायम सिंह को मुख्यमंत्री पद के लिए आमंत्रित कर शपथ दिलाने में किंचित् भी संकोच नहीं किया।

संविधान की मर्यादा की ऐसी रक्षा करने वाले, सब प्रकार के निजी स्वार्थों से दूर रहने वाले, संस्कृति-पुरुष एवं शालीनता के प्रतीक विष्णुकान्त शास्त्री जैसे लोकप्रिय राज्यपाल को भी वामपंथियों की बैसाखी पर चलने वाली कांग्रेस की केन्द्रीय सरकार ने 'वे संघ की विचारधारा के हैं' कहकर जब राज्यपाल पद से २ जुलाई २००४ को कार्यमुक्त कर दिया तो सबको राजनीति का ओछापन समझ में आ गया। शास्त्रीजी की प्रतिक्रिया थी— 'मुझे संघ का स्वयंसेवक होने पर गर्व है।' दलगत विभेदों के बावजूद कार्यमुक्त हुए राज्यपाल को मुख्यमंत्री मुलायम सिंह ने राजकीय सम्मान भी दिया एवं भोज भी दिया। पुलिस एवं आर्मी ने सलामी भी दी। मुलायम सिंह स्वयं ६ जुलाई को उनकी गाड़ी में बैठकर हवाई अड्डे पर उन्हें विदा करने आये।

कलकत्ता में उनके सब परिचितों को खुशी थी कि शास्त्रीजी इस दलदल से बेदाग निकलकर पुनः उन्हें उपलब्ध हुए हैं। अमृत महोत्सव पर उनके शतायु होने की कामना ! ●

खंड : २

चित्रावली

आचार्य शास्त्री की विविध गतिविधियों के उल्लेखनीय चित्र

आचार्य विष्णुकांत शास्त्री के आध्यात्मिक गुरु
स्वामी अखंडानंद जी सरस्वती महाराज

शास्त्री दम्पति स्वामी अखंडानंद जी सरस्वती महाराज की सेवा करते हुए

सौजन्य : विमल कुमार लाठ, ९२, जकरिया स्ट्रीट, कोलकाता - ७०० ०७३

पिता पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री

माता श्रीमती रूपेश्वरी देवी

अनुज श्रीकांत शास्त्री तथा अग्रज द्वय स्व० कृष्णकांत शास्त्री एवं स्व० रमाकान्त मिश्र के साथ

धर्मपत्नी स्व० इंदिरा शास्त्री के साथ

कोलकाता आवास के अपने कक्ष में

अपनी सुपुत्री डॉ० भारती शर्मा, जामाता श्री विनोद शर्मा एवं दौहित्रियाँ विभा एवं ऋचा के साथ

एन० सी० सी० के दिनों में पुत्री भारती के साथ

जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी जयेन्द्र सरस्वती तथा
उनके उत्तराधिकारी श्री विजयेन्द्र सरस्वती के साथ

महंत रामचंद्र दास परमहंस जी के साथ

मानस मर्मज्ञ पं० रामकिंकर उपाध्याय के साथ

वृन्दावन में वात्सल्य ग्राम के उद्घाटन के बाद लिए गए चित्र में साध्वी ऋतंभरा,
स्वामी परमानंद जी महाराज, श्री अशोक सिंघल तथा डॉ. मुरली मनोहर जोशी के साथ

बौद्धधर्म गुरु परम पावन दलाईलामा के साथ

सूफी संत दादा मियांकी मजार पर (लखनऊ में)

हरिद्वार में गायत्री परिवार के प्रमुख डॉ. प्रणव पण्ड्या के साथ

प्रख्यात कथावाचक श्री मुरारी बापू
तथा न्यायमूर्ति श्री प्रेमशंकर गुप्त के साथ

महामहिम राष्ट्रपति डॉ० ए० पी० जे० अब्दुल कलाम
एवं श्री नानाजी देशमुख के साथ

महामहिम उपराष्ट्रपति श्री भैरोसिंह शेखावत के साथ

सौजन्य : Nandikeshwari Iron Foundry (P) Ltd., (NIF Ispat Ltd.), 16, India Exchange Place, Kolkata-1

२ दिसम्बर १९९९ को राजभवन शिमला में
हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल पद की शपथ लेते हुए

२४ नवंबर २००० को न्यायमूर्ति श्री श्यामल कुमार सेन से
उत्तरप्रदेश के राज्यपाल पद की शपथ लेते हुए

गणतंत्र दिवस (२६ जनवरी २००४)
के अवसर पर लखनऊ में सलामी लेते हुए

महामहिम राष्ट्रपति
डॉ० ए० पी० जे० अब्दुल कलाम के साथ

तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी एवं
उत्तरप्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री राजनाथ सिंह के साथ

पूर्व उप-प्रधानमंत्री श्री लालकृष्ण आडवाणी के साथ

पूर्व राष्ट्रपति श्री के० आर० नारायणन के साथ

पूर्व प्रधानमंत्री श्री इन्द्रकुमार गुजराल के साथ

पूर्व मानव संसाधन विकास मंत्री
डॉ० मुरली मनोहर जोशी के साथ

उत्तर प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल श्री सूरजभान से डी० लिट् की मानद उपाधि प्राप्त करते हुए

राज्यपाल श्री सुरजीत सिंह बरनाला के साथ

सिक्किम के तत्कालीन राज्यपाल श्री केदारनाथ साहनी के साथ

राज्यसभा की पूर्व उप-सभापति श्रीमती नजमा हेपतुल्ला के साथ

पश्चिम बंगाल के महामहिम राज्यपाल श्री वीरेन जे० शाह के साथ

मध्यप्रदेश के पूर्व राज्यपाल डॉ० भाई महावीर तथा तमिल के मूर्धन्य कवि श्री वैरमुत्तु के साथ

सौजन्य : S. T. Prints, 50, Cotton Street, Kolkata - 700 007

पूर्व विधि मंत्री श्री अरुण जेटली के साथ

उत्तरांचल के मुख्यमंत्री श्री नारायणदत्त तिवारी के साथ

गुजरात के मुख्यमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी एवं
श्री शान्ताकुमार के साथ

हिमाचल प्रदेश के मुख्यमंत्री
श्री वीरभद्र सिंह के साथ

हिमाचल प्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री
प्रो० प्रेमकुमार धूमल के साथ

स्वामी चिन्मयानन्द एवं साध्वी उमा भारती के साथ

मानव संसाधन विकास मंत्रालय की स्थायी समिति
के सदस्यों के साथ आचार्य शास्त्री

राज्यपाल-सम्मेलन में आचार्य शास्त्री

श्री मुलायम सिंह यादव को उत्तरप्रदेश के
मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलाते हुए

सुश्री मायावती को उत्तरप्रदेश के
मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलाते हुए

तत्कालीन उपराष्ट्रपति डॉ० शंकरदयाल शर्मा को
चंदन काष्ठ की सरस्वती प्रतिमा भेंट करते हुए

उत्तरप्रदेश के तत्कालीन विधानसभाध्यक्ष
श्री केसरीनाथ त्रिपाठी के साथ

राजमाता विजयाराजे सिंधिया के साथ

पूर्व केन्द्रीय शिक्षामंत्री डॉ० प्रतापचन्द्र चन्द्र
एवं डॉ० मुरली मनोहर जोशी के साथ

बंगलादेश मुक्तिसंग्राम के दौरान ढाका में शेख मुजीबुर रहमान एवं उनकी पत्नी तथा डॉ० धर्मवीर भारती के साथ

बंगलादेश की विख्यात नेत्री शेख हसीना वाजेद के साथ

बंगलादेश के तत्कालीन उपराष्ट्रपति नजरुल इस्लाम के साथ

ले० जनरल जगजीत सिंह अरोड़ा के साथ

बंगलादेश मुक्तिसंग्राम के समय ढाका के मार्ग में एक मुक्तियोद्धा तथा डॉ० धर्मवीर भारती के साथ

भाजपा (प० बंगाल) की एक बैठक में आचार्य शास्त्री।
साथ में श्री कृष्णलाल शर्मा (माइक पर), श्री सुकुमार बैनर्जी, श्री दुर्गाप्रसाद नाथानी एवंअन्य

कोलकाता में भाजपा की एक रैली में सर्वश्री शत्रुघ्न सिन्हा, सिकंदर बख्त, पी० डी० चितलांगिया
तपन सिकदर तथा जुगलकिशोर जैथलिया के साथ मंचस्थ

आगरा शिखर वार्ता के दौरान पाकिस्तान के राष्ट्रपति परवेज मुशर्रफ तथा उनकी बेगम का स्वागत करते हुए। साथ में परिलक्षित हैं तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी एवं तत्कालीन मुख्यमंत्री (उ० प्र०) श्री राजनाथ सिंह।

कोलकाता के ब्रिगेड परेड ग्राउंड में आयोजित भाजपा की एक रैली में श्री अटलबिहारी वाजपेयी, श्री शत्रुघ्न सिन्हा, श्री तपन सिकदर तथा जुगल किशोर जैथलिया के साथ

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरकार्यवाह
श्री मोहनराव भागवत के साथ

श्री शास्त्री के षष्टिपूर्ति उत्सव पर
श्री अटल बिहारी बाजपेयी शॉल ओढ़ाते हुए

सूरीनाम हिन्दी परिषद के प्रति
अपनी रचनावली अर्पित करते हुए

फिजी के पूर्व राष्ट्रपति एवं
प्रो० प्रेमकुमार धूमल के साथ

सौजन्य : DARASHAW & CO. LTD. (Investment Bankers), Regent Chamber, 208, Nariman Point, Mumbai-21

तबला सम्राट पं० किशन महाराज के साथ

प्रसिद्ध संतूर वादक पं० शिवकुमार शर्मा के साथ

संगीतकार श्री रवीन्द्र जैन के साथ

श्री जावेद अख्तर के साथ

लखनऊ के मेयर डॉ० एस० सी० राय, पं० किशन महाराज
एवं स्वरसम्राज्ञी गिरिजा देवी के साथ

लोकप्रिय कलाकार श्री नसीरुद्दीन शाह
एवं परेश रावल के साथ

सौजन्य : "PINAPLE ASSOCIATES" Overseas Services, Laram Centre, S. V. Road, Andheri (W), Mumbai-58

ज्ञानपीठ पुरस्कार समारोह में श्री गुरदयाल सिंह (पंजाबी), श्री निर्मल वर्मा (हिन्दी) को सम्मानित करने के उपरान्त डॉ० एल० एम० सिंघवी के साथ

कुमारसभा के शिवाजी राज्यारोहण त्रिशताब्दी समारोह में वैद्य गुरुदत्त के साथ

कविवर बच्चन एवं सुमनजी के साथ

प्रतिष्ठित कथाकार अमृतलाल नागर के साथ

आकाशवाणी के कार्यक्रम में अज्ञेयजी से बातचीत करते हुए प्रो० कल्याणमल लोढ़ा के साथ

डॉ० प्रेमलता शर्मा, डॉ० रघुवंश, डॉ० प्रभाकर माचवे, डॉ० भानुशंकर मेहता के साथ

सौजन्य : M/s. Jasmine Movers, 3A, Ripon Street, Kolkata

कवि चित्रकार डॉ० जगदीश गुप्त के साथ

डॉ० प्रभाकर माचवे एवं श्री शिवकुमार जोशी के साथ

डॉ० धर्मवीर भारती एवं
श्रीमती पुष्पा भारती के साथ

प्रतिष्ठित कहानीकार डॉ० महीप सिंह,
डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, कमलेश्वर प्रभृति के साथ

कविवर त्रिलोचन शास्त्री को सम्मानित करते हुए
पार्श्व में डॉ० कृष्णबिहारी मिश्र एवं मनमोहन ठाकौर

प्रसिद्ध आलोचक डॉ० नामवर सिंह के साथ

सुप्रतिष्ठित चिन्तक डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय के साथ

लेखिका मृदुला सिन्हा के साथ

साहित्यमनीषी कन्हैयालाल सेठिया एवं
डॉ० कृष्णबिहारी मिश्र के साथ

डॉ० दयाकृष्ण विजयवर्गीय के साथ

कवि गोष्ठी में डॉ० अरुणप्रकाश अवस्थी
वल्लभेश दिवाकर एवं पं० छविनाथ मिश्र के साथ

तत्कालीन राज्यपाल डॉ० चेन्ना रेड्डी से उ० प्र० हिन्दी संस्थान
का आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पुरस्कार ग्रहण करते हुए

क्रान्तिकारी लेखक श्री वचनेश त्रिपाठी
को सम्मानित करते हुए

चित्रकूट रामायण मेला में

डॉ० प्रभाकर श्रोत्रिय
एवं श्री बन्धुजी के साथ

कुमारसभा द्वारा आयोजित श्री अटल बिहारी वाजपेयी
के एकल काव्यपाठ के अवसर पर तत्कालीन अध्यक्ष
श्री जुगलकिशोर जैथलिया एवं श्री वाजपेयी जी के साथ

कुमारसभा के तुलसी पंचशती समारोह में प्रो० लोढ़ा,
डॉ० श्रोत्रिय एवं डॉ० सुकीर्ति गुप्ता के साथ

महाप्राण निराला के जन्मस्थान महिषादल (प० बं०) में उनकी मूर्ति
के अनावरण के उपरान्त कुमारसभा के कार्यकर्ताओं के साथ

षष्टिपूर्ति अभिनन्दन समारोह के अवसर पर प्रसिद्ध
हिन्दीसेवी श्री कृष्णचन्द्र बेरी द्वारा आचार्य शास्त्री का स्वागत

डॉ० प्रतिभा अग्रवाल एवं
प्रख्यात लेखिका महाश्वेता देवी के साथ

बिड़ला दम्पति श्री बसन्त कुमार बिड़ला,
श्रीमती सरला बिड़ला तथा श्री अटलबिहारी वाजपेयी के साथ

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पुरस्कार प्राप्ति के उपरान्त
सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय द्वारा आयोजित अभिनन्दन
समारोह में सेठ मोहनलाल जालान एवं अन्य के साथ

बड़ाबाजार लाइब्रेरी के कार्यक्रम में उद्योगपति
श्री लक्ष्मीनिवास बिड़ला एवं श्री विमल लाठ के साथ

तुलसी जयन्ती समारोह में डॉ० कृष्णदत्त पालीवाल
(नई दिल्ली) एवं पुस्तकालय के मंत्री श्री सागरमल गुप्त के साथ

सौजन्य : Sushil Kumar Maheshwari, P/9, Pagaya Patty Street, Kolkata - 700 007

क्रान्तिवीर चन्द्रशेखर आजाद की जन्मभूमि
बदरका के एक समारोह में

कुमारसभा की महिला समिति की
सदस्याओं के साथ

पं० बच्छराज व्यास आदर्श विद्यामंदिर डीडवाना (राजस्थान) में
डॉ० महेशचन्द्र शर्मा एवं डॉ० पी० एल० चतुर्वेदी के साथ

गीता प्रतियोगिता के आयोजन में श्रीमती सुधा जैन,
शिवरतन जासू, डॉ० विमला गुप्ता के साथ

रामकथा समारोह, बड़ौरा (कैमूर, बिहार) में
बालव्यास पं० श्रीकान्त शास्त्री एवं श्रीराम तिवारी के साथ

कुमारसभा द्वारा प्रकाशित लोकनायक जयप्रकाश नारायण
स्मारिका के लोकार्पण पर डॉ० शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव,
डॉ० प्रतापचन्द्र चन्द्र एवं डॉ० दयाप्रकाश सिन्हा के साथ

महीयसी महादेवी वर्मा, पद्मभूषण सीताराम सेकसरिया,
प्रो० कल्याणमल लोढ़ा एवं प्रो० रघुनंदन मिश्र के साथ

राजभवन, लखनऊ में गणतंत्र दिवस कवि-सम्मेलन पर पधारे कवियों के साथ।
उपस्थित कवियों में हैं सर्वश्री नीरज, सोम ठाकुर, कैलाश गौतम, डॉ० बुद्धिनाथ मिश्र,
डॉ० शिव ओम अंबर, डॉ० चंद्रदेव सिंह, डॉ० अरुण प्रकाश अवस्थी, कुँवर बेचैन तथा अन्य

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय के तत्त्वावधान में आयोजित सूरपंचशती एवं
हीरक जयंती समारोह पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साथ। अन्य परिलक्षित हैं
महाकवि कन्हैयालाल सेठिया, डॉ० गोविन्द गोपाल मुखोपाध्याय, श्री राधाकृष्ण नेवटिया प्रभृति।

१९९४ ई० में कुमारसभा पुस्तकालय की कौस्तुभ जयंती के अवसर पर
'राष्ट्र के विकास की दिशा स्वदेशी' विषय पर आयोजित सेमिनार में आचार्य विष्णुकांत शास्त्री।
मंच पर पूर्व प्रधानमंत्री श्री चन्द्रशेखर भी परिलक्षित हैं।

सौजन्य : RUPA & CO. LTD., 1, Ho-Chi-Minh Sarani, Metro Plaza (8th Floor), Kolkata-71

लखनऊ में एक मुशायरे में श्री बशीर बद्र, बेकल उत्साही तथा अन्य के साथ

आचार्य शास्त्री की ७१वीं वर्षगांठ पर आयोजित अभिनंदन समारोह का एक दृश्य।
आचार्य शास्त्री के साथ परिलक्षित हैं डॉ० नरेन्द्र कोहली, श्री केसरीनाथ त्रिपाठी तथा प्रो० लोढ़ा

बड़ाबाजार लाइब्रेरी के भाईजी हनुमान प्रसाद पोद्दार राष्ट्रसेवा सम्मान समारोह में
श्री रामानन्द सागर, श्री हरिशंकर भाभड़ा तथा डॉ० मुरली मनोहर जोशी के साथ

कुमारसभा पुस्तकालय के डॉ० हेडगेवार प्रज्ञा सम्मान से सम्मानित श्री अशोक सिंघल के साथ।
चित्र में श्री कालिदास बसु, डॉ० जोशी, श्री हो० वे० शेषाद्रि एवं डॉ० सुजितधर भी परिलक्षित हैं।

श्री छोटीखाटू हिन्दी पुस्तकालय के पं० दीनदयाल उपाध्याय साहित्य सम्मान कार्यक्रम में डॉ० रमानाथ त्रिपाठी को सम्मानित करते हुए। साथ में अन्य पदाधिकारी भी परिलक्षित हैं।

बड़ाबाजार लाइब्रेरी के कर्मयोगी भँवरलाल मल्लावत व्याख्यानमाला कार्यक्रम में आचार्य शास्त्री। मंच पर साध्वी उमा भारती एवं श्री तरुण विजय भी परिलक्षित हैं।

अगस्त २००३ में 'विष्णुकान्त शास्त्री : चुनी हुई रचनाएँ' (२ खण्ड) के लोकार्पण के अवसर पर
तत्कालीन केन्द्रीय मंत्री श्री सत्यव्रत मुखर्जी, जुगलकिशोर जैथलिया,
तत्कालीन केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री श्रीमती सुषमा स्वराज एवं प्रो० कल्याणमल लोढ़ा के साथ

डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी जन्मशती समारोह के अवसर पर
सिक्किम के तत्कालीन राज्यपाल श्री केदारनाथ साहनी, डॉ० प्रतापचन्द्र चन्द्र,
प्रो० बलराज मधोक, श्री तपन सिकदर तथा अन्य के साथ

सौजन्य : Aryan Mining & Trading Corp. Ltd., 61, Strand Road, Kolkata - 700 006

कुमारसभा पुस्तकालय द्वारा प्रवर्तित डॉ० हेडगेवार प्रज्ञा सम्मान के प्रथम आयोजन में समादृत डॉ० श्रीधर भास्कर वर्णेकर के साथ माननीय प्रो० राजेन्द्र सिंहजी (रज्जू भैया), डॉ० मुरली मनोहर जोशी, डॉ० प्रतापचन्द्र चन्द्र, डॉ० सुजितधर तथा आचार्य शास्त्री

डॉ० हेडगेवार प्रज्ञा सम्मान में श्री मोरेश्वर नीलकंठ पिंगले, श्री लालकृष्ण आडवाणी तथा अन्य के साथ

सौजन्य : Thomas Duff & Co. (I) Ltd., 3, Dr. Rajendra Prasad Sarani, Kolkata - 700 001

समाजसेवी सम्मान समारोह में पद्मभूषण नानाजी देशमुख, सर्वश्री घनश्याम दास बेरीवाला, जसवंत सिंह मेहता, पुष्करलाल केडिया, महावीर प्रसाद नारसरिया, सरदारमल कांकरिया, पी० डी० चितलांगिया के साथ

राजभवन लखनऊ में कुमारसभा पुस्तकालय के प्रमुख कार्यकर्त्ताओं के साथ।
सामने (बैठे हुए) सर्वश्री गोविंदनारायण काकड़ा, जुगल किशोर जैथलिया तथा कृष्ण स्वरूप दीक्षित।
(खड़े हुए) सर्वश्री महावीर बजाज, अरुण सोनी, विधुशेखर शास्त्री, अरुण मल्लावत, डॉ० उषा द्विवेदी तथा नंदकुमार लढ़ा।

सौजन्य : Trust Estate of Vallabharam Mehta & Saligram Mehta, 70, Vivekananda Road, Kolkata-6

डॉ० हेडगेवार प्रज्ञा सम्मान से समादृत डॉ० विद्यानिवास मिश्र के साथ

आचार्य शास्त्री के हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल के रूप में दायित्व ग्रहण करने के उपरांत कोलकाता में बड़ाबाजार लाइब्रेरी एवं कुमारसभा पुस्तकालय के तत्वावधान में आयोजित सार्वजनिक अभिनंदन का एक चित्र

कुमारसभा पुस्तकालय के प्रथम इंदिरा विष्णुकांत शास्त्री मातृशक्ति सम्मान से संगीत सम्राज्ञी गिरिजा देवी को समादृत करते हुए। पार्श्व में रवीन्द्र संगीत की सुविख्यात गायिका श्रीमती सुचित्रा मित्र, तत्कालीन केन्द्रीय मंत्री श्रीमती रीता वर्मा तथा कोलकाता की उप-महापौर श्रीमती मीना पुरोहित परिलक्षित हैं।

डॉ० हेडगेवार प्रज्ञा सम्मान से सम्मानित श्री वचनेश त्रिपाठी के साथ

महाप्राण निराला जन्मशती के अवसर पर निराला के गाँव गढ़ाकोला (उन्नाव) की
यात्रा के उपरांत उन्नाव में सम्पन्न हुए एक आयोजन में कोलकाता-उन्नाव के साहित्यकारों के साथ

डॉ० हेडगेवार प्रज्ञा सम्मान से के० आर० मलकानी को सम्मानित किए जाने के उपरांत
राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक श्री सुदर्शनजी, डॉ० मुरली मनोहर जोशी
तथा उ० प्र० के तत्कालीन राज्यपाल श्री सूरजभान के साथ

तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी से उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान के
'डॉ० राम मनोहर लोहिया साहित्य सम्मान' ग्रहण करते हुए

कुमारसभा द्वारा प्रकाशित डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी की कृति 'हिंदी उपन्यास और अमृतलाल नागर' के
अगस्त २००३ में राजभवन लखनऊ में आयोजित लोकार्पण समारोह में श्रीयुत श्रीलाल शुक्ल,
डॉ० त्रिपाठी तथा डॉ० सूर्य प्रसाद दीक्षित के साथ

सौजन्य : कृष्णकुमार ढांढनिया, १२, इण्डिया एक्सचेन्ज प्लेस, कोलकाता - ७०० ००१

कुमारसभा पुस्तकालय द्वारा कबीर षष्ट्यशती पर प्रकाशित ग्रंथ 'कबीर अनुशीलन' के लोकार्पण समारोह में सर्वश्री महावीर बजाज, जुगलकिशोर जैथलिया, श्रीमती मीना पुरोहित, प्रो० कल्याणमल लोढ़ा, डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी (सम्पादक), श्री शांताकुमार, श्रीमती शांताकुमार तथा श्री विमल लाठ के साथ

पांचजन्य के नचिकेता सम्मान समारोह में श्री चो० रामास्वामी, श्री अटलबिहारी वाजपेयी, प्रो० राजेन्द्रसिंह जी (रज्जू भैया) तथा श्री तरुण विजय के साथ

राजभवन लखनऊ में कुमारसभा पुस्तकालय के पदाधिकारियों सर्वश्री महावीर बजाज, कृष्णस्वरूप दीक्षित, अरुण मल्लावत, डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी तथा जुगलकिशोर जैथलिया के साथ

राजस्थान परिषद्, कोलकाता के तत्वावधान में महाराणा प्रताप मूर्ति अनावरण समारोह में सांसद श्रीमती ममता बनर्जी, महापौर श्री सुव्रत मुखर्जी, उप-महापौर श्रीमती मीना पुरोहित विधायक श्री सत्यनारायण बजाज तथा अन्य के साथ

ठलुआ क्लब के कार्यक्रम में श्री सीताराम सेकसरिया, पं० सीताराम चतुर्वेदी, श्री राधाकृष्ण,
श्री गुलाब खण्डेलवाल तथा डॉ० भानुशंकर मेहता के साथ वक्तव्य रखते हुए

कुमारसभा पुस्तकालय कक्ष में सर्वश्री महावीर बजाज, जुगलकिशोर जैथलिया,
कथाकार जैनेन्द्रजी तथा सुरेश बगड़िया के साथ

कारगिल युद्ध के दौरान कोलकाता में आयोजित 'वनबंधु परिषद्' के कार्यक्रम में
तत्कालीन रक्षामंत्री जार्ज फर्नांडिस, श्री महेन्द्र स्वरूप, श्री गोविन्दराम अग्रवाल एवं अन्य के साथ।

कलकत्ता पिंजरापोल सोसाइटी के गोपाष्टमी मेले के उद्घाटन समारोह में सर्वश्री किशनलाल ईशरवालिया,
साधुराम बंसल, हरमुख राय कानोड़िया, प्रेमचन्द सुरेलिया एवं श्यामबिहारी सिंह के साथ।

सौजन्य : इन्द्र कुमार बुधा, ५७/९, बालीगंज सर्कुलर रोड, कोलकाता - ७०० ०१९

राजभवन लखनऊ में कक्षों के नवीन हिन्दी नामकरण के उपरान्त अवलोकन करते हुए

प्रो. कल्याणमल लोढ़ा, श्री शंभु मित्र एवं गिरीश कर्नाड के साथ

डॉ. कर्णसिंह एवं डॉ. प्रभाकर माचवे के साथ

पूर्वप्रधानमंत्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी, प्रख्यात लेखक श्री देवेन्द्र स्वरूप तथा पांचजन्य के सम्पादक श्री तरुण विजय के साथ

जबलपुर के एक पारिवारिक अनुष्ठान में विश्वविख्यात शिक्षाविद् पद्मभूषण डॉ. वेणीशंकर झा, पं. गिरधारीलाल मेहता, शंकर मेहता एवं डॉ. भानुशंकर मेहता के साथ

ठलुआ क्लब कलकत्ता के आयोजन में सुविख्यात गायनाचार्य पं. सीताराम चतुर्वेदी एवं पं.वी. जी. जोग के साथ

सौजन्य : प्रतिभा फैब्रिकेक्स लि०, ३९९, जी. आई. डी. सी., पाण्डेसरा, सूरत - ३९४ २२१

प्रख्यात आलोचक डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी
एवं डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय के साथ

अपनी काव्य पुस्तक 'जीवन पथ पर चलते-चलते' के लोकार्पण के अवसर
पर प्रो. कल्याणमल लोढ़ा एवं ग्रंथ संपादक डॉ. प्रेमशंकर त्रिपाठी के साथ

महाकवि निराला के गाँव गढ़ाकोला (उन्नाव) में उनकी प्रस्तर मूर्ति के
सामने श्री जुगलकिशोर जैथलिया एवं डॉ. प्रेमशंकर त्रिपाठी के साथ

कुमारसभा के 'समाजसेवी सम्मान' से पुष्करलाल केडिया
को सम्मानित करने के उपरान्त श्री नानाजी देशमुख के साथ

भारतीय भाषा परिषद् के एक समारोह में
डॉ. पवित्र सरकार एवं श्रीमती ममता कालिया के साथ

प्रख्यात चिंतक श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी को कुमारसभा के
'डॉ. हेडगेवार प्रज्ञा सम्मान' से सम्मानित करने के समारोह में

सौजन्य : Diwan's Fashions Cape, (Hazarimull Exporters Pvt. Ltd.) 'Siddha Point' 101, Park Street (2nd Floor), Kolkata-16

अनामिका के रिहर्सल के दौरान
पं. रवि किचलू एवं श्री विमल लाठ के साथ

प्रख्यात फिल्म कलाकार ऋत्विक रोशन
एवं संगीतकार राकेश रोशन के साथ

प्रख्यात फिल्म अभिनेता अनिल कपूर एवं
अभिनेत्री रवीना टंडन के साथ

प्रख्यात अभिनेत्री जया बच्चन के साथ

मोदीपुरम् (मेरठ) के वि. वि. दीक्षान्त समारोह में
१२८ वर्षीय संत पद्मभूषण स्वामी कल्याणदेवजी महाराज से
आशीर्वाद स्वरूप स्मृति चिन्ह ग्रहण करते हुए

'साङ्गवेद विद्यालय' में काशी विद्वत् समाज
के मूर्द्धन्य विद्वानों द्वारा आशीर्वाद ग्रहण करते हुए

भारतीय संस्कृति संसद, कलकत्ता द्वारा आयोजित 'भारत की भाषाओं में राष्ट्रभक्ति साहित्य' परिसंवाद (अक्टूबर २००४) में डॉ. र. शौरीराजन, डॉ. जोगलेकर एवं श्री परमानन्द चूड़ीवाल के साथ।

'इंदिरा विष्णुकांत शास्त्री मातृशक्ति सम्मान' के कार्यक्रम में पूज्या साध्वी ऋतम्भरा (दीदी मां) को सम्मानित करते हुए श्री शास्त्री। साथ में हैं कुमारसभा के अन्य पदाधिकारीगण।

अनामिका के हिन्दी नाट्य महोत्सव, १९६४ के कार्यक्रम में सर्वश्री शंभु मित्र, बलराज साहनी, इब्राहिम अलकाजी एवं डॉ. प्रतिभा अग्रवाल के साथ।

हल्दीघाटी चतुःशती समारोह (१९.०६.१९७६) के कार्यक्रम पर प्रताप के तेजस्वी जीवन से निर्भय रहने की प्रेरणा लेने का आह्वान करते हुए श्री शास्त्री। मंचस्थ हैं विचारपति सलिल कुमार राय चौधरी, कवि श्यामनारायण पाण्डेय, नन्दलाल जैन, राधाकृष्ण नेवटिया एवं जुगलकिशोर जैथलिया प्रभृति।

सौजन्य : आँ कंकाली कोल्ड स्टोरेज प्रा० लि०, २३ए, नेताजी सुभाष रोड (१० तल्ला), कोलकाता - १

कुमारसभा पुस्तकालय द्वारा आयोजित शहीद दिवस के कार्यक्रम में सर्वश्री रतनलाल जोशी, एस. आनन्द, राधाकृष्ण नेवटिया एवं जुगलकिशोर जैथलिया के साथ

बड़ाबाजार लाइब्रेरी के शताब्दी समारोह में डॉ. मुरली मनोहर जोशी एवं प्रख्यात कवि नीरज के साथ

सत्संग भवन कोलकाता के ए.सी. हॉल उद्घाटन के अवसर पर स्वामी विश्वदेवानन्द जी महाराज, श्री विश्वम्भर नेवर एवं पं. श्रीकांत शास्त्री के साथ

कुमारसभा पुस्तकालय के हिन्दी दिवस २००४ के कार्यक्रम में सुप्रसिद्ध समाजसेवी श्री लक्ष्मीकांत तिवारी को पुस्तकों का सेट भेंट करते हुए

कवि श्री नरेश मेहता एवं अन्य साहित्यकारों के साथ भोपाल में आयोजित एक कार्यक्रम में

पद्मभूषण श्री सीताराम सेक्सरिया एवं जस्टिस रमाप्रसाद मुखर्जी के साथ

सौजन्य : Diwan's Fashions Cape, (Hazarimull Exporters Pvt. Ltd.) 'Siddha Point' 101, Park Street (2nd Floor), Kolkata-16

कुमारसभा द्वारा आयोजित आचार्य शास्त्री के अमृत महोत्सव अभिनन्दन के अवसर पर बायें से सर्वश्री विमल लाठ, जुगलकिशोर जैथलिया, प्रो. कल्याणमल लोढ़ा, डॉ. प्रतापचंद्र चंद्र, आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री, श्री टी. एन. चतुर्वेदी (महामहिम राज्यपाल, कर्नाटक) डॉ. प्रेमशंकर त्रिपाठी तथा महावीर बजाज

अमृत महोत्सव सम्मान में आचार्य शास्त्री को आशीर्वाद स्वरूप ५ सिक्कों का सेट प्रदान करते हुए उनके गुरु डॉ. प्रतापचंद्र चंद्र (बायें) तथा शॉल ओढ़ाते हुए कर्नाटक के महामहिम राज्यपाल श्री टी. एन. चतुर्वेदी (दायें)। मध्य में अमृत महोत्सव अभिनंदन ग्रंथ का लोकार्पण करते हुए कर्नाटक के महामहिम राज्यपाल श्री टी. एन. चतुर्वेदी तथा अन्य परिलक्षित हैं ग्रंथ के प्रधान सम्पादक डॉ. प्रेमशंकर त्रिपाठी एवं मंत्री श्री महावीर बजाज

खंड : ३

आचार्य शास्त्री विरचित कृतियाँ एवं उनपर समीक्षाएँ

तथा

रचनाकार आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री पर कुछ निबन्ध

:: अनुक्रम ::

क्र० सं०	विषय	लेखक	पृ० सं०
१.	आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री विरचित साहित्य		३
२.	आचार्य शास्त्री की आलोचना-यात्रा का प्रस्थान-बिंदु	डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी	६
३.	सुवास एवं शीतलता का अनूठा संगम	डॉ० उषा द्विवेदी	९
४.	मुक्ति-संग्राम का सजीव चित्रण करने वाली कृति	तारा दूगड़	१२
५.	साहित्य की परम्परा से दीप्त आलोचना पुस्तक	चित्तरंजन मिश्र	१७
६.	अभिभूत करने वाली कृति	दुर्गा व्यास	२१
७.	अनुचिन्तन का चिन्तन	डॉ० अनिल कुमार शुक्ल	२४
८.	गोस्वामी तुलसीदास पर केन्द्रित एक अपरिहार्य कृति	डॉ० सत्यकेतु सांकृत	२८
९.	आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की भक्ति-दृष्टि	डॉ० मोहन अवस्थी	३३
१०.	भावभीनी स्मृतियों की प्रभावशाली अभिव्यक्ति	डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी	३८
११.	भारतीय परम्परा और संस्कृति का मर्म।	डॉ० पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'	४१
१२.	धर्मवीर भारती पर आत्मीयतापूर्ण संस्मरण	डॉ० जगन्नाथ सेठ	५३
१३.	जीवनानुभव से उपजी कविताएँ	डॉ० कुमार कृष्ण	५७
१४.	साधना के इन्द्रधनुषी आयाम	डॉ० ओमप्रकाश सिंह	६०
१५.	एक अविस्मरणीय संस्मरण-पुस्तक	डॉ० भारती शर्मा	६२
१६.	विद्वत्तापूर्ण विवेचन का वैविध्य	डॉ० सत्या उपाध्याय (तिवारी)	६८
१७.	आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की अनूदित एवं संपादित कृतियाँ	तारा दूगड़	७२
१८.	रचनात्मक प्रतिभा के बहु-आयामी व्यक्तित्व : विष्णुकान्त शास्त्री	प्रो० गोपाल राय	८०
१९.	राष्ट्रवादी रचनाकार आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री	डॉ० युगेश्वर	९५
२०.	वाग्मी रचनाकार की सृजन-प्रक्रिया : आलोचना का एक संदर्भ	डॉ० सत्यदेव मिश्र	९९
२१.	भक्तिकाव्य के मूल्यांकन में आचार्य शास्त्री का योगदान	डॉ० रामेश्वर मिश्र	१०३
२२.	शास्त्री जी के काव्य में बिम्ब-विधान	डॉ. यतीन्द्र तिवारी	१०९
२३.	आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री – एक सारस्वत व्यक्तित्व	डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी	११२
२४.	विष्णुकान्त शास्त्री की आलोचना-यात्रा	डॉ० रामचंद्र तिवारी	११८
२५.	आलोचक आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री	राम कमल राय	१२४
२६.	आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का गद्य साहित्य	डॉ० नगेन्द्र चौरसिया	१३३
२७.	शास्त्रिवर्यः शतायुः स्यात् (कविता)	प्रो० ओमप्रकाश पाण्डेय	१३८

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री
विरचित साहित्य

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का रचना-संसार अत्यन्त व्यापक है। निबंध, संस्मरण, कविता, रिपोर्ताज एवं यात्रावृत्त के लेखन में उन्होंने अपने कौशल का परिचय दिया है। साहित्य की इन तमाम विधाओं में अपने मौलिक लेखन द्वारा उन्होंने सारे देश में यश अर्जित किया है। आध्यात्मिक विषयों पर भी उनका लेखन प्रशंसित हुआ है। उन्होंने १५ मौलिक, ३ अनूदित एवं ७ संपादित कृतियों का सृजन किया है। १९६३ से लेकर आजतक प्रकाशित कृतियों की सूची (प्रकाशकों के नाम-पते एवं प्रकाशन वर्ष के साथ) इस प्रकार है :-

मौलिक :

	पुस्तक का नाम	*प्रकाशक*	*रचनाकाल*
१.	कवि निराला की वेदना तथा अन्य निबंध	हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय पो० बाक्स ७०, पिशाचमोचन वाराणसी-२२१ ००१	१९६३
२.	कुछ चन्दन की कुछ कपूर की	हिन्दी प्रचारक संस्थान सी-२१/३०, पिशाचमोचन वाराणसी-२२१ ००१	१९७३
३.	बांग्लादेश के संदर्भ में	हिन्दी प्रचारक संस्थान पो० बा० नं०-१०६, पिशाचमोचन वाराणसी-२२१ ००१	१९७३
४.	चिन्तन मुद्रा	नेशनल पब्लिशिंग हाउस २३, दरियागंज, नयी दिल्ली-२	१९७७
५.	स्मरण को पाथेय बनने दो	हिन्दी प्रचारक संस्थान सी-२१/३०, पिशाचमोचन वाराणसी-२२१ ००१	१९७७
६.	अनुचिन्तन	नेशनल पब्लिशिंग हाउस २३, दरियागंज, नयी दिल्ली-२	१९८६

सौजन्य : R. S. Chitlangia Foundation, 113, Park Street, (North Block), 4th Floor, Kolkata-16

	पुस्तक का नाम	प्रकाशक	रचनाकाल
७.	तुलसी के हिय हेरि	लोकभारती प्रकाशन १५ए, महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद-१	१९९०
८.	भक्ति और शरणागति	लोकभारती प्रकाशन १५ए, महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद-१	१९९१
९.	सुधियाँ उस चंदन के वन की	भारतीय साहित्य प्रकाशन २८६, चाणक्यपुरी, सदर मेरठ-२५० ००१	१९९२
१०.	ज्ञान और कर्म	लोकभारती प्रकाशन १५ए, महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद-१	१९९८
११.	अनन्त पथ के यात्री धर्मवीर भारती	प्रभात प्रकाशन ४/१९, आसफ अली रोड नई दिल्ली-११० ००२	१९९९
१२.	जीवन पथ पर चलते-चलते	श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय १-सी, मदन मोहन बर्मन स्ट्रीट कोलकाता-७०० ००७	१९९९
१३.	विष्णुकान्त शास्त्री : चुनी हुई रचनाएँ (खण्ड १ एवं २)	श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय १-सी, मदन मोहन बर्मन स्ट्रीट कोलकाता-७०० ००७	२००३
१४.	....पर साथ-साथ चल रही याद	लोकभारती प्रकाशन १५ए, महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद-१	२००४
१५.	आधुनिक हिन्दी साहित्य के कुछ विशिष्ट पक्ष	प्रभात प्रकाशन ४/१९, आसफ अली रोड नई दिल्ली-११० ००२	२००४

सौजन्य : HARIRAM JI JAJODIA, 96, Muktaram Babu Street, Kolkata-700 007

	पुस्तक का नाम	प्रकाशक	रचनाकाल
अनूदित :			
१.	उपमा कालिदासस्य लेखक : डॉ० शशिभूषण दासगुप्त (बंगला से हिन्दी में अनूदित)		
२.	संकल्प, संत्रास, संकल्प (बाँग्लादेश की संग्रामी कविताओं का बंगला से हिन्दी में अनुवाद)	भारतीय ज्ञानपीठ १८, इन्स्टीट्यूशनल एरिया लोदी रोड, पो० बा० ३११३ नई दिल्ली-११० ००३	१९७३
३.	महात्मा गाँधी का समाजदर्शन (अंग्रेजी से हिन्दी)	हरियाणा साहित्य अकादमी १५६३, सेक्टर १८डी चण्डीगढ़-१६० ०१८	१९७३
सम्पादित :			
१.	बालमुकुन्द गुप्त : एक मूल्यांकन	बालमुकुन्द गुप्त शतवार्षिकी समारोह समिति कोलकाता	१९६५
२.	दर्शक और आज का हिन्दी रंगमंच	अनामिका कला संगम ६, रसल स्ट्रीट कोलकाता-७०० ०१६	१९६८
३.	बाँग्लादेश : संस्कृति और साहित्य	बंगीय हिन्दी परिषद् १५, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट कोलकाता-७०० ०१२	१९७३
४.	तुलसीदास : आधुनिक संदर्भ में	बंगीय हिन्दी परिषद् १५, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट कोलकाता-७०० ०१२	१९७६
५.	कलकत्ता-१९८६	अप्रस्तुत प्रकाशन ५ए, ग्रीक चर्च रो कोलकाता-७०० ०२६	१९८७
६.	कलकत्ता-१९९३	प्रतिध्वनि ३१, सर हरिराम गोयनका स्ट्रीट कोलकाता-७०० ००७	१९९३
७.	अमर आग है (श्री अटल बिहारी वाजपेयी की कविताओं का संकलन)	श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय १-सी, मदन मोहन बर्मन स्ट्रीट कोलकाता-७०० ००७	१९९४

सौजन्य : R. S. Chitlangia Foundation, 113, Park Street, (North Block), 4th Floor, Kolkata-16

डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी

'कवि निराला की वेदना तथा अन्य निबन्ध'

आचार्य शास्त्री की आलोचना-यात्रा का प्रस्थान-बिंदु

'आलोचक व्यक्ति भी है और श्रृंखला की एक कड़ी भी। साहित्य की उसकी समझदारी और उसे जनता तक संप्रेषित करने में उसकी साझेदारी एक बड़ी सीमा तक उसकी दृष्टि पर निर्भर करती है। यह दृष्टि उसे सहज नहीं मिलती, अर्जित करनी पड़ती है। अपने पूर्ववर्त्ती और समकालीन साहित्य का आस्वादन व्यक्ति के रूप में करने के साथ-साथ वह उसे गहराई से समझने के लिए पूर्ववर्ती और समकालीन विवेचन का भी अनुशीलन करता है।'

उपर्युक्त पंक्तियाँ आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री रचित निबंध 'आलोचना परंपरा और हिन्दी आलोचक' से उद्धृत हैं। यह निबन्ध लेखक की अद्यतन प्रकाशित कृति 'आधुनिक हिन्दी साहित्य के कुछ विशिष्ट पक्ष' में संग्रहीत है। 'व्यक्ति' एवं 'श्रृंखला की कड़ी'— दोनों ही रूपों में आलोचक विष्णुकान्त शास्त्री ने हिन्दी साहित्य में विशिष्ट पहचान बनाई है। उनकी रचना-यात्रा इस बात का पुष्ट प्रमाण है। इस दृष्टि से लेखक की प्रथम प्रकाशित कृति 'कवि निराला की वेदना तथा अन्य निबंध' का विवेचन महत्त्वपूर्ण है।

२२ पृष्ठों वाले प्रथम निबंध 'कवि निराला की वेदना' में निराला की कविताओं के उद्धरणों के माध्यम से उनके अंतःकरण में स्थित वेदना का विवेचन किया गया है। लेखक का सुचिंतित निष्कर्ष है— 'निराला की अन्तःस्थ वेदनानुभूति व्यक्तिगत वेदना से उठकर सामाजिक समवेदना में और उससे भी निखरकर अध्यात्म वेदना में एवं वेदनाजयी होकर भक्ति में परिणत हो गयी है।' (पृष्ठ २२)

शास्त्रीजी ने अपने अध्यापक पं० परमानंद शर्मा के दबाववश यह निबंध लिखा था जो 'प्रदक्षिणा' में प्रकाशित हुआ था। इस निबंध के प्रारंभ में लेखक ने निराला के व्यक्तित्व का भावपूर्ण चित्रण करते हुए उनकी वेदना की व्याख्या अत्यंत प्रभावशाली ढंग से की है— 'निराला की वेदना उस योद्धा की वेदना है जो विकराल प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझा है, उस कलाकार की वेदना है जो अपने काव्य-कानन के सुमनों के मृदुगंध पराग से इस द्वेष-विष-जर्जर संसार को सुरभित, प्रेम-हरित, स्वच्छन्द करने का संकल्प लेकर ही आया था; उस भक्त की वेदना है जो आजीवन स्वधर्माचरण करता रहा है और अब सब कुछ प्रभु के पाद-पद्मों में समर्पित कर, मुक्त हो जाना चाहता है। यह कुंठित, आत्मसीमित, पथ पर चलने के पहले ही बैठकर चीत्कार करनेवाले नपुंसकों की शौकीन वेदना नहीं है।'

आलेख की प्रभविष्णु भाषा तथा आलोचकीय भंगिमा पाठक पर प्रभाव छोड़ती है। इस निबंध को १९९८ में शास्त्रीजी द्वारा लिखित आलेख 'बन शरण का उपकरण मन : निराला' की भूमिका माना जा सकता है।

संग्रह का दूसरा निबंध समीक्षापरक है जो सुभद्रा कुमारी चौहान की कहानियों का सुविचारित विवेचन प्रस्तुत करता है। हिन्दी साहित्य में सुभद्रा जी की प्रसिद्धि उनकी कविता के कारण ही है। यह बात कम लोग जानते

प्रतिजन्य : आशुतोष बंसल, शिव बाई बंसल चैरिटेबल ट्रस्ट, २३८, नेताजी सुभाष रोड, कोलकाता-१

हैं कि १९३० के बाद सुभद्राजी के 'कवि हृदय ने विश्राम' ले लिया था और वे कहानी लेखन में प्रवृत्त हुई थीं। उनकी कहानियों में समाज की ज्वलंत समस्याओं के साथ नारी जाति के अधिकारों के प्रति सचेतनता और राष्ट्रीयता जैसे तत्त्वों की प्रमुख भूमिका का उल्लेख करते हुए लेखक ने निबंध का समापन किया है। वे लिखते हैं— 'सुभद्राजी की कहानियाँ उस युग की कहानियाँ हैं जब महिलाएँ संकोच के साथ ही आगे आ रही थीं। अपने युग में सुभद्राजी सर्वश्रेष्ठ लेखिका मानी गयीं। आज यद्यपि कहानी लेखिकाओं की संख्या काफी बढ़ गई है किन्तु उनकी सी भावमयता, अनुभूति की सचाई और गहराई आज भी विरल है। भारत की स्वतंत्रता और नारी जाति के अधिकारों के प्रति राष्ट्रीय चेतना को उद्‌बुद्ध करने के यज्ञ में उनका अवदान महान है।' (पृष्ठ ४५)

१९५३ से १९६३ के बीच लिखे गए ग्रंथ के आलेख विष्णुकान्तजी के आरंभिक लेखन से पाठकों को परिचित कराते हैं और इस बात का संकेत देते हैं कि रचनाकार प्रारंभ से ही विषयों का गहन विवेचन करने में सक्षम रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वाध्याय लेखक की रचनात्मक क्षमता को परिपुष्ट करने में सहायक रहा होगा। अध्यापन के तात्कालिक दबाव के साथ गुरुजनों की प्रेरणा ने भी लेखक को रचनाकर्म में प्रवृत्त किया होगा। कृति के आरंभ में 'आभारी हूँ' शीर्षक के अन्तर्गत इस बात को शास्त्रीजी ने स्पष्ट किया है— 'प्रस्तुत निबन्ध संग्रह में भिन्न-भिन्न अवसरों पर लिखित मेरे कुछ निबंध संगृहीत हैं। इनके लेखन का श्रेय (यदि उन्हें श्रेयस्कर कहा जा सके तो) मेरे उन कृपालु गुरुजनों एवं स्नेही सुहृदों को प्राप्त होना चाहिए जिनके आदेशों एवं अनुरोधों ने मुझ जैसे लेखनीभीरु व्यक्ति को भी लिखने के लिए विवश कर दिया।'

लेखक ने यह भी स्वीकार किया है कि आचार्य ललिता प्रसाद सुकुल के 'अनुल्लंघनीय आदेश' ने तथा आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, श्री कल्याणमल लोढ़ा, पं० परमानन्द शर्मा, डॉ० रामविलास शर्मा एवं नामवर सिंह की प्रेरणा ने लिखने के लिए उसे विवश किया।

इस पुस्तक में बँगला साहित्य संबंधी ७ निबंध हैं जिनमें तीन तो गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर पर केन्द्रित हैं। लेखक ने कविगुरु की मुक्ति भावना, उनके सौन्दर्यबोध तथा उनके नृत्य-नाट्य का सुचिंतित विवेचन किया है। इसी प्रकार शरत् की नारी तथा बंकिमचंद्र की सामाजिक चेतना का सारगर्भित विश्लेषण किया गया है। बंगाल के बाउल गीतों की मार्मिक व्याख्या करते हुए पृष्ठ १५८ पर शास्त्रीजी लिखते हैं— '.....बाउल के प्राण गीतों में बसते हैं। वह गीतों में ही हँसता है, गीतों में ही रोता है, गीतों में ही प्रेम करता है, गान करता है, मानता और मनाता है, रीझता है और रिझाता है।' बाउल शब्द की व्याख्या के साथ उनकी साधना के विकास का संक्षिप्त वर्णन आरंभ में ही है। ये आलेख यह प्रमाणित करते हैं कि बँगला भाषा एवं साहित्य का पर्याप्त ज्ञान लेखक को है।

मोहन राकेश की कृति 'आषाढ़ का एक दिन' पर समीक्षापरक टिप्पणी वाला निबंध है 'आषाढ़ का एक दिन कुछ विचार'। 'अनामिका' नाट्य संस्था की विचार गोष्ठी के लिए लिखित इस आलेख में लेखक ने मोहनराकेश के शिल्प की प्रशंसा करते हुए कुछ असहमति के बिन्दु भी उभारे हैं। 'रीतिकालीन हिन्दी कविता पर एक दृष्टि' तथा 'असमिया में राम साहित्य' निबंध भी पठनीय हैं।

सितम्बर १९६३ में प्रकाशित यह पुस्तक आचार्य शास्त्री की पहली कृति है। इसका प्रकाशन हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी ने किया है। लगभग १८० पृष्ठों वाले इस ग्रन्थ में कुल १६ निबंध हैं जो मूलतः साहित्य से संबद्ध विषयों पर केन्द्रित हैं। साहित्येतर निबंध केवल एक ही माना जा सकता है— 'डॉ० मुखर्जी की शिक्षा नीति'।

सौजन्य : R. S. Chitlangia Foundation, 113, Park Street, (North Block), 4th Floor, Kolkata-16

डॉ० श्यामा प्रसाद मुखर्जी के शिक्षा संबंधी विचारों एवं युगान्तरकारी शिक्षा-नीति का विश्लेषण करने वाला यह निबंध-कृति का अंतिम किन्तु महत्त्वपूर्ण आलेख है। लेखक के अनुसार डॉ० मुखर्जी ने शिक्षा को स्थितिशील नहीं, गतिशील बनाने पर जोर दिया था, उसे तोता रटन्त या अन्धी नकल नहीं दिव्य प्रकाश मानते हुए व्यक्ति और राष्ट्र के भविष्य निर्माण में प्रमुख भूमिका निर्वाह करनेवाली बताया था। 'उन्होंने भारत की वर्त्तमान आवश्यकताओं के अनुसार समस्त शिक्षाक्रम को नये साँचे में ढालने की भगीरथ चेष्टा की। उनका मूल सिद्धांत यह था कि हमें ऐसी शिक्षा का प्रचार-प्रसार करना है जिसके द्वारा शिक्षार्थियों के मन में अपने राष्ट्र, अपने इतिहास, अपनी संस्कृति और सभ्यता के प्रति श्रद्धा और आस्था जागे। इस श्रद्धा और आस्था को आधुनिक युग के ज्ञान-विज्ञान से विभूषित कर वे शिक्षार्थियों को इतना समर्थ बनाना चाहते थे कि अपने गौरवमय अतीत के अनुरूप वे भव्य भविष्य का निर्माण कर सकें।' (पृष्ठ १६९)

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ने शीर्षस्थ आलोचकों की पंक्ति में जो विशिष्ट स्थान बनाया है उसका प्रस्थान बिन्दु है यह कृति। इस दृष्टि से 'क्या शुक्लजी वस्तुवादी थे ?' 'लक्ष्मीनारायण मिश्र की प्रसाद संबंधी मान्यताओं पर विचार' तथा 'आचार्य ललिता प्रसाद सुकुल और रस सिद्धांत' शीर्षक आलेख समालोचक की तलस्पर्शिता का अहसास कराते हैं। संग्रह के आलेखों की समृद्ध भाषा और प्रभावी शैली आलोचकीय-विवेक से युक्त होकर अपना विशेष प्रभाव छोड़ती है। यही प्रभविष्णुता परवर्ती आलोचना केन्द्रित ग्रंथों में क्रमशः वर्द्धित होती गई है।

लेखक ने इस प्रथम कृति को अपने स्वर्गीय पिता पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री की पुण्य स्मृति में समर्पित कर अपने विद्वान पिता के प्रति श्रद्धा ज्ञापित की है।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की क्षमता एवं भाषिक समृद्धि को प्रमाणित करनेवाली यह पुस्तक यह भी स्पष्ट करती है कि लेखक पूरी तैयारी के साथ लेखन-कर्म में प्रवृत्त होता है आधे-अधूरे मन से नहीं। इसी लेखकीय निष्ठा ने शास्त्रीजी को प्रतिष्ठा प्रदान की है। ●

प्राप्तव्य : HARIRAM JI JAJODIA, 96, Muktaram Babu Street, Kolkata-700 007

डॉ० उषा द्विवेदी

'कुछ चंदन की कुछ कपूर की'
सुवास एवं शीतलता का अनूठा संगम

चन्दन की भीनी सुरभि एवं शीतलता से रची-बसी तथा कपूर की धवल शुभ्रता एवं पावनता से ओत-प्रोत है आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की 'कुछ चन्दन की कुछ कपूर की' शीर्षक निबंधात्मक पुस्तक। सन् १९६३ में प्रकाशित 'कवि निराला की वेदना तथा अन्य निबंध' के लगभग दस वर्ष उपरांत १९७३ में हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी द्वारा प्रकाशित यह दूसरी कृति अक्टूबर १९६३ से जुलाई १९६९ के मध्य लिखित निबंधों का संकलन है। इन निबंधों के बारे में पुस्तक की विवृति में लेखक का कथन है— "कुछ शोधपरक हैं, कुछ विवेचनात्मक, कुछ समीक्षात्मक। कुछ गम्भीर पत्रों के लिए लिखे गये थे तो कुछ रेडियो के सामान्य श्रोताओं के लिए। फिर भी मेरा विश्वास है कि इनमें स्तरगत विविधता के बावजूद स्वरगत एकता का आभास आपको मिलेगा।"

स्तरगत वैविध्य का प्रमाण देने वाले इस संग्रह में साहित्य की विविध विधाओं—कविता, गीत, नाटक, कहानी, आलोचना, उपन्यास एवं रचना विशेष को केन्द्र में रखकर लिखे गए निबंधों के बहाने मध्ययुगीन एवं आधुनिक साहित्य की नब्ज़ को भी लेखक ने बड़ी कुशलता से टटोला है।

कुल तेईस निबंधों वाले इस संग्रह में 'कुछ चंदन की' शीर्षक प्रथम खण्ड में चार निबंध समाहित हैं एवं 'कुछ कपूर की' शीर्षक द्वितीय खण्ड के अन्तर्गत १९ निबंध हैं।

आरंभिक खण्ड के चार निबंधों में प्रथम निबंध 'भारतीय संस्कृति में कबीर का योगदान' में तत्कालीन परिस्थितियों का विवेचन करते हुए लेखक ने उन इतिहासकारों से अपनी असहमति जताई है जो मध्यकालीन भक्ति साधना और साहित्य को इस्लामी आक्रमण की प्रतिक्रिया मानते हैं। लेखक ने कबीर को 'भक्ति-गंगा को उत्तर भारत के जनमानस में प्रवाहित करने वाले हरिद्वार' मानते हुए 'स्वानुभूति' को ही उनके साहित्य की कसौटी स्वीकार किया है। शास्त्री जी की स्थापना है कि कबीर की प्रतिभा सृजनमूलक थी, अनुकरणमूलक नहीं। लेखक का स्पष्ट मत है कि 'कबीर की भूमिका ऋषि की है जो प्रयोजन पड़ने पर प्राचीन को अस्वीकार कर नवीन विधान देने की क्षमता रखता है, पुरोहित की नहीं, जो प्रायः अपरिवर्तनवादी एवं प्राचीन विधानों का अन्धानुगामी होता है।'

भक्ति साहित्य विशेषतः तुलसी साहित्य के अधिकारी विद्वान के रूप में देश भर में कीर्ति अर्जित करने वाले आचार्य शास्त्री के 'विनयपत्रिका में मनोविजय की साधना' एवं 'विनयपत्रिका में क्रिया और कृपा' शीर्षक निबंधों में भक्त मन की भावुकता, दृढ़ता एवं तल्लीनता के दर्शन किए जा सकते हैं। 'विनयपत्रिका में मनोविजय की साधना' शीर्षक निबंध में मन की तमाम दुर्बलताओं, उसके समस्त विकारों एवं विषयाशक्ति का विस्तृत वर्णन करते हुए लेखक ने तुलसी साहित्य के विविध उद्धरणों के माध्यम से सतत् साधना एवं इन्द्रिय-निग्रह को मन को विजित करने वाले साधन के रूप में स्वीकार किया है। साथ ही 'विनयपत्रिका में क्रिया और कृपा' में लेखक ने अपनी करनी (क्रिया) का महत्त्व बताते हुए भगवत्कृपा को ईश्वर-प्राप्ति के लिए आवश्यक माना है। आचार्य शास्त्री का

सौजन्य : R. S. Chitlangia Foundation, 113, Park Street, (North Block), 4th Floor, Kolkata-16

निष्कर्ष है— "अपने भले के लिए भक्त को अपनी ओर से अपने नेम का निर्विघ्न पालन करना चाहिए और भगवान से प्रार्थना करते रहना चाहिए कि वे उसके आचरण की ओर देखकर नहीं, अपने नाम, प्रताप, गुण, स्वभाव की ओर..... एक शब्द में अपनी ओर देखकर उस पर कृपा करें। इस सिद्धांत से कृपा की पूर्ण स्वतन्त्रता भी अक्षुण्ण रहती है और उसमें क्रिया का भी समाहार हो जाता है।"

नरसी मेहता विरचित तथा महात्मा गाँधी के प्रिय भजन 'वैष्णव जन तो तेने कहिए' शीर्षक निबंध में सच्चे वैष्णव को जाति, धर्म, संप्रदाय से परे अहिंसक सत्याग्रही मानते हुए लेखक ने गाँधी जी के जीवन-दर्शन एवं उनकी मान्यताओं का सूक्ष्मता से विवेचन किया है।

इस तरह प्रथम खण्ड के चारों निबंधों में प्रसंगानुसार भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति एवं सभ्यता के उज्ज्वल पक्षों का लेखक ने कुशलता से वर्णन किया है।

'कुछ कपूर की' शीर्षक से दूसरे अंश में 'हिन्दी आलोचना को श्री बालमुकुन्द गुप्त की देन' तथा 'स्वच्छन्दतावादी समीक्षक नन्ददुलारे वाजपेयी' की विस्तृत विवेचना करते हुए आलोचना के संबंध में लेखक ने अपने जो उद्‌गार व्यक्त किए हैं उनमें उनके निष्पक्ष विचारों का प्रतिपादन दृष्टव्य है। शास्त्री जी का कथन है— "आलोचना का उद्देश्य किसी को अपदस्थ कर उसकी रचना-शक्ति को कुंठित करना नहीं, उसकी त्रुटियों को दूर कर उसे समर्थ लेखक बनने में सहायता पहुँचाना है।"

'कामायनी में प्रकृति' के महिमाशाली एवं कलात्मक चित्रण के कारण लेखक ने कवि प्रसाद को हिन्दी का अन्यतम कवि माना है। इसी तरह 'इड़ा प्रतीक और चरित्र' निबंध में इड़ा के चारित्रिक विकास में लेखक को श्रद्धा की छाया स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की अत्यन्त सशक्त विधा गीत के अन्तर्गत नवगीत आन्दोलन की चर्चा करते हुए इसके उज्ज्वल भविष्य के प्रति लेखक आश्वस्त है क्योंकि 'अन्य काव्य-रूपों की तुलना में गीत अधिक भावभीने और लयाश्रित होते हैं एवं व्यक्तिगत सुख-दुःख की घड़ियों में अनायास ही फूट पड़ते हैं, अपना या अपना लिया गया गीत गुनगुना उठना ऐसे क्षणों में मानव मन की विवशता है और इस विवशता में ही मानवता सुरक्षित है।' लेखक की शोधपरक सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देने वाले आधुनिक एवं अत्याधुनिक कविता संबंधी निबंधों में जहाँ एक ओर स्वातंत्र्योत्तर काव्य-प्रवृत्तियों की विस्तार से चर्चा की गयी है वहीं नयी-कविता-धारा की अच्छी कविताओं की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हुए लेखक ने ऐसे कवियों का आह्वान किया है जो नवीन काव्य और सामान्य काव्य-रसिक के बीच की बढ़ती हुई खाई को पाट सकें।

आचार्य शास्त्री की नाटक-विधा में न केवल गहरी अभिरुचि रही है बल्कि वे कोलकाता महानगर की प्रमुख नाट्य संस्था 'अनामिका' के महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी के रूप में वर्षों तक जुड़े रहे हैं। इस कृति में नाटक पर केन्द्रित अपने तीन निबंधों— 'हिन्दी का नया नाटक साहित्य, 'नाटक के दर्शकों और समीक्षकों की समस्याएँ' तथा 'दर्शक और आज का हिन्दी रंगमंच : कुछ प्रश्न' में उन्होंने नाटक और रंगमंच संबंधी तमाम समस्याओं का सूक्ष्मता से उद्‌घाटन किया है एवं हिन्दी नाटकों से दर्शकों की बढ़ती दूरी को कम करने के लिए जीवन और जगत की वास्तविकता से जुड़े, गंभीर तथा उदात्त कलात्मक आनन्द का परिवेशन करने वाले नाटकों की आवश्यकता पर बल दिया है।

सौजन्य : R. S. Chitlangia Foundation, 113, Park Street, (North Block), 4th Floor, Kolkata-16

'जैनेन्द्र की कहानियाँ', 'दिनकर के काव्य का मूलाधार', 'लहरों के राजहंस का नया रूप', 'निराला की साहित्य साधना' (प्रथम खंड), 'शिखरों का सेतु' तथा 'शिवानी के उपन्यास' निबन्ध शास्त्री जी की सूक्ष्म समीक्षात्मक दृष्टि का परिचय कराते हैं।

'पूछते हैं वो कि गालिब कौन है' शीर्षक आलेख अत्यन्त प्रभावी शैली में लिखा गया है। इसमें गालिब के संबंध में लेखक का कथन है— "गालिब का केवल अन्दाज़ेबयाँ ही और नहीं है, बहुत बार उनका कथ्य भी सामान्य से भिन्न होता है।"

समग्रतः कहा जा सकता है कि यह कृति लेखक की बहुमुखी प्रतिभा का परिचय कराने में समर्थ है। गद्य में भी काव्यात्मकता को जिस कुशलता से लेखक ने पिरोया है उससे कृति में लयात्मकता एवं लालित्य उत्पन्न हो गया है। रचना एवं रचनाकार के प्रति शास्त्री जी की वस्तुनिष्ठ दृष्टि का ही यह परिणाम है कि व्यक्ति एवं विषय पूरी जीवन्तता के साथ वहाँ उपस्थित है। आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की 'नीर-क्षीर विवेकी' दृष्टि स्थितियों एवं परिस्थितियों के उज्ज्वल पक्षों के चित्रण में खूब रमी है। एक संवेदनशील रचनाकार की लेखनी के संस्पर्श से निबंध जैसी शुष्क विधा भी ललित हो उठी है। भाषा एवं भाव के सम्यक् संयोजन ने कृति को वैशिष्ट्य प्रदान किया है। यही कारण है कि १९७२-७३ में उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा यह रचना 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पुरस्कार' से समादृत की गयी। ●

सौजन्य : R. S. Chitlangia Foundation, 113, Park Street, (North Block), 4th Floor, Kolkata-16

तारा दूगड़

'बांग्लादेश के सन्दर्भ में'

मुक्ति-संग्राम का सजीव चित्रण करने वाली कृति

'देखिये मैं माँ हूँ। माँ की तरह ही सोच सकती हूँ। कितने कष्ट से माँ बाप बच्चों को बड़ा करते हैं। पाकिस्तानी, पशुओं की तरह बंगाली बच्चों की हत्या कर रहे हैं..... यह सुन-सुनकर मेरा कलेजा काँप उठता है याहिया खाँ बंगालियों के खून से खेतों को सींचेगा, बंगालियों के हाड़ मांस की खाद देगा और इस तरह जूट और चाय पैदा कर विदेशों में बेचेगा, उस रुपये से गोला, बारूद, बंदूक और हवाई जहाज खरीदेगा और उन्हीं शस्त्रास्त्रों से बंगालियों की हत्या करेगा।'

ये उद्‌गार हैं स्वतंत्र बांग्ला देश के प्रथम राजनयिक की पत्नी श्रीमती हुसैन अली के। ऐसी ही हृदय विदारक घटनाओं, वारदातों एवं साक्षात्कारों की प्रभावी प्रस्तुति की है प्राध्यापक विष्णुकान्त शास्त्री ने 'बांग्लादेश के संदर्भ में' शीर्षक कृति में।

पश्चिम पाकिस्तान के तानाशाहों ने जिस नृशंसता से भोले भाले बंगालियों को लूटा, उनपर कहर ढाया वे सब मानव इतिहास के काले धब्बे कहे जा सकते हैं। इस्लाम के आधार पर पाकिस्तान को अपना राष्ट्र मानने वाले पूर्वी पाकिस्तानियों ने पश्चिमी पाकिस्तानियों को अपना भाई माना, अपना पूरा सहयोग दिया। खाद्यान्न, उत्पादन की दृष्टि से धनी माने जाने वाले पूर्वी पाकिस्तान के जूट, चाय, कागज आदि उद्योगों की स्थिति काफी अच्छी थी जिसे धीरे-धीरे पश्चिमी पाकिस्तानियों ने लूट-लूट कर रसातल में पहुँचा दिया था। जिसके परिणाम साफ दिखाई पड़ते थे कि पश्चिमी पाकिस्तान के शहर दुनिया के आधुनिकतम शहरों की तरह खूबसूरत एवं सुविधा सम्पन्न बन गये थे वहीं पूर्वी पाकिस्तान की आम जनता के पास खाने पहनने को भी नहीं था। 'हमारी औरतें गीली धोतियाँ पहने रहती हैं क्योंकि उनके पास बदलने को कुछ नहीं है। बीसियों जगह से फट जाने पर भी वे उसे सीते रहने की चेष्टा करती हैं..... इसी गरीबी से यह विद्रोह तथा सम्मानपूर्वक जीने के लिये संघर्ष के भाव पैदा हुए हैं।'

लगातार पाकिस्तानी आततायियों के दमन, शोषण, और घृणामूलक अपमान को सहते सहते बहुसंख्यक बंगला भाषी मुसलमानों की हालत पस्त हो गई थी। इसी पुस्तक में एक साक्षात्कार के दौरान मुक्ति संग्राम का नेतृत्व करने वाले प्रमुख जन नायकों में एक श्री हुसैन अली ने शास्त्री जी से कहा कि— 'अब हमने तै कर लिया है कि हम स्वतंत्र देश की तरह जियेंगे। हमारी अन्तर्राष्ट्रीय सीमाएँ बिल्कुल अलग हैं, हमारी संस्कृति अलग है, भाषा अलग है, जाति अलग है, हम हिन्दू-मुसलमान का भेद नहीं मानते। हमारा यह संघर्ष स्वतंत्र देश के स्वाभिमानपूर्ण समृद्ध जीवन के लिये है, औपनिवेशिक दासता और शोषण के विरुद्ध है, बर्बरता और अत्याचार के विरुद्ध है। अब हम गुलाम पाकिस्तान के नहीं, स्वतंत्र बांग्ला देश के निवासी हैं। हमारी यह लड़ाई किसी भी तरह पाकिस्तान का भीतरी मामला नहीं है। यह मानवता की प्रतिष्ठा की लड़ाई है।'

सौजन्य : R. S. Chitlangia Foundation, 113, Park Street, (North Block), 4th Floor, Kolkata-16

मानवता की प्रतिष्ठा ने बांग्ला-देशवासियों को स्वतंत्र होने को मजबूर कर दिया था। इसी संदर्भ में पुस्तक की भूमिका में विष्णुकान्त जी लिखते हैं— 'बांग्लादेश का मुक्ति संग्राम उत्पीड़ित मानवता के विश्वव्यापी संग्राम का एक गौरवपूर्ण अध्याय है। पाकिस्तानी फौजी तानाशाही का जैसा क्रूर और अमानवीय रूप इस संघर्ष के मध्य उभड़ा, स्वतंत्रता के लिये वैसा ही अदम्य संकल्प अत्याचारित जनता के हृदय में मूर्त हो उठा।'

इस मुक्ति संग्राम का विवरण प्रस्तुत करने हेतु शास्त्री जी को तत्कालीन लोकप्रिय साप्ताहिक 'धर्मयुग' की तरफ से दायित्व दिया गया था। इस महत्त्वपूर्ण दायित्व की पूर्ति में वे जिस निष्ठा एवं संकल्प के साथ जुटे, उसकी साक्षी है यह कृति।

पुस्तक के निबन्धों को यदि रिपोर्ताज की कोटि में रखा जाये तो अधिक समीचीन होगा। बांग्ला देश के मुक्ति संग्राम के प्रारम्भिक दिनों से लेकर विजय के रोमांचक क्षणों के जीवंत-जाग्रत चित्र प्रस्तुत करते ये रिपोर्ताज साहित्य के अध्यापक द्वारा लिखे गये आलोचनात्मक निबन्ध न होकर बांग्ला देश के स्वतंत्रता संग्राम को रपट प्रस्तुत करने वाले तथ्यपरक निबन्ध हैं। इनमें वहाँ की जनता के पीड़ा, संत्रास, आक्रोश और विद्रोह के मार्मिक चित्रों को रेखांकित किया गया है।

प्राध्यापक शास्त्रीजी बांग्ला देश के प्रोफेसरों, अध्यापकों की दुर्दशा का वर्णन करते हुए 'ये क्रांतिकारी विस्थापित और हम' के प्रारंभ में लिखते हैं— 'मेरी जेब में सिर्फ दो रुपये बचे हैं और मैं नहीं जानता कि उनके खत्म हो जाने के बाद मैं क्या करूँगा?' '..... कहने वाले का स्वर भावहीन था किन्तु सुनने वालों के लिये ये शब्द पैने बर्छों के समान थे जो कलेजे को चीरते हुए निकल गये थे। कहने वाले थे चटगाँव विश्वविद्यालय के रसायन-विभाग के सीनियर लेक्चरर एवं सुनने वाले थे कलकत्ता विश्वविद्यालय बांग्लादेश सहायक समिति के कार्यकर्त्ता'।

विदेश से रसायन-विज्ञान में डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त करने वाले विद्वान की यह दुर्दशा शास्त्री जी को भीतर तक आहत कर गयी। वे आगे लिखते हैं—

'जो बात मुँह से वे बोल नहीं पाते वह उनकी आँखें बोलती हैं। माध्यम चाहे शब्द हों, चाहे छेद देने वाली नज़र, चाहे उदास गहरी साँसें ..... कथ्य सदा एक ही होता है, 'किछु करुन, नइले मारा पड़बो ..... पारबे न किछु करते (कुछ कीजिये, नहीं तो मर जायेंगे..... सकेंगे कुछ?)।'

बेबसी, लाचारी और यातना की ग्लानि से भरे इन वाक्यों को पढ़कर कलेजा मुँह को आता है।

कलकत्ता विश्वविद्यालय बांग्लादेश सहायक समिति के उत्साही सदस्य होने के नाते मुक्ति योद्धाओं के शिविर का परिदर्शन करने एवं आवश्यक सामान पहुँचाने गये शास्त्री जी को स्थिति की भयावहता एवं दुर्दशा से यह अंतःप्रेरणा मिली कि वे इस सारे घटनाक्रम को अपने देशवासियों तक हूबहू पहुँचाएँ, यथासाध्य इनकी सहायता करें। यही प्रेरणा उन्हें स्थिति की गहराई तक जाने, सामान्य जनता का दुःख दर्द जानने, फौजी अफसरों से लेकर, साधारण जवानों, अफसरों, बुद्धिजीवियों एवं कवियों से सीधे वार्तालाप करने को प्रेरित करती रही।

पुस्तक के पाँचवें निबन्ध में पत्रकार शास्त्रीजी के विशेष आग्रह पर श्री हुसैन अली बांग्लादेश की स्थिति में बारे में कहते हैं— 'बांग्ला देश में इस समय पाकिस्तानी फौजें जो कर रही हैं उसे जैनोसाइड ही कहा जा सकता है। ढाका, राजशाही, चटगाँव, जैसोर, खुलना आदि शहरों की घनी बस्तियों पर हवाई जहाजों से निर्ममतापूर्ण बमवर्षा कर निहत्थी जनता पर टैंकों, आर्मर्डकारों से गोलियाँ बरसा कर, गाँवों में आग लगा कर वे लोग एक ओर

सौजन्य : R. S. Chitlangia Foundation, 113, Park Street, (North Block), 4th Floor, Kolkata-16

साधारण जनता की निर्विचार हत्या कर रहे हैं तो दूसरी ओर चुन-चुन कर देश के बुद्धिजीवियों, कवियों, लेखकों, पत्रकारों, राजनीतिक नेताओं, वकीलों, डॉक्टरों, प्राध्यापकों और छात्रों का सफाया करते चले जा रहे हैं, ताकि देश नेतृत्वविहीन होकर पंगु हो जाये। औरतों की बेइज्जती, बच्चों और बूढ़ों की हत्या, पाकिस्तानी फौजियों के लिये मनोविनोद के साधन हैं। .....लाखों व्यक्तियों की हत्या कर पाकिस्तानियों ने बांग्लादेश को विशाल कब्रगाह बना दिया है।'

देश के विभिन्न भागों में शिष्टमण्डलों को भेजने के पीछे भी यही भावना प्रमुख थी कि अत्याचारों की सही तस्वीर देश की बुद्धिसम्पन्न जनता के समक्ष रखी जा सके। कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा पहला शिष्ट मण्डल अलीगढ़, इलाहाबाद, दिल्ली, आगरा, लखनऊ, गोरखपुर और पटना भेजा गया जिसके नेता थे चटगाँव विश्वविद्यालय के उपकुलपति डॉ० अजीजुर्रहमान मल्लिक और सदस्य थे डॉ० अनीसुज्जमान, बांग्लादेश के एम. पी. ए. सुविद अली, समिति के उपमंत्री प्रो० सौरीन्द्रनाथ भट्टाचार्य, कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रो० अनिल सरकार, डॉ० अनिरुद्ध राय एवं प्रो० विष्णुकान्त शास्त्री।

बांग्लादेश की अलख जगाने निकले अपने-अपने क्षेत्र के सभी विशिष्ट व्यक्तियों ने निष्ठा एवं श्रमपूर्वक अपने उत्तरदायित्व को निभाया।

'बांग्लादेश की अलख जगाने' शीर्षक निबन्ध के अंत में शिष्ट मण्डल के एक सक्रिय सदस्य के रूप में शास्त्री जी लिखते हैं— 'जून की सख्त गर्मी में की गयी लगातार यात्रा और दौड़धूप ने मुलाकातों, वक्तृताओं और वार्ताओं ने चाहे जितना थकाया हो, कहीं मन में यह भाव भी जगाया कि हमलोग इतिहास की महान क्रान्ति के निष्क्रिय दर्शकों की नहीं सक्रिय सहयोगियों की भूमिका अदा कर रहे हैं। ..... जब किसी बड़ी चुनौती को स्वीकार कर आदमी उससे पूरी शक्ति से भिड़ जाता है, तब उसे अपने नये रूप का, अपने में छिपी नयी विशेषताओं का परिचय मिलता है। बांग्लादेश के इस मुक्ति युद्ध ने बंगाली चरित्र को..... विशेषतः बंगाली मुस्लिम चरित्र को काफी बदला है।'

इस पूरी पुस्तक में शास्त्री जी ने युद्ध, युद्ध से सम्बन्धित खतरे एवं उनसे उबरने की तैयारियों का एक चित्रकार की भाँति ऐसा जीवंत चित्र खींचा है जिसे पढ़ने पर हमें ऐसा लगता है कि हम स्वयं युद्ध-क्षेत्र में पहुँच गये हों।

बांग्लादेश की मुक्ति वाहिनी का फौजी अस्पताल शास्त्रीजी के अनुसार किसी करिश्मे से कम नहीं था। बांस और टट्टरों से बने फूस से छाये अस्पताल में बिना बिजली की रोशनी के मात्र लालटेन के सहारे सम्पादित होनेवाले सफल ऑपरेशनों को देख जहाँ उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा वहीं अपेक्षाकृत कम सुविधाओं एवं संसाधनों के बावजूद शिकायत रहित रोगियों ने उन्हें चमत्कृत भी कर दिया। 'बांग्लादेश के फौजी अस्पताल' शीर्षक आलेख में वे लिखते हैं— 'हमलोग एक-एक घायल और रोगी के पास गये। अपने कष्टों के बावजूद वे दृढ़ प्रतिज्ञ थे। अच्छा होते ही फिर मोर्चे पर जाने के लिये कमर कसे हुए थे। सामान्य अस्पतालों से कितना भिन्न वातावरण था। अभावों को चुनौती देता हुआ मानव मनोबल कितना महनीय हो जाता है, इसका आभास इस अस्पताल में मिला।'

'क्रान्ति के अग्रदूत बांग्लादेश के बुद्धिजीवियों के बीच' विषय पर लिखे गये चौबीस निबंध बांग्लादेश के सरस्वती पुत्रों पर किये गये निर्मम एवं बर्बरतापूर्ण अत्याचारों को पढ़कर कुछ क्षणों के लिये हमारा विवेक भी

उपलब्ध : R. S. Chitlangia Foundation, 113, Park Street, (North Block), 4th Floor, Kolkata-16

स्तम्भित हो जाता है। क्या पढ़ने, लिखने, विवेकी होने का यही हश्र होता है ? निबंध के आरम्भ में विष्णुकान्त जी इन बुद्धिजीवियों को 'जड़ीभूत यंत्र मानव' की संज्ञा देते हुए लिखते हैं—

'१६ दिसम्बर १९७१ को आजादी का सूरज चमका और उसी के साथ फिर जीवन की सर्जना की हलचल दूने वेग से शुरू हुई। मेरा सौभाग्य है कि मुझे दिसम्बर १९७१ के अंतिम सप्ताह में और फिर फरवरी के मध्य में ढाका जाने का और वहाँ के बुद्धिजीवियों से मिलने जुलने का सुअवसर मिला। दिसम्बर में बांग्लादेश के बुद्धिजीवी नरक भोग की अनुभूति से उबरने का प्रयास कर रहे थे किन्तु फरवरी तक वे पुनः सृजन की राह पर विश्वास पूर्वक चलने लग गये थे।'

स्थान स्थान पर जाकर बांग्लादेश के महत्त्वपूर्ण शिक्षाविदों, साहित्यकारों, कवियों, प्राध्यापकों से हुई शास्त्री जी की मुलाकातों का ब्यौरेवार वर्णन पुस्तक में संगृहीत है। शिक्षा सचिव डॉ० अजीजुर्रहमान की अपने देश के बुद्धिजीवियों के प्रति शुभकामनाओं से निबन्ध का समापन हुआ है— 'खिलें-खिलें, फूल खिलें शोकाहत हृदयों में'।

पाकिस्तान के निर्माण की योजना कब बनी ? स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी बांग्लादेश में क्यों हथियारों एवं हत्याओं का खेल जारी रहा ? आदि आदि तथ्य परक घटनाओं की सही जानकारी कृति के लेखक ने स्वयं ढाका के प्रेस क्लब, विश्वविद्यालय, अखबारी दफ्तरों से लेकर बांग्लादेश के अनेक बुद्धिजीवियों एवं उच्चाधिकारियों से बातचीत तथा मुलाकातों के द्वारा प्राप्त कर उन्हें 'बांग्लादेश के उर्दूभाषी अबंगाली' शीर्षक निबंध में विचारोत्प्रेरक तरीके से प्रस्तुत किया गया है।

इसी निबन्ध में मीडिया एवं समाचार पत्रों की विश्वसनीयता पर सवालिया निशान लगाते हुए विष्णुकान्त जी ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि बांग्लादेश के स्वतन्त्र हो जाने के बाद भी कैसे खबरों को तोड़ मरोड़ कर आतंक फैलाया गया ? वे लिखते हैं— 'बांग्लादेश में पाकिस्तानी फौजों के समर्पण के बाद ही कुछ अमरीकी अखबारों में अकस्मात् यह खबरें छपने लगी थीं कि मुक्तिवाहिनी के लोग बिहारी मुसलमानों पर अत्याचार कर रहे हैं और भारत के कुछ अंग्रेजी अखबार (सब नहीं) जिनमें न अपनी कोई दृष्टि है, न इतना साहस कि वे खतरा मोल लेकर खुद जा कर सचाई को देखें और जाँचने की कोशिश करें। उन्हीं खबरों और उन्हीं विदेशी एजेंसियों द्वारा प्रचारित चित्रों को छाप-छाप कर पालतू तोते की तरह दोहरा-दोहरा कर अपनी अकल के विलायती दिवालियेपन का सबूत देने लगे। सच पूछिये तो इस सारे क्रांति अभियान के दौरान इन कुछ अमरीकी अखबारों और उनके पिछलग्गुओं की सारी भूमिका अजीब औंधी भूमिका रही है और भारत की बांग्लादेश समर्थक नीति तथा मुक्तिवाहिनी को जब भी बदनाम करने की कोई भी दलील इन्हें मिली है ये अपनी हरकतों से बाज नहीं आये हैं।'

जबकि स्थिति इससे भिन्न थी। वहाँ भाईचारे के सुन्दर माहौल का निर्माण हुआ था। जिन मन्दिरों, पूजास्थलों को पाकिस्तानियों ने क्षत-विक्षत कर दिया था उनके पुनर्निर्माण के प्रयास चल रहे थे, अनेक छात्रावासों में गोमांस का प्रयोग निषिद्ध कर दिया गया था, मुसलमान विद्यार्थी स्वयंसेवकों द्वारा सरस्वती पूजा के आयोजन किये जा रहे थे। इसके साथ ही विभिन्न शिक्षाविदों एवं देश के कर्णधारों के साथ शास्त्री जी द्वारा लिये गये साक्षात्कार इन तथ्यों के प्रमाण हैं। विष्णुकान्त जी पत्रकारिता के स्वस्थ एवं रचनात्मक तत्त्वों की चर्चा करते हुए लिखते हैं— 'स्वाधीन पत्रकारिता के जहाँ कुछ अधिकार होते हैं, वहीं उसके कुछ कर्त्तव्य भी होते हैं। इसका एक प्रमुख कर्त्तव्य है कि ऐसे महत्त्वपूर्ण सवालों पर तटस्थ दृष्टि से स्वयं जांच परख कर तथ्यों को पाठकों के समक्ष रखें। अपने सीमित साधनों

सौजन्य : R. S. Chitlangia Foundation, 113, Park Street, (North Block), 4th Floor, Kolkata-16

के बावजूद इस सारे संदर्भ में धर्मयुग ने अपने कर्त्तव्य का विनम्रतापूर्वक पालन किया, स्वयं घटना स्थल पर जाकर जो देखा उसे पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया और इस प्रकार क्रांति-विरोधी प्रचार के अंतर्राष्ट्रीय षडयन्त्रों की तोतारटंत पत्रकारिता के समक्ष एक साहसी सत्यनिष्ठ पत्रकारिता को उजागर किया और अपने जागरूक पाठकों और अपनी क्रांतिप्राण भारतीय भाषा चेतना के प्रति अपने कर्तव्य निर्वाह का विनम्र प्रयास किया।'

बांग्लादेश वासियों की अप्रतिम देशभक्ति एवं अदम्य मनोबल का समुचित अहसास इन रिपोर्टों को पढ़कर ही लगाया जा सकता है।

सिद्धहस्त संस्मरणकार की लेखनी के स्पर्श से इन रिपोर्टों में स्थान-स्थान पर भाषा का लालित्य पाठक को मोह लेता है। अन्य कृतियों की अपेक्षा सीधी सरल भाषा होते हुए भी कहीं कहीं कुछ वाक्य-विन्यास शास्त्रीजी के आलोचनात्मक ग्रंथों की समृद्ध भाषा का अहसास कराते हैं।

प्राध्यापक शास्त्रीजी के लिये पत्रकारिता का यह अनुभव बिल्कुल नया था जिसे भूमिका में स्वीकारते हुए उन्होंने लिखा है— 'कैसे अद्‌भुत थे वे दिन ! उत्तेजना, विक्षोभ और उत्साह का जैसा अनुभव उन दिनों हुआ वैसा कभी नहीं हुआ था। कहाँ विश्वविद्यालय का शांतिपूर्ण प्राध्यापक जीवन और कहाँ युद्ध के मोर्चे पर अर्द्धसैनिक वेश में गोली के धमाकों के बीच मुक्ति योद्धाओं का साहचर्य'।

शास्त्री जी ने अपने दुःसाहस से इस आम धारणा को मिथ्या साबित कर दिया कि 'अध्यापक प्रकृत्या संघर्ष भीरु होते हैं।' खुलना में पाकिस्तानी फौज के आत्मसमर्पण के दिन १७ दिसम्बर १९७१ को शास्त्रीजी वहाँ उपस्थित होने वाले पहले गैर सैनिक भारतीय थे। प्रस्तुत कृति यह प्रमाणित करती है कि शास्त्री जी कुशल प्राध्यापक, शीर्षस्थ समालोचक, संस्मरणकार, सहृदय कवि एवं स्वच्छ छवि वाले राजनेता तो हैं ही उनमें एक निपुण सैनिक के गुण भी विद्यमान हैं। आरम्भ से ही राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से जुड़े होने के कारण अनुशासित जीवन जीने की वृत्ति उनका स्वभाव बन गई थी। इसका पल्लवन हुआ १९६२ में भारत-चीन युद्ध के दौरान एन.सी.सी. के प्रशिक्षण शिविरों में सक्रिय भागीदारी के माध्यम से। बांग्लादेश मुक्तियुद्ध के दौरान रिपोर्ट संकलन के लिये जिस अनुशासन एवं सैनिकोचित निष्ठा की आवश्यकता थी, शास्त्री जी में सहज ही उन गुणों का समावेश था।

पुस्तक पढ़ते वक्त पाठक इस बात की सहज ही अनुभूति कर पायेगा कि शास्त्री जी केवल शास्त्रज्ञ ही नहीं शस्त्रज्ञ भी हैं। शस्त्रों के बीच गोलियों और धमाकों की आवाजों के बीच भी अपने दायित्व का निष्ठापूर्वक करने वाले विष्णुकान्त जी पर महाभारत का यह श्लोक अक्षरशः चरितार्थ होता है—

"अग्रतश्चतुरो वेदाः प्रष्ठतः सशरं धनुः।
इदं ब्राह्मं इदं क्षात्रं शास्त्रैरपि शरैरपि।।"

विष्णुकान्त जी के इस लेखन की व्यापक सराहना हुई। सच तो यह है कि कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्राध्यापक शास्त्री जी की अखिल भारतीय पहचान 'धर्मयुग' में प्रकाशित इन्हीं रिपोर्टों के कारण हुई। कहने की जरूरत नहीं कि 'धर्मयुग' के स्वनामधन्य सम्पादक धर्मवीर भारती भी इन लेखों को पढ़कर अभिभूत हो गये थे। ये निबन्ध केवल ऐतिहासिक, साहित्यिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं सैनिकों के लिये भी अमूल्य धरोहर हैं। १९७४-७५ के उत्तर प्रदेश राज्य साहित्यिक पुरस्कार से सम्मानित २७० पृष्ठों वाली यह कृति शास्त्री जी के पत्रकार रूप को उजागर करने में सक्षम है। ●

प्राप्तिस्थान : C. S. Sales Pvt. Ltd., 154, Jamunalal Bajaj Street, Kolkata-700 007

चित्तरंजन मिश्र

'चिन्तन-मुद्रा'

साहित्य की परम्परा से दीप्त आलोचना पुस्तक

निरंतर राजनीतिक और दलीय सक्रियता के बावजूद शास्त्री जी की प्राथमिकताएँ साहित्यिक और लेखकीय बनी रहीं इसलिए अपने समय की प्रायः सभी साहित्यिक प्रतिभाओं के वे शुभैषी भी बने रहे और अपनी सहजता तथा सहृदयता के कारण गुरुतर पीढ़ी से लेकर युवतर पीढ़ी तक की रचनाओं का आस्वादपरक मूल्यांकन भारतीय जीवन मूल्यों के साथ संपृक्त होकर करते रहे। यों उनकी 'चिन्तन मुद्रा' में आधुनिक काल के साहित्य का भी मूल्यांकन किया गया है, पर उनके केन्द्र में हैं तुलसीदास। उन्होंने स्वीकार किया है, 'भक्ति साहित्य की उदात्तता से जुड़कर आधुनिक साहित्य और जीवन भी अधिक प्राणवन्त हो सकता है।' इसी विश्वास के कारण विष्णुकान्त जी 'हिन्दी के भक्ति साहित्य को अपने चिन्तन-मनन-लेखन' का विषय बनाते रहे हैं। इस चिन्तन, मनन और लेखन के क्रम में उन्होंने आधुनिकता की चुनौतियों को स्वीकार करते हुए तुलसीदास के साहित्य का मूल्यांकन किया है। तुलसीदास की चेतना को एक गतिशील समाज की रचना के संदर्भ में व्याख्यायित किया गया है। उन्होंने तुलसीदास के काव्य के मूल्यांकन में पश्चिमी दृष्टिकोण के बंदी आलोचकों की मान्यताओं का जमकर खण्डन किया है और तुलसी के काव्य से प्रासंगिक प्रमाण प्रस्तुत करते हुए सहज भारतीय विवेक और दृष्टि की स्थापना पर बल दिया है। इसी निबंध में शास्त्री जी ने एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह भी दिया है कि पश्चिम में धर्म और विज्ञान एक दूसरे के विरोधी के रूप में जाने जाते हैं परन्तु भारत में वैज्ञानिक चिन्तन और पौराणिक कल्पनाओं का सहअस्तित्व स्वीकृत रहा है। तुलसी काव्य के प्रति अपनी अनन्य निष्ठा के कारण ही शास्त्री जी, 'आधुनिकता की चुनौती और तुलसीदास' शीर्षक लेख में तुलसी काव्य में विद्यमान अविच्छिन्न, उदात्त विवेक को न सिर्फ आधुनिकता के उज्ज्वल पक्ष के साथ जोड़ते हैं बल्कि तुलसी के मूल्य विमर्श की कसौटी पर आधुनिकता को भी कसते हुए प्रतीत होते हैं।

'तुलसी के राम' जैसे बहुशः विचारित और विवेचित विषय पर लिखते हुए विष्णुकान्त जी अपनी सहृदयता का तो परिचय देते ही हैं राम के व्यक्तित्व में युग की आकांक्षा के अनुरूप होने वाले परिवर्तनों पर खासतौर से रोशनी डालते हैं। राम की सर्वजनसुलभता, विष्णुकान्त जी के अनुसार तुलसी के राम की एक बड़ी विशेषता है जो उन्हें प्रासंगिक बनाती है। राम के व्यक्तित्व में शील की प्रतिष्ठा के लिए परंपरित रामकथा में तुलसीदास द्वारा किये गये परिवर्तनों की वे तार्किक विवेचना करते हैं और 'तुलसी का दैन्य', 'तुलसी की तेजस्विता', 'राम का नाम ही नहीं, राम का काम भी' जैसे निबन्धों में तुलसीदास के काव्य मर्म की व्याख्या करते हुए उनकी भक्ति के मूल्य को सामाजिक अपेक्षाओं के संदर्भ में परखते हैं। विष्णुकान्त जी के लिए भक्ति मोक्ष का विधान मात्र नहीं है, बल्कि निरंतर उदारता की ओर अग्रसर करने तथा मनुष्य के विवेक को जाग्रत करके उसे अपने परिवेश के प्रति ज्यादा संवेदनशील बनाने वाला भाव है, इसी संदर्भ में वे तुलसी के समूचे साहित्य का, उसमें अन्तर्भुक्त राम के राग और भक्ति के लय का विवेचन करते हुए दिखाई देते हैं। परंपरित रामकथा के कुछ अतिचर्चित प्रसंगों के स्वरूप को

सौजन्य : R. S. Chitlangia Foundation, 113, Park Street, (North Block), 4th Floor, Kolkata-16

तुलसी के काव्य में कैसे परिवर्तित किया गया है, और उनके परिवर्तन से तुलसीदास किस बड़े सामाजिक मूल्य को प्रतिष्ठा करना चाहते थे— इस बात को प्रमाण पुष्ट और समकालीन संदर्भों से युक्त व्याख्या की गयी है। ऐसा करते हुए विष्णुकान्त जी भक्त, आलोचक, अध्यापक, उपदेशक, समाज सुधारक, पंडित, गुरु, कथावाचक सब एकसाथ लगने लगते हैं। तभी तो वे तुलसी की रचनाओं से उदाहरण चुनते हुए सीधे पाठक के हृदय में धीरे-धीरे उतरते चले जाते हैं। तुलसी काव्य की व्याख्या से सम्बन्धित 'चिन्तन मुद्रा' के निबन्धों में एक खास बात यह भी लक्ष्य की जानी चाहिए कि विष्णुकान्त जी निरंतर साम्प्रदायिक संकीर्णता और कट्टरता पर प्रहार करते रहते हैं। उदारता और शीलयुक्त अनुशासन जो उनके व्यक्तित्व की विशेषताएँ हैं, वह उनकी आलोचना में भी प्रत्यक्ष है। एक छोटा-सा उदाहरण दृष्टव्य है— 'अपने इष्ट रूप और भाव के प्रति सुदृढ़ विश्वास के बावजूद अन्यों को अपनी प्रकृति के अनुरूप राम को भजने की खुली छूट देना तुलसी को असांप्रदायिक बनाता है जो मध्ययुग की सांप्रदायिक संकीर्णता में बहुत विलक्षण बात है।' वैसे तो ईश्वर के स्वरूप को लेकर इस तरह की उदारता समूचे भक्ति साहित्य की विशेषता है और भक्ति काल के प्रायः सभी कवियों ने भक्त की भावना के अनुरूप ईश्वर के स्वरूप की परिकल्पना पर बल दिया है, यह प्रवृत्ति भी कदाचित सामाजिक और राजनीतिक शक्तियों में बढ़ रही साम्प्रदायिक संकीर्णता और कट्टरता के विरुद्ध रचनाकार के संयत विवेक की सक्रियता और उदारता की आकांक्षा का ही प्रतिफल है और यह भक्तिकालीन लोक जागरण का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है।

भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य की उपधाराओं के नामकरण पर पुनर्विचार करते हुए शास्त्री जी ने कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित अवश्य किये हैं, पर वे कोई ऐसा सुझाव नहीं दे पाये हैं जो अपेक्षाकृत अधिक स्वीकार्य हो। यह अवश्य है कि प्रायः सभी विद्वानों द्वारा इस संदर्भ में दिये गये तर्कों और उनकी सीमाओं का विद्वत्तापूर्ण उल्लेख किया गया है। इस उल्लेख से हिन्दी साहित्य के इतिहास के सम्पूर्ण ढाँचे से टकराने की प्रेरणा मिलती है। यह जो ढाँचा है, प्रवृत्तियों के अनुसार विवेचन का और नामकरण के औचित्य का, प्रायः सभी इतिहासकारों ने इसकी सीमाओं पर प्रहार तो किया, परन्तु किसी ने भी इसके समानान्तर कोई दूसरा विकल्प नहीं प्रस्तुत किया। शास्त्री जी ने मौलिक सुझाव दिये हैं कि ज्ञानाश्रयी शाखा को समन्वयी शाखा कहा जाय एवं कृष्णभक्ति शाखा तथा रामभक्ति शाखा के अतिरिक्त 'अन्य देव भक्ति शाखा' शीर्षक एक उपविभाग और बनाया जाय। ये सुझाव किसी बौद्धिक मंथन के परिणाम नहीं प्रतीत होते, अपितु सुझाव के लिए दिये गये सुझाव मात्र ही प्रतीत होते हैं।

दृष्टि की उदारता, सहृदयता एवं भाव के स्तर पर सामाजिक आकांक्षाओं के प्रति अपने दायित्वों के अनुभव का प्रमाण सूफी कवियों के मूल्यांकन में दिखाई देता है। शास्त्री जी भारतीय सन्दर्भों में इस्लाम और उसके अनुयायियों की कुछ ठोस जमीनी हकीकतों का बयान करते हैं। भारत पाकिस्तान के बँटवारे के बाद भारत में बसने वाले मुसलमानों की सोच का विश्लेषण करते हुए शास्त्री जी कुछ जरूरी सवाल उठाते हैं। ये सवाल यदि भारतीय संविधान की प्रतिज्ञाओं तथा बहुसंख्यक समाज में निहित स्वार्थों के कारण बोये जाने वाले प्रतिक्रियावादी नारों और मुहावरों से भी जुड़े होते तो विचार की पूर्णता का रास्ता कुछ और प्रशस्त हुआ होता। बहरहाल इस सवाल के साथ हिन्दी की सूफी काव्य परंपरा जिस शिद्दत से टकराती है उसका एक दिलचस्प विवरण शास्त्री जी देते हैं। वे सूफी काल को इस्लाम के भारतीयकरण के ऐतिहासिक प्रयास के रूप में देखते हैं और यह भी स्पष्ट करते हैं कि परम सत्य तक पहुँचने वाले अनेक सही रास्तों की भारतीय अवधारणा के अनुरूप सूफी कवियों ने 'एक ही सही रास्ते'

सौजन्य : R. S. Chitlangia Foundation, 113, Park Street, (North Block), 4th Floor, Kolkata-16

की कट्टरपंथी सोच को स्वीकार नहीं किया। जायसी की यह स्वीकृति महत्त्वपूर्ण है कि 'विधना के मारग हैं तेते, सरग नखत तन रोवाँ जेते।' शास्त्री जी की यह सोच ठीक ही है कि इन सूफी प्रेम कथाओं का प्रणयन सूफी भक्तों ने मुख्यतः सूफी प्रेम साधना की महिमा का प्रचार करने के लिए किया था, किन्तु इसी प्रक्रिया में उन्होंने मुसलमानों के हृदयों में हिन्दू जीवन के प्रति अनुराग और सद्भाव भी उत्पन्न किया।

हिन्दी आलोचना के विकास काल के साहित्यिक द्वन्द्वों का गहरा अनुशीलन कराते हुए विष्णुकान्त जी की 'चिन्तन मुद्रा' में कई निबंध हैं। जिनमें हिन्दी खड़ी बोली को काव्य भाषा के रूप में स्थापित करने के लिये किये जाने वाले प्रयासों का, उनके पीछे काम करने वाली दृष्टियों का तथा उन दृष्टियों एवं प्रयासों को गति एवं शक्ति देने वाली परिस्थितियों का विस्तार से वर्णन किया गया है। यह करते हुए शास्त्री जी की दृष्टि मूलतः भारतीय चिन्ताधारा के स्वाभाविक विकास की द्विवेदी जी की अवधारणाओं को सामने रखने की रही है। द्विवेदी युगीन आलोचना की मुख्य प्रवृत्तियों, उनके आंतरिक टकरावों और तनावों का भी यथासंभव विश्लेषण शास्त्री जी ने किया है, परन्तु इस समूचे परिदृश्य में समाज की अपनी अन्तरंग बनावट और उस पर पड़ने वाले बाह्य परिस्थियों के दबाव को समझने-समझाने की कोशिश कम दिखाई देती है। इस काल के प्रमुख आलोचकों का भी शास्त्री जी ने परिचय दिया है और उनकी मान्यताओं का भी विवेचन किया है। इस समय की आलोचना पर शोधार्थियों, विद्यार्थियों एवं जिज्ञासुओं के लिये सामग्री का समायोजन व्यवस्थित रूप से किया गया है। आम तौर पर साहित्य और आलोचना को फौरी कार्रवाई की तरह निबटाने वाले इस दौर में शास्त्री जी के दो निबंध— 'शास्त्रीयतावादी समीक्षक पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र' एवं 'भावुक समीक्षक शान्तिप्रिय द्विवेदी, अपवाद की तरह हैं। शास्त्री जी ने इन दोनों समीक्षकों का पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है और हिन्दी आलोचना की भाषा तथा अन्तर्वस्तु में इन आलोचकों के द्वारा किये गये योगदान का सटीक मूल्यांकन किया है।

आधुनिक कवियों—दिनकर और सर्वेश्वर की काव्य भंगिमाओं पर विचार करते हुए शास्त्री जी ने इन दोनों कवियों की कविता यात्रा के महत्त्वपूर्ण पड़ावों का मूल्यांकन किया है। दिनकर की कविता के रूई-सूत को धुनते हुए उनकी काव्य-यात्रा में जिन विचलन बिन्दुओं की ओर समय-समय पर आलोचकों ने इशारा किया है उनके कारणों की ठोस खोज-बीन की गयी है। उनकी कविता में जो उदात्त आवेग है, संवेदनशीलता की भावावेगी तरंगों पर लहराता हुआ जो निष्कलुष भारतीय हृदय है वह, दिनकर की कविता का प्रतिपाद्य है या एक गहरा पराजय बोध और पश्तहिम्मती का एहसास। इस दुविधा को शास्त्रीजी ने दिनकर के जीवन और उनके समय की परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट किया है। उनका मत है— 'दिनकर की कविताओं के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उनके भीतर की आग शूरता, प्रेम और भक्ति इन तीन प्रमुख दिशाओं की ओर उन्मुख करती रही है। फलतः शूर-प्रेमी और संत उनके प्रमुख काव्यिक आदर्श रहे हैं। आजादी के बाद की बदली परिस्थितियों के अध्ययन मनन द्वारा परिवर्तित अन्तर्राष्ट्रीय काव्यादर्शों से जुड़ने के प्रयास के फलस्वरूप उन्होंने भावावेग से लिखी कविताओं के स्थान पर बुद्धिप्रेरित कविताओं का सृजन किया था, कुछ व्यंग्य भी लिखे थे। किन्तु भीतरी मन का योग न होने के कारण उनकी ऐसी कविताएँ बहुत सफल नहीं हो पाई।' शास्त्रीजी का मानना है कि दिनकर की कविता में जो कहीं-कहीं पश्चात्ताप का स्वर है, विवशता का स्वर है, वह वास्तविक जीवन और काव्यगत आदर्श के द्वैत से आया है और इसकी तीखी कसक भी उनकी कविता में सर्वत्र विद्यमान है। शास्त्री जी का निष्कर्ष है कि मूल कथ्य और अपनी प्रतिबद्ध निष्ठा के कारण दिनकर 'विभापुत्र' कवि ही हैं।

सौजन्य : R. S. Chitlangia Foundation, 113, Park Street, (North Block), 4th Floor, Kolkata-16

सर्वेश्वर की काव्य शक्ति का, उनकी कविता में व्यंग्य की चेतना का सटीक विश्लेषण भी शास्त्री जी ने किया है। यह विश्लेषण उनकी दृष्टि की पूर्णता एवं साहित्य की निरंतरता की चिन्ता का प्रमाण है। आहत दुर्बलता के स्वाभिमान के कवि के रूप में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविताओं का मूल्यांकन करते हुए रचनाओं के साथ लेखक का सलूक आत्मीयता और अंतरंगता का है। शास्त्रीजी क्योंकि मूलरूप से भावुक भक्त और संवेदनशील व्याख्याकार हैं इसलिये यह स्वाभाविक ही है कि उन्होंने सर्वेश्वर की कविताओं में उनके व्यक्तिगत जीवन की छवियों, आशाओं एवं आकांक्षाओं का पता खोज लिया है। शास्त्रीजी जैसे व्याख्याकार के लिये ही यह संभव है कि वे सर्वेश्वर की कविताओं का मूल्यांकन करते हुए तुलसीदास और सूरदास की कविताओं की याद दिला जाते हैं। यह उनके बहुपठित होने के साथ ही हिन्दी कविता की पूरी परम्परा के साथ गहरी संलग्नता और दिलचस्पी का प्रमाण है। यह विशेषता आलोचना में इधर दुर्लभ होती जा रही है। शास्त्रीजी ने आधुनिक हिन्दी कविता के पाठकों से कटते जाने पर भी गम्भीरता से विचार किया है और यह स्वीकार किया है कि हिन्दी का कवि अपने समुदाय के भाषा-बोध, विचार बोध और भाव बोध से अलग होकर पश्चिमी समुदाय की आधुनिक सोचों से लगातार ज्यादा प्रभावित/आतंकित होता गया। हमारे समाज को पीछे छोड़कर खुद बहुत आधुनिक बन जाने के मोह के कारण हमारे नये साहित्य और समाज में आये हुए विच्छेद को घातक मानते हुए शास्त्री जी इस स्थिति से उबरने के लिये कतिपय महत्त्वपूर्ण सुझाव भी देते हैं। लगातार पाठकों से दूर होती जा रही कविता की चिन्ता तो प्रायः सभी आलोचकों ने व्यक्त की है, कुछ ने पुस्तकों के मूल्य को तो कुछ ने प्रकाशकों को जिम्मेदार माना है। शास्त्रीजी ठीक ही लक्ष्य करते हैं कि इधर का अधिकांश साहित्य रचा ही नहीं जा रहा है, पाठकों के लिए। इस दिशा में प्रयोगवादियों की घोषणा है कि वे सामान्य की, सबकी चिन्ता ही नहीं करते, वे तो अपने विशिष्ट अनुभवों को प्रयोग के तौर पर व्यक्त कर रहे हैं। इस धारा की इस विशिष्ट सोच ने इस दूरी को बढ़ाने में काफी योगदान किया है। बहरहाल शास्त्री जी का मानना है कि अपनी जनता और परम्परा से गहरे रूप में जुड़कर और उसे यथासंभव अपने साधनों से अपनी प्रणाली से आधुनिक बनाने के प्रयास में रत रहकर ही हम वास्तविक आधुनिक काव्य की रचना कर सकेंगे। उसे नकार कर या उससे मुँह चुराकर अर्थात् अपने सामाजिक वस्तुगत आधार से कटकर किसी विदेशी साहित्य धारा से जुड़कर केवल उसकी उधार ली हुई संवेदनशीलता के सहारे हम ऐसे आधुनिक काव्य की रचना नहीं कर सकते जो व्यापक रूप से संप्रेषणीय भी हो।

विष्णुकान्तजी की चिन्तन मुद्रा लिखने, छपवाने, चर्चा करवाने और इस तरह विशिष्ट बनने की मुद्रा नहीं है। उनकी चिन्ताएँ उनके सामाजिक सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय सरोकारों की चिन्ताएँ हैं, सचमुच वे एक सहज, भाव केन्द्रित संवेदनशील सहिष्णु भारत के निर्माण के आकांक्षी हैं। भाषा और साहित्य को वे एक महत्त्वपूर्ण अवयव मानते हैं मनुष्य के निर्माण के लिए, हृदय के विकास के लिए। आचार्य शुक्ल की विचार सरणि उनके लिए प्रेरक तत्त्व है इसलिए वे अपनी दृष्टि से, अपने समाज के लिए जरूरी दृष्टि से, शेष दुनिया को देखते हैं। वे प्राचीनतम रचना से लेकर नवीनतम रचना तक के सहृदय पाठक हैं, इसलिए उनकी आलोचना में हमारे साहित्य की पूरी परम्परा अपनी पूरी दीप्ति के साथ विद्यमान है। ●

सौजन्य : R. S. Chitlangia Foundation, 113, Park Street, (North Block), 4th Floor, Kolkata-16

दुर्गा व्यास

'स्मरण को पाथेय बनने दो'

अभिभूत करने वाली कृति

वैदिक ऋषियों जैसी कद-काठी, ऐनक के पीछे से नेह बरसाते नैन, उन्मुक्त हास्य के साथ आशीर्वाद में उठे हाथ, श्रीमुख से उच्चरित उत्साहपूर्ण शब्द 'अच्छा काम कर रहे हो' तथा वैदुष्य से आभा-मण्डित व्यक्तित्व, सबकुछ प्रेरणास्पद। हृदय जिन्हें 'गुरुवर' मान बैठता है, मस्तक स्वयं ही जिनके समक्ष नत हो जाता है, जिन्हें सुनने की ललक कार्यक्रमों में जबरन खींच लाती है तथा जिन्हें देखते ही चरण-स्पर्श करने को मन चंचल हो उठता है और उन्हीं के शब्दों में कह उठता है— 'हे राम (गुरुवर) तुम्हारे चरण प्रेरणा स्रोत हमारे।' ऐसे हैं आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री। ये जीवन पथ पर चलते-चलते जो कुछ लिखते गये वह पाथेय बनता गया मुझ जैसे कइयों के जीवन का; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार विद्वत्जनों के संसर्ग की स्मृति गुरुवर का पाथेय बनी।

१९७७ में हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी द्वारा प्रकाशित एवं ७८-७९ में हिन्दी संस्थान, उत्तर प्रदेश द्वारा पुरस्कृत उनकी पुस्तक 'स्मरण को पाथेय बनने दो' पढ़कर आश्चर्य हुआ कि यह प्रभावशाली व्यक्तित्व कितने अद्भुत व्यक्तित्वों के संसर्ग, संपर्क एवं कितने परिवेश जनित प्रभावों से निर्मित हुआ है। कितनी उर्वरा रही है शास्त्री जी की मनःभूमि जहाँ कोई भी बीज-वपन हुआ तो पल्लवित-पुष्पित हो गया। स्वयं गुरुवर का कथन है—'चेतन तो निकट सम्पर्क में आने वालों से भावात्मक आदान-प्रदान करता हुआ ही जीवन पथ में आगे बढ़ता जाता है। जिस व्यक्ति या परिवेश से अन्तर समृद्ध हुआ हो उसे रह रह कर मन याद करता ही है .....मेरी कलम अपनी उन स्मृतियों को लिपिबद्ध करती रही है, जिनसे मुझे बल मिला है, रागात्मक ऐश्वर्य मिला है।'

आचार्य शास्त्री जी की आलोच्य पुस्तक ने उनके संस्मरण-लेखन एवं यात्रावृतान्त को प्रतिष्ठा प्रदान की है। जिन लोगों के साथ भी शास्त्री जी मिले आत्मीयता के साथ एवं दिल खोल कर मिले, चाहे वह मिलन दो घण्टे का हो, दो दिन का, दो वर्ष का या फिर उम्रभर का। चाहे वह चार दिन की परिचित मीलू हो या निराला एवं पंत जैसे प्रतिष्ठित कवि, स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती हों या उनकी लाडली भारती। तभी तो वे जान पाये उन सबके भीतर-बाहर को, उनकी खूबियों-खामियों को, अभिभूत हो पाये उनके स्नेह और प्रेम से, उनके संकोच और अधिकार से तथा संजो पाये वे स्मृतियाँ जिनसे शास्त्री जी का मानस सँवर पाया।

इस पुस्तक में वर्णित प्रायः सभी चरित्रों से हिन्दी जगत् परिचित है किन्तु परिचय का जो रूप आचार्य शास्त्री की कलम से अंकित हुआ है, उससे तो दृष्टिकोण ही बदल जाता है, सबके साथ एक डोर सी बँध जाती है, रिश्ता निर्मित हो उठता है। किसी के स्वरूप का वर्णन है तो इतना सजीव, मानो व्यक्ति हमारे समक्ष ही हो। स्वभाव का वर्णन है तो इतना सत्य मानो शब्द प्रतिबिम्ब बन गये हों, उस व्यक्ति का अन्तर्मन मुखरित हो गया हो और उसकी रुचियाँ उजागर हो गई हों। शास्त्री जी की शब्द-रश्मियाँ मानो उसके जीवन का रहस्यभेदन कर रही हों।

सौजन्य : R. S. Chitlangia Foundation, 113, Park Street, (North Block), 4th Floor, Kolkata-16

'व्यक्ति जो मन बसे' शीर्षक से उन्होंने ऐसे संस्मरण लिखे हैं जिनका साहित्यिक महत्त्व तो है ही पाठकीय महत्त्व भी है। पुस्तक एक बार हाथ में आ जाती है तो बिना पूरी पढ़े शान्ति नहीं मिलती। निराला जैसे महान कवि के सान्निध्य से जो अनुभूति लेखक को हुई उसकी श्रद्धापूर्वक भावात्मक अभिव्यक्ति करते हुए उन्होंने कहा—'उस साकार काव्य-गंगा का पावन दर्शन, स्पर्श और प्रसाद पाकर मेरा प्रयाग-प्रवास सार्थक हो गया।' पंत को नवयुग का स्वप्नदृष्टा कवि कह कर निराला से तुलना करते हुए एक को तरंगायित शक्ति सिन्धु और दूसरे को ज्योत्स्नामण्डित स्वर्णनिर्झर बताकर दोनों की आन्तरिक विशेषताओं को परिभाषित सा कर डाला। श्रेयस सन्धानी कवि पन्त की दिव्य आस्था को केवल अपने को ही नहीं सम्पूर्ण युग को कल्मष मुक्त करने की प्रेरणादायिनी माना।

'अविरोध की साधना के मूर्त रूप आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी' के बारे में जब शास्त्री जी लिखते हैं—'उनके साथ गपशप करना तो रसमय ज्ञान की फुहारों से अभिसिंचित होना है। लतीफों एवं कहकहों के प्रवेग में उदासी और निराशा न जाने कहाँ बह जाती है।' तो लगता है जैसे वे स्वयं अपने बारे में ही लिख रहे हों। स्मरण हो आते हैं वे दिन जब विश्वविद्यालय में ट्यूटोरियल कक्षाओं को गुरुवर गपशप की कक्षा बताते थे और विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का कविताओं से, लतीफों से एवं सरलता से दिये गये उपदेशों से अनजाने में ही निर्माण कर देते थे। 'धुरि प्रतिष्ठा के अधिकारी विश्वनाथप्रसाद मिश्र' की छात्र-वत्सलता से भी आचार्य शास्त्री अत्यधिक प्रभावित हुए तथा उसे सहर्ष अंगीकार किया। उनकी प्रत्युत्पन्नमति, व्यञ्जना शैली, बनारसी मस्ती, श्रद्धापूरित अन्तर एवं बुद्धिदीप्त वाणी की सजीव व्याख्या से लगता है कि पाठक मिश्र जी के साथ पूरा एक दिन बिता आया हो।

ज्ञान एवं भक्ति के संगम स्वामी अखण्डानन्द जी के प्रति अपनी श्रद्धा और आस्था प्रगट करने में लेखक जितना सक्षम है उतना ही स्पष्ट है अपने गुरु ललिताप्रसाद सुकुल के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने में भी, जिन्होंने अपने चुभते श्लोकों, कविताओं और शेरों आदि से शास्त्री जी को अभिभूत और प्रेरित किया। २०-२१ वर्षों की अवधि में कई बार सम्पर्क में आये तुलसी मर्मज्ञ संत बलदेवप्रसाद मिश्र से प्रभावित होकर लिखी पंक्तियों—"कथनी और करनी में इतनी निकटता बहुत कम लोगों में मिलती है। उनके मर्यादापूर्ण आचरण में उनके विश्वासों की सुगन्ध रहती थी।" मिश्र जी के सम्पूर्ण जीवन का पूर्णतया प्रतिबिम्बित करने में सक्षम हैं।

इन सबके अतिरिक्त कहीं परवेश शाहिदी के उतार-चढ़ाव एवं वफ़ादारीपूर्ण जीवन सफ़र के साक्षी बने तो कहीं नारायण गंगोपाध्याय के मृत्यु संवाद से विद्रोही हो उठे— ऐसा हो ही नहीं सकता कि हम सबके स्नेह-सम्मान के भाजक चले गये थे। किन्तु अपनी रचनाओं में साहित्यकार सदा जीवित रहता है, ऐसा लेखक का दृढ़ विश्वास है।

जीने के गीत गाने वाले बच्चन जी को रचनाओं के माध्यम से जितना जाना उतना व्यक्तिगत रूप से नहीं। 'अर्पित तुमको मेरी आशा और पिपासा और निराशा' लिखने वाले कवि की ये रचनाएँ उनकी साँसों से विनिर्मित हैं, वाह-वाही लूट लेने के सुविदित नुस्खों और लटकों से नहीं।" शास्त्री जी की यह उक्ति और सम्पूर्ण संस्मरण बच्चन जी के प्रति हृदय को आत्मीयता से ओतप्रोत कर देता है।

'समुद समाना बूँद में' शीर्षक संस्मरण के प्रथम अनुच्छेद में ही लेखक अमृतलाल नागर का पूरा परिचय मिल जाता है तो द्वितीय अनुच्छेद में उनके स्वरूप का। उनके सम्पूर्ण जीवन को, उनके अन्दर-बाहर को कागज पर उतार कर रख दिया है शास्त्री जी ने। 'लहरों के राजहंस' मोहन राकेश का आत्म-सम्मान, लेखन क्षमता,

सौजन्य : R. S. Chitlangia Foundation, 113, Park Street, (North Block), 4th Floor, Kolkata-16

आत्मीयता, रौबदार व्यक्तित्व एवं जीने के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण सबकुछ संस्मरण को पढ़कर जाना जा सकता है। राकेश जी के जीवन की मनोरम झाँकी मानो चलचित्र की तरह आँखों के सामने से गुजर जाती है। धर्मवीर भारती का साहसपूर्ण, मस्ती एवं चुहल बाजियों से भरा संस्मरण तो 'अन्धायुग' के गम्भीर लेखन को पाठक का एक अन्तरंग मित्र ही बना देता है। 'अखिल जीव वत्सल निर्मत्सर' सम्बोधन से कर्मयोगी सीताराम सेकसरिया पर लिखा संस्मरण उनकी मृदु, हँसमुख, स्नेही, विनीत, दृढ़ एवं धुन के पक्के अनथक कार्यकर्ता की छवि को पाठक के मन पर अंकित कर देता है।

चार दिनों के लिए सम्पर्क में आई मीलू के स्निग्ध सौन्दर्य के प्रभाव वर्णन से कुमारी जी व्यूरो का मधुर परिचय तो मिलता ही है आचार्य शास्त्री के सुन्दर युवा मन एवं स्वच्छन्द मित्रता का आदर्श स्वरूप भी उभर कर सामने आता है। इकलौती बिटिया भारती के बचपन के संस्मरण में युवापिता की आकांक्षाओं का ज्वार उमड़ता नजर आता है तो राष्ट्रकवि की उद्धृत पंक्ति 'भगवान भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती' में पितृ-वात्सल्य छलकता है जिसकी अनुगूँज प्रत्येक पाठक को द्रवित कर सकती है।

पुस्तक का दूसरा खण्ड है–'दृश्य जो उभरे दृगों में' जिसमें कश्मीर, वैष्णोमाता, जम्मू, मसूरी, नैनीताल, रानीखेत, दार्जिलिंग, नक्सलबाड़ी, कामाख्या, उड़ीसा एवं एन.सी.सी. शिविर का वर्णन है। परिवार के साथ, मित्रों के साथ या फिर अकेले ही किये गये भ्रमण लेखक के यात्रा वृतान्तों में साकार हो उठे हैं। पाठक भी उनके साथ रमणीक रास्तों में, हरे-भरे सुन्दर परिवेश में, कच्ची कोमल ताजी बर्फ में, फूलों के मैदानों में, हिमालय के आंगन में, उदार स्निग्ध चाँदनी में, आस्था एवं सांस्कृतिक चेतना के प्रतीक मन्दिरों में, डल झील के शिकारे में और नैनीताल के नौका-विहार में शामिल होकर लेखक की इस उक्ति का समर्थन कर उठता है— 'जलाशय हो, पहाड़ हो, शान्त निस्तब्ध वातावरण हो तो कोई केवल जड़ यथार्थ के स्तर पर कैसे रह सकता है।' शास्त्री जी द्वारा प्राकृतिक सौन्दर्य से अभिभूत होकर कही गई पंक्तियाँ — 'सामने की हिमधवल गिरि-श्रृंखला धूप से सुनहरी हो उठी थी, पहाड़ी रास्ते की मोहकता उसकी दुर्गमता को भी आकर्षक बना देती है।' किसी भी व्यक्ति को पहाड़ी-यात्रा का निमन्त्रण दे सकती है।

सबसे महत्त्वपूर्ण है सभी संस्मरणों एवं यात्रा-वृतान्तों की सच्चाई, जिसमें लेखक का व्यक्तिगत भाव-स्पर्श है, अनुभव-गंध है एवं पाठक को आनन्दित करने की क्षमता है। पुस्तक पढ़कर समाप्त की तो लगा कि वर्णित चरित्रों के साथ बैठ कर द्रवित हो रही हूँ तथा वर्णित स्थानों के सौन्दर्य से अभिभूत। यह तीव्र संप्रेषणीयता ही लेखक की क्षमता और सफलता का प्रमाण है। यह पुस्तक शास्त्री जी को एक उच्चकोटि का संस्मरणकार एवं यात्रावृत्त लेखक बनाने में समर्थ है। साहित्य की यह विधा उनकी लेखनी से निःसंदेह समृद्ध हुई है। ●

सौजन्य : R. S. Chitlangia Foundation, 113, Park Street, (North Block), 4th Floor, Kolkata-16

डॉ० अनिल कुमार शुक्ल

'अनुचिन्तन'

अनुचिन्तन का चिन्तन

हिन्दी के वर्त्तमान परिदृश्य में आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री एक प्रमुख लेखक के रूप में प्रख्यात हैं। उनके व्यक्तित्त्व के विविध पक्षों की मुखर अनुशंसा होती है। शास्त्रीजी ने साहित्य का विशद विवेचन ही नहीं, उसका मार्मिक सृजन भी किया है। 'अनुचिन्तन' उनके विचारपरक निबन्धों का मानक संकलन है। इसका प्रकाशन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के जन्मशती वर्ष के उपलक्ष्य पर मराठवाड़ा विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के सौजन्य से हुआ है। इसके आरम्भिक पाँच निबन्ध विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की योजनानुसार आयोजित विभिन्न संगोष्ठियों में दिये गये व्याख्यानों या आलेख-पाठों से सम्बन्धित हैं। अन्तिम तीन निबन्धों का सन्निवेश पृथक रूप से किया गया है, जो पुस्तक के महत्त्व और संयोजन की दृष्टि से अत्यावश्यक प्रतीत होते हैं। सर्वथा मौलिक विषयों पर आधारित ये निबन्ध लेखक की सदाशयता और सहयोगीवृत्ति के परिचायक जान पड़ते हैं और पूर्व उल्लिखित निबन्धों के साथ वैचारिक धरातल पर समरसता का आभास कराते हैं।

प्रारम्भ में लेखक ने अपने मंतव्य का प्रकाशन करते हुए निवेदन किया है कि 'परिनिष्ठित विचारकों की चिंतन-सरणि को सुस्पष्ट करने की चेष्टा करना' उसका अभीष्ट है। प्रतिष्ठित विद्वानों के मौलिक चिन्तन को अपने व्यक्तिगत चिन्तन का उपजीव्य बनाना ही 'अनुचिन्तन' की सार्थकता और उसके महत्त्व को द्योतित करता है। मौलिकता के नाम पर किये जाने वाले निर्मूल चिन्तन को लेखक हेय समझता है। औरों की तो बात ही क्या, स्वयं शुक्लजी का विनम्र अनुयायी होने के बावजूद, वह उनकी कतिपय स्थापनाओं को संशोधन सापेक्ष्य मानने में संकुचित नहीं होता।

पुस्तक के पहले निबन्ध 'लोक-मंगल और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' में लेखक ने शुक्लजी की लोकमंगल संबंधी साहित्यिक अवधारणा का गहन विवेचन किया है। शुरू में शुक्ल जी की कृतियों से तीन उद्धरण दिये हैं, जिनमें उनके लोकमंगल संबंधी आदर्श के प्रमुख सूत्र निहित हैं। तत्पश्चात् उनके शब्द-प्रयोगों की विशेषता के प्रकाश में 'लोक-मंगल' शब्द के निहितार्थ को स्पष्ट करते हुए लेखक का यह कहना पूरी तरह संगत लगता है कि 'लोक-मंगल' के दोनों अंशभूत शब्द लोक और मंगल आचार्य शुक्ल को भारतीय परंपरा के प्रवाह से प्राप्त हुए थे। इन दोनों शब्दों के भारतीय अर्थों के साथ-साथ पश्चिमी दर्शन और समाजशास्त्र के कुछ अर्थों का भी समावेश शुक्ल जी ने इन शब्दों में कर दिया है।' यह तथ्य विज्ञप्त है कि शुक्लजी ने पश्चिम के साहित्यशास्त्र का ही नहीं, अपितु ज्ञान-विज्ञान की अन्यान्य शाखाओं का भी व्यापक अध्ययन किया था। उनके लेखन में इस बहुज्ञता का उपयोग बड़े ही औचित्यपूर्ण ढंग से लक्षित होता है। शुक्ल जी के लोक-मंगल की दार्शनिक पीठिका और उसकी साहित्यिक प्रासंगिकता का लेखक ने बड़ा ही युक्तियुक्त निरूपण किया है। प्रसंगवश, उसने यह भी स्वीकार किया है कि अपने इस सिद्धान्त के आत्यांतिक आग्रह के चलते शुक्ल जी हिन्दी साहित्य की कतिपय काव्यधाराओं और कवियों के साथ उचित न्याय

सौजन्य : R. S. Chitlangia Foundation, 113, Park Street, (North Block), 4th Floor, Kolkata-16

नहीं कर पाये। बावजूद इसके लेखक की दृढ़ धारणा है कि शुक्लजी की मान्यताओं (जिनमें लोक-मंगल का केन्द्रीय महत्त्व है) के विवेकसम्मत अनुसरण से ही हिन्दी की साहित्यालोचना का पथ प्रशस्त हो सकता है। इस सन्दर्भ में शुक्लोत्तर आलोचना के तीन कृती आलोचकों— नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी और राम विलास शर्मा के उद्धृत अभिमतों से लेखक की धारणा की ही पुष्टि होती है।

हिन्दी में अन्य भाषाओं (विशेषतः संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी) में अनुवाद का चलन 'द्विवेदी युग' से जोर पकड़ने लगा था, पर उसका कोई सुनिश्चित स्वरूप नहीं था, और लक्ष्य भी प्रायः अनिर्दिष्ट बना हुआ था। हिन्दी की भाषा-प्रकृति और विचार-पद्धति की ओर अनुवादकों का ध्यान बहुत कम ही जा पाता था। कदाचित् इन्हीं सब कारणों से शुक्ल जी को अनुवाद के क्षेत्र में उतरना पड़ा। "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'शशांक' के अनुवादक के रूप में" शीर्षक अपने समीक्षात्मक निबन्ध में लेखक ने शुक्लजी के अनुवाद-कार्य के महत् प्रयोजन और उसकी विशिष्ट मान्यताओं पर बड़ा ही सार्थक प्रकाश डाला है। हिन्दी के भावी उपन्यासकारों का पथ प्रशस्त करने के उद्देश्य से ही शुक्लजी ने विख्यात इतिहासविद् राखालदास बंद्योपाध्याय के सुप्रसिद्ध बंगला उपन्यास 'शशांक' का हिन्दी अनुवाद किया था। इस तथ्य को सुस्पष्ट करते हुए लेखक ने मूल बंगला पाठ के आधार पर शुक्लजी के अनुवाद की विवेचना द्वारा यह साबित कर दिया है कि अधिकांश प्रसंगों में मूल से कहीं अधिक रम्यता उसके अनुवाद में आ गई है। कुछेक स्थलों पर शुक्लजी के अनुवाद से उसे पूरा संतोष नहीं हो पाया, जिसका सटीक स्पष्टीकरण उसकी सजग दृष्टि और निष्पक्ष विवेचन का परिचायक है। इसी प्रकार शुक्लजी की अनुवाद-कला की स्वच्छन्द शैली के अनुरूप उपन्यास के मूल कथानक में हुए फेरबदल तथा उसकी अननुवादित भूमिका को लेकर लेखक का असंतोष मुखरित हुआ है निस्सन्देह, अनुवादक की सीमा का अतिक्रमण सामान्य तौर से अवांछनीय माना गया है। सम्भवतः शुक्ल जी अनुवाद-क्षेत्र में भी अपने उन्मुक्त चिन्तन और व्यावहारिक दृष्टिकोण का आदर्श प्रस्थापित करना चाहते थे। इसलिये उनके उपरोक्त परिवर्त्तनों का सकारात्मक मूल्य कम नहीं होता। वैसे लेखक ने प्रस्तुत अनुवाद की प्रशस्ति में कमी नहीं छोड़ी। इस क्रम में पग-पग पर उसकी चिन्तन-निष्ठा और गहन अध्ययन लक्षित होता है। विषय-वस्तु की नवीनता और बंगला भाषा में लेखक का कुशल अनुप्रवेश भी कम उल्लेखनीय नहीं है।

अन्य दो विचारपरक निबंधों— 'आधुनिक हिन्दी कविता और छंद' तथा 'काव्य का वाचिक संप्रेषण' में व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों प्रकार की समीक्षाओं का समन्वय मिलता है। छंदों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों के प्रकाश में कई पीढ़ी के कवियों का रचनात्मक विवेचन बड़ी सफलता से किया गया है। छन्दों का अवमूल्यन और वाचिक संप्रेषण में ह्रास होना, आधुनिक हिन्दी कविता के पीड़क प्रसंग हैं। परिवर्तन की स्वाभाविक प्रक्रिया के प्रति अज्ञेय जी को भी यह पीड़ा सालने लगी थी। अज्ञेय जी की यत्किंचित अभिप्रेरणा से ऊर्जस्वित शास्त्री जी ने शुक्ल जीकी विचार-सरणि का अनुगमन करते हुए, काव्य-साहित्य से जुड़े उक्त विषयों पर बड़े ही स्वस्थ, सुचिंतित और सार्थक मत व्यक्त किये हैं। लेखक के ये विचार काव्य में छंदों के औचित्यपूर्ण प्रयोग और उसके वाचिक संप्रेषण की प्रयोजनशीलता को रेखांकित करते हैं।

आधुनिक या समसामयिक कविता की छन्द-योजना का विस्तृत विवेचन करने के पूर्व-लेखक ने 'छंद' शब्द के व्युत्पत्तिपरक आशय और उसकी सुदीर्घ परम्परा का परिज्ञान कराया है। आधुनिक युग का 'मुक्त छन्द' उसकी विवेचना का प्रधान केन्द्र बिन्दु है। मुक्त छन्द के अतिशय प्रयोग की चरम परिणति छन्दविहीनता के रूप में प्रकट हुई।

सौजन्य : साधुराम बंसल, शिव बाई बंसल चैरिटेबल ट्रस्ट, २३ए, नेताजी सुभाष रोड, कोलकाता-१

छन्द या लय से विवर्जित जो कविता 'गद्य कविता' की संज्ञा से अभिहित हुई, उसके बारे में लेखक ने उचित ही कहा है, कि 'इसे.....मुक्त छंद कहा भी जाये या नहीं, यह प्रश्न भी उठ सकता है। पर फिलहाल ऐसी रचनाएँ भी मुक्त छंद के नाम से चल रही हैं।' मुक्त छन्द को सामयिक कविता का अभिन्न अंग मानते हुए लेखक ने उसके अन्तर्गढ़ रूपों और बेतुके प्रयोगों का उचित प्रत्याख्यान किया है। अपनी अवधारणा की पुष्टि के लिए लेखक ने अनेक देशी और विदेशी विद्वानों की मान्यताओं के प्रामाणिक उद्धरण दिये हैं। छन्द सम्बन्धी चिन्तन का यह उपक्रम हिन्दी की भावी कविता का पथ सम्यक् रूप में प्रशस्त करने वाला है, इसमें सन्देह नहीं। इससे छन्दों के निर्वासन, कम से कम उनकी दुर्गति पर आवश्यक अंकुश तो लगेगा ही, साथ में नवीन छन्दों का प्रवर्तन होना भी तय है। अतः लेखक की यह उक्ति अधिक समीचीन जान पड़ती है कि 'मुक्त-छन्द का सदुपयोग करते हुए भी छन्दों के सम्बन्ध में नये सिरे से चिन्तन और प्रयोग करना मुझे समकालीन कविता की बहुत बड़ी आवश्यकता प्रतीत होती है।'

कविता के वाचिक संप्रेषण का मसला भी छन्दों से ही जुड़ा हुआ है। छन्दों के प्रयोग में इतनी अराजकता पैदा हुई कि इसमें नियमित लय-विधान, नाद-सौन्दर्य अथवा संगीतात्मकता का अकाल सा पड़ गया। आजकी अधिकांश कविता श्रव्यात्मकता की अनिवार्य शर्त के रूप में खरी नहीं उतरती। कविता का वाचिक संप्रेषण उसकी रचना-प्रक्रिया को सीधे प्रभावित करता है। उत्कृष्ट रचनाएँ सहज संप्रेष्य होती हैं और जनसाधारण से भी आत्मीय सम्बन्ध बनाने की पात्रता रखती हैं; जबकि वाचिक संप्रेषणहीनता की शिकार रचनाएँ एक खास घेरे तक ही सिमटकर रह जाती हैं और यथाशीघ्र बासी पड़ने लगती हैं। आधुनिक कविता की अधोगति को रोकने के लिये वाचिक संप्रेषण का माध्यम हमारी प्राथमिक आवश्यकता हुई है।

लेखक शास्त्रीजी का दृश्य-काव्य नाटक से भी घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। श्रव्य-काव्य की परख करने में उन्हें महारत हासिल है और उसके प्रति उनका अनुराग तो जग जाहिर हो चुका है। अपने द्वारा रचित कविताओं का संग्रह प्रकाशित हो जाने के बाद भी वे स्वयं को कवि मानने के लिये तैयार नहीं है। इससे यह अंदाजा तो लगाया ही जा सकता है कि वे कवि-कर्म को कितना ऊँचा दर्जा देना चाहते हैं। दृश्य-काव्य नाटक का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया है। उसकी विकास प्रक्रिया और अभिमंचन की विधियों से भली-भाँति परिचित हैं। कोलकाता के सुप्रसिद्ध हिन्दी रंगमंच 'अनामिका' का अधिष्ठाता और अध्यक्ष होने का गौरव भी उन्हें प्राप्त है। नाटक की विकास प्रक्रिया और उसके अद्यतन रूपों का जो सूक्ष्म विवेचन 'अन्तरंग रंगमंच' शीर्षक निबन्ध में दिखाई पड़ता है, वह बड़ा महत्त्वपूर्ण है। महत्त्वपूर्ण है इस लोकप्रिय विधा को खर्चाडम्बर से बचाने की उनकी अपील, जो बंगला के नाटकों में बादल सरकार के कुशल नेतृत्व में 'अंगन मंच' के रूप में सफलतापूर्वक क्रियान्वित हुई। हिन्दी में भी इसकी कोशिश हुई, पर अपेक्षा से बहुत कम। यह निबन्ध इस विधा के अध्येयताओं का मार्ग-दर्शन करने में समर्थ है।

शुक्लेतर विवेचन से जुड़े अन्य तीन निबन्धों में 'महाराणा प्रताप : आधुनिक हिन्दी साहित्यकारों की दृष्टि में' नामक निबन्ध का विवेचन अधिकतर विवरणात्मक है। इसमें महाराणा प्रताप पर केन्द्रित हिन्दी की विपुल सामग्री का संचयन है, जो इस विषय पर शोध-प्रबन्ध लिखने के लिये भी उपयुक्त हो सकती है। लेखक की मान्यता है कि राष्ट्रीय गौरव को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये प्रताप जैसे बलिदानियों की चेतना का सतत प्रवाह साहित्य में होना आवश्यक है। "मोतियों की हाट औ' चिनगारियों का एक मेला" निबन्ध में महादेवीजी के काव्य का व्यावहारिक धरातल पर मूल्यांकन किया गया है। लेखक ने स्पष्ट कर दिया है कि गद्य की ही भाँति उनका पथ भी

सौजन्य : साधुराम बंसल, शिव बाई बंसल चैरिटेबल ट्रस्ट, २३ए, नेताजी सुभाष रोड, कोलकाता-१

जीवन के सुख-दुःख से यथार्थ रूप में जुड़ा हुआ है। यह ठीक है कि उनका प्रियतम अज्ञात पर अभीष्ट लक्ष्य का दर्शन पाने की स्वप्नेच्छा और आशा-प्रदीप जलाये रखने का प्रयत्न कभी शिथिल नहीं होने पाते। उनके स्वप्न-मिलन, आँसू, दीपक जैसे स्पष्ट प्रतीकों में जीवन की समग्रता का यथार्थ बोध अंकित है। उनके सुख और दुख इतने उत्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि उनमें 'मोतियों की हाट' और 'चिनगारियों का मेला' प्रत्यक्ष होने लगता है। निश्चय ही उनमें समष्टि का सुख-दुख भी मिला हुआ है, अन्यथा इन भावों की ऐसी चरम अनुभूति संभव न हो पाती। पता नहीं क्यों हिन्दी के कुछ आलोचक उनकी सीधी-सादी बातों को भी रहस्यवाद की लपेट में ले लेते हैं। आशय यह है कि महादेवी के काव्य के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता बनी हुई है और इस दिशा में लेखक का यह प्रयास छोटा ही सही पर बड़ा सारगर्भित और प्रेरक है।

हिन्दी की नवोन्मेषशालिनी कविता के छन्द-विधान और वाचिक सम्प्रेषण की मूल समस्याओं का विस्तृत विवेचन लेखक ने अपने दो अलग-अलग महत्त्वपूर्ण निबन्धों में किया है। संकलन के आखिरी निबन्ध 'नयी कविता में समसामयिक जीवन की झलक' में उसके वर्ण्य-विषय को चुनी हुई प्रतिनिधि रचनाओं के माध्यम से खंगालने का सफल प्रयास भी दृष्टिगोचर होता है। नयी कविता की विषय बहुलता से लेखक संत्रस्त नहीं होता, बल्कि उसका बढ़कर स्वागत किया है। पर विषयों के चयन और प्रवर्तन से वह गंभीर रूप में असन्तुष्ट दिखाई देता है। भोगे गये यथार्थ की आहट चाहे जैसी सुनाई पड़े; उसके भरोसे साहित्य की वैतरणी को पार करना आसान काम नहीं। इसी क्रम में लेखक ने शब्दों के अवमूल्यन पर भी उचित गौर फरमाया है। वह चारों ओर से हैरान और निराश प्रतीत होता है। पर उसकी दृढ़ आस्था उसे टूटने से बचा लेती है। अपनी दृढ़ आस्था का अपने विवेचन के साथ उचित रूप में समन्वय करते हुए उसने लिखा है— 'आज का कवि विघटित होते हुए मूल्यों को न तो अपना समर्थन दे पाता है, न नये मूल्यों का निर्माण ही कर पाता है। रास्ते पर दूसरे का पड़ा हुआ सत्य उसे उठाना स्वीकार नहीं और अपने पास भ्रांति के अतिरिक्त और कोई आधार नहीं। किन्तु इस पुराने देश की परंपरागत आस्था नहीं, नहीं करते रहने पर भी कवियों को अपनी संजीवनी का स्पर्श देती ही है।' विवेचन का यह समन्वयवादी दृष्टिकोण लेखक चिन्तन का मूलाधार है। इस दृष्टि से 'अनुचिन्तन' का चिन्तन पूरी तरह सार्थक है। उसमें नये और पुराने का अद्भुत समन्वय हुआ है। साहित्य अपनी समन्वित शक्ति के बल पर ही आगे बढ़ता है। ●

अतिरिक्त : R. S. Chitlangia Foundation, 113, Park Street, (North Block), 4th Floor, Kolkata-16

सत्यकेतु सांकृत

'तुलसी के हिय हेरि'
गोस्वामी तुलसीदास पर केन्द्रित एक अपरिहार्य कृति

गोस्वामी तुलसीदास के साहित्य पर अब तक इतना अधिक लिखा जा चुका है कि उस पर कुछ 'नया' लिखने के लिए गहन अध्ययन के साथ आस्था और अटूट आत्मविश्वास भी अपेक्षित है। वैसे 'आत्मविश्वास का अतिरेक' प्रदर्शित करनेवाले लेखकों की कोई कमी हिन्दी में नहीं है, जो सामयिक स्थितियों से उत्तेजनाग्रस्त होकर, बिना सम्यक् रूप से विचार किए तुलसी साहित्य पर ऊलजलूल टिप्पणियाँ करते रहते हैं। यह अपनी ओर ध्यान आकृष्ट करने का एक तरीका तो हो सकता है, पर इसे विमर्श का मानक नहीं माना जा सकता। विष्णुकान्त शास्त्री तुलसी साहित्य के ऐसे समालोचक हैं, जिनकी गाँठ में अध्ययन की बहुमूल्य पूँजी भी है और उसे प्रस्तुत करने का आत्मविश्वास भी। तुलसी साहित्य में उनकी आस्था के सम्बन्ध में तो कोई प्रश्न ही नहीं किया जा सकता।

'तुलसी के हिय हेरि' में शास्त्री जी के तुलसी-साहित्य विषयक सत्रह निबन्ध संगृहीत हैं, जो समय-समय पर लिखे जाने पर भी पुस्तक में एक योजना का अहसास कराते हैं। इन निबन्धों में कहीं तुलसी को 'आधुनिकता की चुनौती' के बरक्स खड़ा किया गया है तो कहीं कबीर और तुलसी तथा तुलसी और रवीन्द्र में आन्तरिक साम्य दिखाने का प्रयास किया गया है। कतिपय आलोचकों ने यह भ्रम पैदा करने की कोशिश की है कि कबीर और तुलसी एक दूसरे के विलोम हैं और कबीर ने जाति-व्यवस्था को समाप्त करने का जो अभियान आरम्भ किया था उसे तुलसी ने ही पटरी से उतार दिया। यह निष्कर्ष भ्रामक ही नहीं, तथ्यहीन भी है। लेखक ने सटीक उदाहरणों और प्रबल तर्कों से इस विचार का खंडन किया है।

इस पुस्तक के कुछ निबन्धों में तुलसी के 'राम', तुलसी के 'दैन्य', उनके 'मनोरथ', उनकी 'तेजस्विता', उनके 'स्वान्तःसुखाय', उनकी विप्र और सन्त सम्बन्धी दृष्टि, चित्रकूट में उनकी साधना और उपलब्धि आदि का विवेचन किया गया है। कतिपय निबन्ध 'विनयपत्रिका' को केन्द्र में रखकर लिखे गये हैं, जिनमें 'मनोविजय की साधना', 'क्रिया और कृपा', 'भक्तिमूला प्रपत्ति' आदि का विवेचन किया गया है। एक निबन्ध में 'राम के नाम' का ही नहीं, उनके 'काम की महिमा' का भी बखान किया गया है। एक दूसरे निबन्ध में राम के 'आश्वासन' और तुलसी के 'माध्यम' का विवेचन किया गया है। एक अन्य निबन्ध में 'तुलसीदास की विचारणा' के कुछ बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है, तो एक निबन्ध में रामकथा की 'गूढ़ता' पर विचार किया गया है। इस प्रकार इन निबन्धों में इतना अधिक वैविध्य है कि तुलसी का सम्पूर्ण भक्त और कवि व्यक्तित्व प्रकाशित हो उठा है।

आधुनिकता के आईने में तुलसी को परखना स्वयं में एक चुनौती है और शास्त्री जी ने अपने पहले ही निबन्ध में इस चुनौती को चुनौती दी है। अधकचरे आलोचक तुलसीदास को मध्यकालीन सोच के प्रतीक पोंगापन्थी समझते हैं। शास्त्री जी ने पुष्ट और अकाट्य तर्कों द्वारा यह सिद्ध किया है कि तुलसीदास अपने समय से जुड़े रहने पर भी 'आधुनिक' हैं। लेखक की पहली मान्यता यह है कि 'अपनी आस्तिकता के कारण ही तुलसीदास आधुनिकों

उपलब्ध : R. S. Chitlangia Foundation, 113, Park Street, (North Block), 4th Floor, Kolkata-16

के लिए वर्ज्य नहीं ठहरते।' (पृ० १८)। उसके अनुसार 'तुलसी की श्रद्धा में बुद्धि का उन्नत रूप अन्तर्निहित है।' (पृ० १८) 'उनका श्रद्धा-विश्वास ज्ञान पर, अपरोक्ष अनुभव पर आधारित था, भेड़ियाधसान पर नहीं। परीक्षित, अनुभूत महत्त्व के प्रति श्रद्धा न रखना मनुष्यत्व से वंचित होना है।' (पृ० १९)। यह तथाकथित आधुनिकतावादियों के गाल पर जबरदस्त तमाचा है। तुलसीदास की दृष्टि में वास्तविक 'बुध' वही है जो विवेकी हो, जो रोष और राग से रहित, निर्मल बुद्धि-सम्पन्न हो। — 'बुध सो विवेकी बिमल मति जिनके रोष न राग।' शास्त्री जी प्रश्न करते हैं— 'कितने आधुनिक बुद्धिजीवी इस कसौटी पर खरे उतर सकते हैं, यह कहना मुश्किल है।' (पृ० २०)।

लेखक ने प्रचुर उद्धरणों की सहायता से यह प्रतिपादित किया है कि तुलसी ने 'श्रुतिधारी, नियम-धरम-अनुसारी, विरक्त, ज्ञानी, विज्ञानी, ब्राह्मण को तो भगवान का प्रिय और श्रेष्ठ बताया है, पर ज्ञानरहित, स्वधर्मभ्रष्ट, विषयलीन, पतित, 'श्रुतिबेचक' ब्राह्मणों को उन्होंने जितनी गालियाँ दी हैं उतनी कबीर ने भी नहीं दी हैं। लेखक का निष्कर्ष है कि "स्वतन्त्र भारत में अन्य समाजों की तरह हिन्दू समाज भी अपना सामाजिक विधान अपनी आवश्यकता के अनुरूप बदले, यह स्वाभाविक है। किन्तु क्या तुलसीदास के युग में यह सम्भव था ? तुलसीदास पर ब्राह्मणशाही स्थापित करने का आरोप लगानेवालों को इस पर विचार करना चाहिए। यह तथ्य भी उन्हें याद रखना चाहिए कि ब्राह्मण के प्रति श्रद्धा ज्ञापित करते हुए भी तुलसीदास ने आदर्श मानव के रूप में सन्त को ही प्रस्तुत किया है और उसे किसी जातिपाँति में सीमित नहीं किया।" (पृ० २२)।

तुलसीदास भाग्य पर पुरुषार्थ की विजय, व्यावहारिक जीवन में 'समय-निष्ठा', अपने समय की सीमाओं में समकालीन पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों के प्रति जागरूकता, मनुष्य जीवन के महत्त्व, योग्यतानुपाती न्याय, कर्म सिद्धान्त के तेजस्वी रूप आदि की स्वीकृति में तनिक भी आधुनिकता-विरोधी नहीं दीखते। शास्त्री जी स्वीकारते हैं कि 'तुलसीदास द्वारा समर्थित जन्मना स्थिर वर्ण-व्यवस्था, नारी की अतिशय नियन्त्रित भूमिका, राजतन्त्र, काल की चतुर्युगी चक्रवत् पुनरावर्ती धारणा, अतीत, (सत्ययुग) को ही श्रेष्ठ मानने के फलस्वरूप इतिहास को ह्रासोन्मुख संकल्पना जैसी बातें अब अमान्य हैं' (पृ० २८-२९)। पर 'ये और इन जैसी कुछ अन्य बातें तुलसीदास की विचारधारा के गौण अंश हैं।' (पृ० २९)। दूसरी तरफ श्रीराम (सगुण या निर्गुण) के प्रति समर्पित, सेवाप्रधान, परहित-निरत....उदार, परमतसहिष्णु, सत्यनिष्ठ, समन्वयी दृष्टि....गिरे हुओं को उठने और बढ़ने की प्रेरणा और आश्वासन, विवेकपूर्ण संयत आचरण, दारिद्र्यमुक्त, सुखी, सुशिक्षित, समृद्ध, समतायुक्त समाज— यही तुलसी का आदर्श है। क्या आधुनिकता इसको खारिज कर सकती है ? (पृ० २९)। यह चुनौती है लेखक की।

'तुलसी के राम' शीर्षक निबन्ध में शास्त्री जी ने 'तुलसी की भावना के अनुसार तुलसी साहित्य में चित्रित राम' का गम्भीर विवेचन किया है। उनके अनुसार "तुलसीदास के राम ज्ञानियों के ब्रह्म और भक्तों के भगवान के अद्भुत समन्वय हैं जो निशाचरों-अन्यायियों को नष्ट कर दीनों का दुःख हरने के लिए और भक्तों को सुख देने के लिए मानव रूप धारण करते हैं। (पृ० ३४)। 'राम का नाम' ही नहीं, 'राम का काम भी' शीर्षक निबन्ध में शास्त्री जी ने यह प्रतिपादित किया है कि मध्यकालीन भक्तों में तुलसीदास के समान बहुत कम विचारक थे जिन्होंने राम के नाम और काम दोनों पर जोर दिया हो। उनके अनुसार तुलसीदास के लिए कर्म-चेतना स्वतन्त्र न होकर भक्ति का अनिवार्य अंग है। तुलसीदास नाम-जप के प्रति श्रद्धालु होते हुए भी निष्क्रियता को नहीं, कर्म को अपने में समेट

सौजन्य : साधुराम संसल, शिव बाई संसल चैरिटेबल ट्रस्ट, २३८, नेताजी सुभाष रोड, कोलकाता-१

लेनेवाली भक्ति के प्रचारक थे। रामनाम जपते हुए राम के चरित्र से प्रेरणा प्राप्त कर राम के काम में जुटे हुए भक्तों का निर्माण करना ही तुलसीदास का उद्देश्य है। (पृ० ४९)। तुलसीदास को कुछ लोग दैन्य भाव का भक्त कवि मानते हैं। दैन्य भाव की उक्तियाँ तुलसीदास के काव्य में प्रचुर मात्रा में हैं भी। कभी-कभी यह भी जान पड़ता है कि तुलसीदास का दैन्य उनकी 'हीनताग्रन्थि' का उदात्तीकरण है। पर इस दैन्य की असली महत्ता यह है कि इसके सहारे तुलसी एक ओर संसार के व्यक्तियों के निकट अदीन और दूसरी ओर प्रभु के निकट कृपापात्र हो गये थे। लेखक की टिप्पणी है कि 'अहंकार को दूर कर जो एकनिष्ठ दैन्य मानव जीवन के चरम प्राप्य को सुलभ बना देता है, वह निश्चय ही महनीय है।' (पृ० ६३)।

'आश्वासन राम का : माध्यम तुलसीदास का' शीर्षक निबन्ध में शास्त्री जी ने सिद्ध किया है कि 'अपने प्रभु की व्यावहारिक लीला का अंकन करते समय तुलसीदास ने उन्हें इतना मानवीय, इतना आत्मीय बना दिया है कि छोटे से छोटे, पापी से पापी, अज्ञानी से अज्ञानी, असमर्थ से असमर्थ, दुःखी से दुःखी व्यक्ति भी बेहिचक, बेझिझक अपना दुखड़ा उन्हें सुना सकता है, उनका सहारा पा सकता है।' (पृ० ६६)। उनके अनुसार 'सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रभु भले समदर्शी हों किन्तु व्यावहारिक स्तर पर वे शक्तिशाली अत्याचारियों के मुकाबले में दुर्बल पीड़ितों का न केवल पक्ष लेते हैं बल्कि अत्याचारियों को कठोर दंड भी देते हैं।' (पृ० ६९)। लेखक का स्पष्ट विचार है कि "भक्ति साधना का सबसे विधायक पक्ष दीनहीन, पतित, उत्पीड़ित, निराश जनगण को वैयक्तिक और सामूहिक स्तर पर आश्वासन देना ही है।" (पृ० ६८)। समकालीन सन्दर्भ में यह आश्वासन कितना बल प्रदान करने वाला था, यह सहज अनुमेय है।

'तुलसीदास का मनोरथ' में शास्त्री जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'तुलसीदास और अन्य भक्त भी भगवद्भक्ति की एक विशिष्ट भूमिका पर पहुँच जाने पर प्रीतिविवश होकर भगवत् सम्बन्धी मनोरथ करने लगते हैं। ये मनोरथ उनकी भक्ति साधना को न केवल पुष्ट करते हैं बल्कि उसे उन्नततर भूमि पर अवस्थित कर देते हैं।' (पृ० ८०) लेखक के अनुसार तुलसीदास के अन्य मनोरथ हैं : निरन्तर परहित में निरत रहना, मन, कर्म, वचन की एकता का पालन करना, दूसरे के अपशब्दों को शान्तिपूर्वक सहना, अहंकार त्याग देना, मन में समता और शीतलता बनाए रखना, दूसरों के गुणों की प्रशंसा और दुर्गुणों की उपेक्षा करना, देहजनित चिन्ताओं को छोड़कर सुख-दुःख को समान समझ कर सहना, अहंकार त्याग देना.... आदि। स्पष्टतः इन मनोरथों में परिच्छिन्न अहंमूलक ऐन्द्रिय सुखभोगपरक मूल्यों की अवहेलना और सर्वहितमूलक सेवा तपस्यापरक मूल्यों की स्थापना की गयी है। (पृ० ८४)। 'तुलसीदास की विचारणा के कुछ विशिष्ट बिन्दु' में लेखक की यह धारणा व्यक्त हुई है कि तुलसीदास मूलतः भक्त कवि थे, अतः प्रथमतः उनकी विचारणा काव्य के अंग के रूप में अभिव्यक्त हुई है ; दूसरी तरफ मूलतः भक्त होने के कारण उनकी विचारणा का प्रमुख लक्ष्य 'भजनीय के एवं अपने अपने स्वरूप की अधिगति, भजनीय से अपने सम्बन्ध का निर्णय आदि है।' (पृ० ९६)। तुलसीदास की विचारणा पर विमर्श करते समय यह भी ध्यातव्य है कि वह भी 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' है। वैदिक विचारधारा के विविध पक्षों का अनुशीलन कर उन्होंने अपने लिए जिस समन्वित दृष्टि को स्वीकार किया है वह सम्प्रदाय निरपेक्ष और व्यापक है। तुलसीदास की मूल स्थापना है कि ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। जो निर्गुण है वही भक्तों के प्रेमवश सगुण हो जाता है। तुलसीदास की एक और विशिष्ट स्थापना यह है कि ब्रह्म का निर्गुण रूप अत्यन्त सुलभ है किन्तु उसके

सौजन्य : खण्डूजा बंसल, शिव बाई बंसल चैरिटेबल ट्रस्ट, २३८, नेताजी सुभाष रोड, कोलकाता-१

सगुण रूप को कोई जान ही नहीं पाता। तुलसी की यह स्थापना सामान्य मान्यता के प्रतिकूल है। पर तुलसीदास मानते हैं कि ब्रह्म के सगुण रूप के सुगम अगम अनेक प्रकार के चरित्रों को देख-सुन कर बड़े-बड़े मुनियों-विद्वानों को भी भ्रम हो जाता है।

'विनयपत्रिका में मनोविजय की साधना' शीर्षक निबन्ध में लेखक यह मत प्रस्तुत करता है कि "विनयपत्रिका के पद एक महान विचारशील भक्त के वैयक्तिक उद्‌गार हैं जिनमें प्रभु की महत्ताबोधक स्तुति के साथ अपनी लघुतासूचक उक्तियों का समावेश इस प्रकार किया गया है कि उनकी करुणा का उद्रेक हो सके और वे भक्त को अपनी शरण में ले लें, अपना बना लें।" (पृ० ११४)। 'विनयपत्रिका में क्रिया और कृपा' में शास्त्री जी की मान्यता है कि तुलसीदास को सामान्य तौर पर कर्म-सिद्धान्त स्वीकार्य है, पर जहाँ कर्म-सिद्धान्त और कृपा-सिद्धान्त टकराते हैं वहाँ वे कृपा-सिद्धान्त को ही ऊपर मानते हैं। उनके अनुसार मानव के चरम पुरुषार्थ, भगवत्प्राप्ति की सिद्धि के लिए भगवत् कृपा अनिवार्य है, केवल उसकी अपनी क्रियाएँ इसके लिए नितान्त अक्षम हैं। 'विनयपत्रिका में भक्तिमूला प्रपत्ति' में लेखक की मान्यता है कि 'विनयपत्रिका' में अभिव्यक्त तुलसीदास की शरणागति की प्रार्थना शास्त्रसम्मत अवश्य है किन्तु शास्त्रबद्ध नहीं। 'तुलसीदास की तेजस्विता' में लेखक स्वीकार करता है कि तुलसीदास की दीनता ही विख्यात है, तेजस्विता नहीं। पर 'तुलसीदास ने अपनी तेजस्विता को दीनता के आवरण में इस प्रकार लपेट रखा है कि उसे सहसा देखा नहीं जा सकता।' (पृ० १६३)। तुलसीदास केवल श्रीराम के समक्ष दीन हैं और किसी के आगे नहीं, यद्यपि विनम्र वे सबके प्रति हैं। तुलसीदास तेजस्विता को दैवी भी मानते हैं और आसुरी भी। जो तेजस्विता 'सर्वहित' के— व्यापक लोकहित के—अनुकूल होती है उसे वे दैवी और जो प्रतिकूल होती है, उसे आसुरी मानते हैं। तुलसीदास की तेजस्विता का उत्स है प्रभु से निरन्तर जुड़े रहने का भाव जिसके कारण ही उनमें आत्मविश्वास, आत्मगौरव, साहस, धैर्य आदि का संचार होता है। तुलसीदास राम की शक्ति से ही शक्तिमान हैं, वे कहते हैं 'कौन की त्रास करे तुलसी जो पै राखिहै राम तो मारिहै को रे।' लेखक के अनुसार "प्रभु के बल से बली होने के कारण तुलसीदास प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति या शक्तिशाली से शक्तिशाली प्रतिपक्षी के समक्ष भी हिमालय के समान अडिग रह सके, दूसरे इसके चलते उनके मन में अभिमान नहीं जागा। .....राम के सेवक होने का अभिमान या गुमान जिस तेजस्विता को जन्म देता है, वह दैवी होती है, सर्वहितकारिणी होती है, वैयक्तिक स्वार्थसाधिका नहीं।" (पृ० १६७)। तुलसीदास ने तेजस्विता के लिए तप, लोभहीनता और नैतिकता को आवश्यक बताया है। अपने लाभ के लिए जो सामान्य लोगों की खुशामद करते रहते हैं, तुलसीदास ने उन्हें शून्य का सहारा लेनेवाला कहा है। तुलसीदास अपने समय की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियों पर क्षुब्ध थे। उन्होंने उन सबको बिना किसी लागलपेट के फटकारा है जो समाज को खोखला बनाकर व्यक्तिगत स्वार्थ साध रहे थे। धार्मिक क्षेत्र में व्याप्त अनाचार-दुराचार पर उन्होंने अपनी व्यंग्य-वक्र वाणी से करारा प्रहार किया है। फलतः धर्म-नेताओं ने तिलमिला कर तुलसीदास की जातिपाँति को लेकर शोरगुल मचाया, उन पर तरह तरह के आक्षेप किये। तुलसीदास ने इसके जवाब में जो कवित्त लिखे, वे उनकी तेजस्विता के ही परिचायक हैं।

'तुलसीदास का स्वान्तः सुख' शीर्षक निबन्ध में लेखक तुलसीदास के साक्ष्य से यह विचार प्रतिपादित करता है कि "जिस आधुनिक कवि का हृदय अपने परिताप से नहीं, दूसरों के परिताप से द्रवित होता है, अपने सुख से नहीं, दूसरों के सुख से सुखी होता है, वही तुलसी द्वारा निर्दिष्ट स्वान्तःसुखाय का उपयोग अपनी काव्य-रचना

सौजन्य : साधुराम बंसल, शिव बाई बंसल चैरिटेबल ट्रस्ट, २३ए, नेताजी सुभाष रोड, कोलकाता-१

के लिए करने का अधिकारी माना जा सकता है।' (पृ० १७६)। यदि समकालीन लेखक इस सिद्धान्त वाक्य को मन्त्र की तरह धारण कर लें तो उनकी बहुत सी समस्याएँ अपने आप दूर हो जाएँगी। 'तुलसीदास की दृष्टि में विप्र और सन्त' शीर्षक लेख पढ़कर उन अनपढ़ आलोचकों का भ्रम दूर हो जाएगा जो तुलसीदास पर आरोप लगाते हैं कि वे ब्राह्मणशाही, जातिपाँति, छुआछूत आदि के समर्थक, अतः प्रतिक्रियावादी और प्रगतिविरोधी हैं। लेखक के अनुसार 'तुलसीदास को न तो वैदुष्य परम्परा के धारक ब्राह्मणवर्ण का दम्भपूर्ण या दुरभिसन्धिपूर्ण अपमान ही प्रतीत होता था, न जन्मना जातिपाँति के नागपाश से जकड़े शूद्र वर्ण की शोचनीय स्थिति ही स्वीकार्य थी।' (पृ० १८५)। तुलसी ब्राह्मणों के अविवेकपूर्ण कार्यों का समर्थन नहीं करते। समकालीन सन्दर्भ में लेखक का विचार है कि 'आज स्वाधीन भारतवर्ष में हम विवेक के अनुसार सामाजिक पुनर्विन्यास करने में पूर्ण स्वतन्त्र हैं। यह कतई आवश्यक नहीं है कि आज भी हम जन्मना जाति-व्यवस्था का समर्थन कर ब्राह्मणों को विशेषाधिकार दें, किन्तु तुलसीदास के कर्तृत्व पर निर्णय देने के पूर्व उनके समय की परिस्थितियों को ध्यान में रखना ही न्यायोचित है।' (पृ० १८९)। इस कथन से लेखक की वैचारिक उदारता का पता चलता है।

'चित्रकूट में तुलसीदास की साधना और उपलब्धि' शीर्षक निबन्ध में लेखक ने चित्रकूट के प्रति तुलसी के ममत्व और उसके कारणों का विवेचन किया है। 'कथा राम कै गूढ़' शीर्षक निबन्ध में लेखक ने तुलसीदास के इस कथन की पुष्टि की है कि 'उनके द्वारा वर्णित रामकथा में घटना-प्रवाह के मध्य अनेकानेक राम-रहस्य गुम्फित हैं।' उनका कहना है कि रामकथा की गूढ़ता केवल सगुण-निर्गुण या भक्ति-ज्ञान आदि के निरूपण में ही नहीं है, बल्कि प्रत्येक स्तर पर निर्मल होते हुए भी वह अतल गाम्भीर्य से युक्त है। 'कबीरदास और तुलसीदास का आन्तरिक साम्य' शीर्षक निबन्ध में लेखक इस बात पर क्षोभ व्यक्त करता है कि 'कुछ क्षेत्रों में कबीर-तुलसी को सराहने-कोसने में जितना उत्साह दिखाया जाता है, उतना यदि उनको समझने में भी दिखाया जाता तो दोनों 'विरोधी खेमों के नायक' जैसे नहीं प्रतीत होते। पर जिस समाज में जाति, धर्म, इतिहास, भाषा, परम्परा आदि को अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए भुनाया जा रहा हो, उसमें कबीर और तुलसी कैसे बच पाते। लेखक के अनुसार 'कबीर और तुलसी दोनों मूलतः और प्रथमतः भक्त थे, दोनों परम तत्त्व से अपना सम्बन्ध निष्काम प्रेम के द्वारा जोड़ना चाहते थे।' 'दोनों की सामाजिक-साधनिक दृष्टियों में जो आंशिक टकराव है, उसका कारण भक्ति को स्वीकार करने के पूर्व दोनों की सामाजिक स्थिति और साधनिक पृष्ठभूमि थी।' (पृ० २२७)। पुस्तक के अन्तिम निबन्ध 'तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ की विनय भावना' में विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में पले-बढ़े दो महान कवियों की विनय भावना की समानता का विवेचन किया गया है। लेखक का निष्कर्ष है कि "तुलसी की विनयपत्रिका यदि भक्ति का कविता को दान है तो रवीन्द्र की गीतांजलि भक्ति को अर्पित कविता का अर्घ्य है।" (पृ० २५१)।

गोस्वामी तुलसीदास की भक्ति-भावना और उनके काव्योत्कर्ष को समझने के लिए विष्णुकान्त शास्त्री की यह किताब आँख के अंजन की तरह है। तुलसी के अकारण विरोधियों और प्रशंसकों दोनों के लिए ही यह पुस्तक अपरिहार्य है; विरोधी इसे पढ़ कर अपने भटकाव के कारणों का सन्धान कर सकेंगे और प्रशंसक अपनी प्रशंसा के लिए तथ्य और तर्क का सम्बल प्राप्त करेंगे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद तुलसीदास पर यह दूसरी पुस्तक है, जो प्रबुद्ध पाठक को आश्वस्त करती है। ●

सौजन्य : साधुराम बंसल, शिव बाई बंसल चैरिटेबल ट्रस्ट, २३ए, नेताजी सुभाष रोड, कोलकाता-१

डॉ० मोहन अवस्थी

'भक्ति और शरणागति'

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की भक्ति-दृष्टि

वर्तमान काल में आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री अपने आध्यात्मिक चिंतन के लिए प्रख्यात हैं। इस दिशा में उनके 'तुलसी के हिय हेरि', 'ज्ञान और कर्म' एवं 'भक्ति और शरणागति' नामक तीन ग्रंथ क्रमशः सन् १९९०, १९९७ तथा २००१ में प्रकाशित हो चुके हैं। अर्थात् उनकी आध्यात्मिक यात्रा तुलसीदास से संबल प्राप्त कर 'ज्ञान और कर्म' को समन्वित करते हुए 'भक्ति और शरणागति' के उच्च शिखर पर स्थित हुई है।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री अनन्तश्री-विभूषित ब्रह्मलीन स्वामी अखण्डानन्दजी के प्रिय शिष्य हैं। मैं पूज्य स्वामीजी से मनसा तो सन् १९६० से जुड़ा हुआ था, परन्तु उनकी कृपा मुझे प्राप्त थी, इसका आभास आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के उस लेख में मिलता है जो उन्होंने 'आनन्दबोध' (मासिक पत्र) के किसी अंक में प्रकाशित किया था। उसका आशय कुछ इस प्रकार था कि स्वामीजी के प्रवचनों को बड़े-बड़े विद्वान.....डॉ० नगेन्द्र .....डॉ० मोहन अवस्थी आदि ध्यान से सुनते थे। वस्तुतः उस समय शास्त्री जी से मेरा कोई परिचय नहीं था। शास्त्री जी की भाव-प्रवणता मेरे प्रति केवल गुरुदेव के कृपा कटाक्ष-सूत्र से जुड़ने के कारण हो गई थी। उसकी ओर इंगित करते हुए शास्त्री जी ने २४.८.८४ के अपने पत्र में लिखा था— "आनन्दबोध में आपकी अनुगीतिकाएँ देख रहा हूँ और प्रसन्न हो रहा हूँ यह सोच-सोचकर कि पूजनीय गुरुजी की कृपा आपको प्राप्त है।" परन्तु अकस्मात् घटी एक घटना ने शास्त्री जी के धार्मिक सद्भाव को बरबस उद्वेलित कर दिया। तुलसीदास के प्रति निवेदित मेरी एक कविता सन् १९५४ में छपी थी, जो इतनी लोकप्रिय हुई कि हिन्दी की अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने उसे उद्धृत किया। संयोगवश शास्त्रीजी ने उसकी चार पंक्तियाँ कहीं पढ़ लीं और मुझसे मिलने को उत्सुक हो गए। तभी कुछ दिन बाद मेरी 'राम के प्रति' कविता एक पत्रिका में छपी जो उन्हें पढ़ने को मिली तो उनका भावुक हृदय उद्वेलित हो उठा। १०.८.८३ को उन्होंने मुझे पत्र लिखा— "क़रीब दो साल हुए, आपका एक मुक्तक मुझे बहुत अच्छा लगा था, इतना अच्छा कि उसे मैंने याद ही कर लिया—

काँप रही थी भारत की सांस्कृतिक नाव जब
तुम उसके उद्धार हेतु पतवार हो गए।
बसे हमारे मानस में तुम निराकार बन
डूब तुम्हारे मानस में हम पार हो गए।।

आज 'श्री रामदूत' में श्री प्रभुराम पर आपके तीन छन्द पढ़े तो अपने को रोक नहीं पाया और आपको पत्र लिखने बैठ गया। आपकी तुलसी भक्ति और रामभक्ति को सादर प्रणति। प्रभु कृपा से आप सानन्द रहें। इस बार इलाहाबाद आया तो आपसे जरूर मिलूंगा।

स्नेहाधीन
विष्णुकांत शास्त्री"

सौजन्य : साधुराम बंसल, शिव बाई बंसल चैरिटेबल ट्रस्ट, २३ए, नेताजी सुभाष रोड, कोलकाता-१

दिसम्बर १९८७ में प्रातः स्मरणीय गुरुदेव ने मुझे पत्र द्वारा अपने पास बुलवाया और वहाँ पहुँचने पर दिन में दीक्षा देकर रात में स्वयं ब्रह्मलीन हो गए। स्वामीजी की षोडशी के अवसर पर शास्त्रीजी मुझसे गुरुभाई की तरह मिले। मैंने गुरुदेव के प्रति जो श्रद्धांजलि लिखी थी उसका एक छंद उन्हें सुनाया—

सरल स्वभाव, प्रेम-भक्ति-ज्ञान मूर्ति थे वे,
मिले, गए, रहे जहाँ वहीं-वहीं छा गए।
डूबते हुओं को दृढ़ तट पै लगाया, और,
अक्षर वचन हैं वे हमें जो सुना गए।
धूलि के अचर परमाणु भी चमक उठे,
दिव्य आभा-चक्र को परिधि में जो आ गए।
स्नेह युक्त साधन-विहीन सुप्त दीपकों को,
अपने अखण्ड ज्योति-स्पर्श से जगा गए।

शास्त्रीजी भावविह्वल हो गए। उन्होंने अपनी डायरी में उस छन्द को झट अंकित कर लिया। मेरी वह श्रद्धांजलि 'आनन्दबोध' दिसम्बर १९८७ में प्रकाशित हुई है।

इन सन्दर्भों का प्रयोजन केवल यह इंगित करने के लिए है कि विष्णुकांत शास्त्री के ऊपर तुलसीदास का गहरा प्रभाव है और परमपूज्य स्वामीजी की सन्निधि ने उनके चिन्तन को निःसंशय एवं परिपक्व बनाया। अतः 'भक्ति और शरणागति' नामक इस ग्रंथ में उन्होंने अत्यंत गूढ़ (तत्व) भक्ति को व्याख्यायित करने का सत्प्रयास किया है।

भक्ति पर अनेक ग्रंथों में विस्तार से विवेचन किया गया है और भागवतमहापुराण में तो शुकदेव जी ने परीक्षित से यहाँ तक कह दिया है कि—

राजन् पतिर्गुरूरलं भवतां यदूनां
दैवंप्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वा।
अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम् ।।

ऐसे दुर्लभ भक्तियोग को शास्त्रीजी ने विभिन्न मत-मतान्तरों का सरल भाषा में समञ्जस आख्यान करके सर्वग्राह्य बना दिया है। विभिन्न व्याख्याओं को समन्वित करके उसे एक व्यवस्थित रूप देना आचार्यों का काम है। शास्त्रीजी ने वही कार्य किया है, इसलिए उन्हें आचार्य विष्णुकांत शास्त्री कहकर संबोधित करना सर्वथा उचित है।

भागवत में ऋषभदेवजी के नौ योगी पुत्रों और महात्मा निमि के बीच हुआ लम्बा सम्वाद नारदजी ने वसुदेव को सुनाया है। इस संवाद में भागवत-धर्म की विस्तार से चर्चा है।

भगवान् ने भोले-भाले अज्ञानी पुरुषों को भी सुगमता से साक्षात् अपनी प्राप्ति के लिए जो-जो उपाय स्वयं अपने श्रीमुख से बतलाए हैं, उन्हें भागवत धर्म कहते हैं। न केवल योगी कवि अपितु हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन ने भी इस भागवत् धर्म के विभिन्न अंगांगों को दार्शनिक शैली में अभिव्यक्त किया है। इस दुरूह विषय को आचार्य विष्णुकांत शास्त्री इस तरह प्रस्तुत करते हैं— "भक्ति भागवत धर्म है। भगवान् ने अपने प्यारों को जो सुगम, सरल मार्ग अपने पास तक आने के लिए बतलाया है, उसे ही भागवत् धर्म....उनके भक्तों द्वारा आचरित धर्म कहते हैं। सभी सन्त इस बात पर एकमत हैं कि श्रद्धाप्रधान, प्रेमप्रधान, भोले-

सौजन्य : R. S. Chitlangia Foundation, 113, Park Street, (North Block), 4th Floor, Kolkata-16

भले व्यक्तियों के लिए भागवत धर्म ही सबसे सरल और सुरक्षित धर्म है। अपने शरीर, वचन, मन, इन्द्रिय, बुद्धि, अहंकार या स्वभाव से हम जो कुछ करें उसे परमपुरुष नारायण के लिए किया मानकर उन्हें ही अर्पित कर दें तो हम भागवत धर्म के मार्ग पर चलना शुरू कर देंगे ।"

यह धर्म-भवन चार दृढ़ स्तंभों पर अवलम्बित है। वे स्तम्भ हैं– नाम, रूप, लीला और धाम। शास्त्रीजी ने इन चारों को विस्तार से बहुत सरल भाषा में व्याख्यायित किया है। उन्होंने तुलसीदासजी के 'रामचरित मानस' के आधार पर नाम की महिमा का वर्णन करते हुए नाम और नामी में एकत्व स्थापित किया। उनका कहना है– "प्रभु के नाम और प्रभु में अभेद है, बल्कि सुगमता की दृष्टि से प्रभु का नाम प्रभु से भी बड़ा है, ऐसा अनुभवी सन्तों ने बार-बार कहा है ।.....हमारा चित्त प्रभु की ओर उन्मुख हो सके इसके लिए नाम-जप से बढ़कर कोई दूसरा उपाय नहीं है।" रूप के विषय में शास्त्रीजी ने वैष्णव साधना में रूप की उपासना की अनोखी स्थिति पर प्रकाश डाला है। उनका कथन है— "मानव मन पर रूप का ज़बरदस्त प्रभाव पड़ता है।...भक्ति मार्ग मानव-सत्य को नकारता नहीं, सँवारता है। उस पर चलने के लिए अपनी इंद्रियों या वृत्तियों का वर्णन नहीं करना है, केवल उनके आलम्बन को बदल देना है, उन्हें जड़ोन्मुख होने के स्थान पर चिन्मुख कर देना है।" इसकी पुष्टि उन्होंने श्रीमद्भागवत में वर्णित मथुरा की सखियों, गोपियों आदि के उदाहरणों से की है। सूरदास की गोपियों और मीरा के उद्‌गारों को अभिव्यक्त करते हुए शास्त्रीजी निष्कर्ष रूप में कहते हैं–

"बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरो।" इसका अर्थ ही यह है कि रूप-साधना की चरम स्थिति सर्वत्र प्रभु का रूप ही निहारती है, उसे कुछ भी प्रभु से भिन्न दिखता ही नहीं। 'निराला' के शब्दों में उसे लगता है 'जिधर देखिए श्याम विराजे' ।"

लीला के विषय में उन्होंने सार रूप में अपने विचार इस प्रकार प्रस्तुत किए हैं– "लीला, कार्य से रहित कृति मात्र है। अर्थात् प्रयोजनातीत आनन्दमय उल्लास की उच्छल क्रिया है, विलास की इच्छा की निष्प्रयोजन सहज अभिव्यक्ति है।....प्रभु के श्री विग्रह की मनोरम चेष्टाएँ – स्मित, विलास, नृत्य, युद्ध आदि स्वरूप-शक्तिमयी लीलाएँ हैं।"

इसी सिलसिले में कृष्ण भक्तों द्वारा वर्णित लीला-प्रसंगों को व्याख्यायित करते हुए शास्त्रीजी ने कुंज-लीला और निकुंज-लीला के रहस्य को इस प्रकार उजागर किया है– "कुंज लीला में श्रीकृष्ण की प्रधानता है और रस-निष्पत्ति के लिए संयोग के साथ-साथ विरह की भावना भी स्वीकृत की गई है। परकीया और स्वकीया दोनों भावों की साधना का विधान इसमें है। निकुंज लीला में श्रीराधा की प्रधानता मानी जाती है। श्रीकृष्ण उपासक के रूप में श्रीराधा की आराधना करते हैं।"

जिस तरह नाम, रूप में अभेद है उसी तरह लीला और धाम में भी अभेद है। परमार्थतः नाम, रूप, लीला, धाम एक ही परमात्मा की विभिन्न उपाधियाँ हैं, ऐसा भक्ताचार्यों ने प्रतिपादित किया है। इसका अनुवचन शास्त्रीजी ने इस तरह किया है– "नाम, रूप, लीला, धाम प्रभु के ही प्रतिफलन हैं, तत्वतः उनमें और प्रभु में अभेद है। धाम की महिमा इसलिए बहुत विशिष्ट है कि उसे प्रयासपूर्वक अन्तःकरण में हमें लाना नहीं पड़ता, वही हमें धारण करता है। किन्तु यह भी याद रखना चाहिए कि जिस तरह प्रभु देश काल में अवतरित होकर भी देशकाल से....इतिहास, भूगोल से बँधते नहीं, उसी तरह धाम भी अपनी चिन्मयी सत्ता में भूगोल से आबद्ध नहीं है। 'तहँइ अवध जहँ राम निवासू' इसी सत्य की साक्षी उक्ति है।"

भक्ति का अर्थ संसार से विरक्त होकर निष्कामतापूर्वक भगवान् से जुड़ना है। इस जुड़ने के सैकड़ों उपाय हो सकते हैं, लेकिन भागवत में नौ उपायों को प्रमुखता दी गई है और इनके आधार पर भक्ति को नवधा-भक्ति कहा जाता है, जो इस प्रकार है— श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं, पादसेवनम्।

अर्चनं वन्दनं, दास्यं, सख्यमात्मनिवेदनम्।।

इसी सन्दर्भ में शास्त्री जी ने साधन-भक्ति, वैधी-भक्ति, रागानुगा-भक्ति (भाव भक्ति), रागात्मिका भक्ति और पराभक्ति या प्रेमाभक्ति का विवेचन करते हुए कहा है कि परा भक्ति का प्रसार भगवान् की कृपा पर अडिग विश्वास रखकर ही प्राप्त किया जा सकता है और शास्त्रीजी के शब्दों में— "सत्संग ही समस्त साधनों का प्रेरक स्रोत है।.... भक्ति की कामना करने वालों को यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि अपने साधनों का अभिमान न हो । अन्तिम सत्य यही है कि प्रभु अपनी कृपा से ही द्रवित होते हैं किसी के साधन से नहीं।"

भागवत में श्रवण भक्ति को प्राथमिकता दी गई है। इसके हेतु पर प्रकाश डालते हुए शास्त्री जी स्पष्ट करते हैं— "बात यह है कि अजाने को जानने के लिए उसके बारे में पहले सुनना (या पढ़ना) पड़ता है। ....आज भी पुस्तकों के सुलभ होते हुए भी उनके मर्म को ठीक-ठीक ग्रहण करने के लिए अनुभवी गुरु से उसकी व्याख्या सुनना आवश्यक है। ....जब इन्द्रिय, मन, बुद्धि से ग्रहण किए जाने योग्य संसार के ज्ञान के लिए भी श्रवण ही प्रधान साधना है तो इन्द्रिय, मन, बुद्धि की परिधि में आकर भी न आने वाली उनकी दिव्य लीलाओं को महात्माओं से सुने बिना कोई कैसे समझ सकता है।"

श्रवण किए हुए भगवान् के गुण और लीला आदि बीजरूप में जब भक्त के मन में बैठ जाते हैं तो उसमें यह इच्छा भी होती है कि वह दूसरे को सुनाए या अन्य लोग भी उसके कहे हुए को सुनें। इस श्रवण-भक्ति के बारे में शास्त्रीजी संक्षेप में कहते हैं— "कीर्तन का शब्दार्थ है कीर्ति फैलाने की क्रिया। भक्ति के क्षेत्र में सम्यक् प्रकार से किए गए कीर्तन को ही संकीर्तन कहते हैं। ....भक्तों की मान्यता है कि वातावरण को पवित्र बनाने एवं लोकमंगल की दृष्टि से संकीर्तन का महत्व और अधिक है।"

नवधा भक्ति के क्रम में तीसरा स्थान स्मरण का है। शास्त्रीजी स्पष्ट करते हैं कि "सूक्ष्मता से विचार करने पर लगेगा कि उपर्युक्त दोनों साधन स्मरण की तुलना में बहिरंग हैं....कई बार ऐसा भी होता है कि श्रवण, कीर्तन यांत्रिक रूप से होता है और मन कहीं अन्यत्र रमा रहता है। इसलिए यह मानते हुए भी कि श्रवण, कीर्तन में स्मरण गौण रूप से बना रहता है, उसकी स्वतंत्रता और मुख्यता की दृष्टि से अंतरंग साधन के रूप में स्मरण की मान्यता उचित ही है।....जिस किसी भी प्रकार मन का प्रभु से सम्बन्ध हो जाना ही स्मृति है। साधारण तौर पर एकान्त में बैठकर....मनोयोगपूर्वक प्रभु के नाम, रूप, लीला आदि का चिन्तन करने को स्मरण भक्ति कहते हैं।....यह स्मरण भी सूखा नहीं सरस होना चाहिए। ....स्मरण का परिपाक अपनी पृथक् सत्ता के विस्मरण और प्रभुमयता में है।"

चौथी भक्ति पादसेवन भक्ति है। शास्त्रीजी ने इस भक्ति का उल्लेख करते हुए मीराँजी के गीत की पंक्तियाँ उद्धृत की हैं— मणथें परस हरि रे चरण / सुभग सीतल, कँवल कोमल, जगत-ज्वाला हरण।

और लिखा है— "इस मान्यता के अनुसार 'पादसेवन' एक विशिष्ट भावना के अनुसार किया गया ध्यान ठहरता है। 'स्मरण' में भी ध्यान सन्निहित है, किन्तु उसमें नाम, रूप, लीला आदि के विस्तार के कारण वह घनीभूत सान्द्रता नहीं आ पाती, जो केवल प्रभु-चरणों में मनो-निवेश करने के कारण सहज सुलभ है। 'पाद सेवन' में मनोभाव विनीत सेवक का रहता है, जबकि 'स्मरण' विविध भावों से किया जा सकता है।"

सौजन्य : सरदारमल, राजेन्द्रकुमार रतनवल्ल, श्रीपालवल्ल, सुशील बेंगाणी, ४, जगमोहन मल्लिक लेन, कोलकाता-७

पाँचवीं भक्ति है अर्चन अर्थात् भगवान का पूजन। चूँकि भगवान हमारे सामने साकार रूप में नहीं होते हैं इसलिए अर्चावतार के रूप में उनकी प्रतिमा का पूजन किया जाता है। इसके लिए शास्त्रों में भगवान् की आठ प्रकार की प्रतिमाएँ उल्लिखित की गई हैं। शास्त्री जी ने इन प्रतिमाओं के साथ अर्चन के विभिन्न अंगों पर भी प्रकाश डाला है और फिर कहा है— "प्रभु की अर्चना केवल पूजन सामग्री से ही नहीं अपने कर्म के द्वारा करनी चाहिए। वन्दन अर्थात् नमस्कार, अभिवादन, श्रद्धापूर्वक चरण स्पर्श करना आदि। शास्त्रीजी ने इस भक्ति पर सतर्क प्रकाश डालते हुए अत्यंत संक्षेप में अपनी बात कही है— "प्रभु के महत्वबोध के साथ ही अपने लघुत्व का भी ज्ञान होता है। ....एक साथ इन दोनों भावों को प्रकट करने का साधन है नमस्कार करना। ....ध्यान देने की मुख्य बात यह है कि वास्तविक वन्दना में शारीरिक, वाचिक और मानसिक इन तीनों क्रियाओं का योग होता है। ....जब बारम्बार नमस्कार किया जाता है, तभी उसका संस्कार पड़ता है। इसीलिए आचार्यों ने प्रमुख मंत्रों में नमः का योग कर उनके निरन्तर जप का विधान किया है।"

दास्य भक्ति के सम्बन्ध में शास्त्रीजी का कथन है— "अपने समस्त कर्म और उनके फल प्रभु को अर्पित कर उनकी आज्ञा एवं प्रसन्नता के अनुकूल उनकी सेवा करते हुए जीवनयापन करना ही दास्य है। याद रखना चाहिए कि भक्ति किसी क्रियाविशेष का नाम नहीं है। जो भी क्रिया भगवान् से जुड़ जाती है, भक्ति का अंग बन जाती है।... दास्य भक्ति करने वालों को अपने सभी कर्म प्रभु को समर्पित करने चाहिए। ....आज्ञापालन के समान प्रभु की सेवा कोई दूसरी नहीं है। ....सेवा और प्रेम का सूक्ष्म अन्तर भी समझ लेना चाहिए। सच्ची सेवा होती प्रेम से ही है किन्तु प्रेम स्वाधीन भी हो सकता है, सेवा सदा पराधीन सेवा के अधीन रहती है।

इस्टदेव को सखा मानकर जो साधना की जाती है वह सख्य-भक्ति कहलाती है। शास्त्रीजी ने लिखा है— "सख्य समानशील व्यसन वालों में होता है। अतः ऊपरी दृष्टि से भक्त और भगवान् का सख्य अटपटा लग सकता है। ....इसमें दो बातें हैं। ....ब्रह्म और जीव दोनों की ख्याति और जाति दोनों की सचमुच एक ही है। ....सत्, चित्, आनन्द तत्व दोनों में समान है।"

आत्मनिवेदन का सीधा सा अर्थ है भगवान् को अपना सर्वस्व अर्पित कर देना। शास्त्री जी ने आचार्यों की व्याख्याओं का उल्लेख करते हुए अन्त में बतलाया— "प्रभु की वस्तु को सौंपते समय वस्तुतः कुछ नहीं लगना चाहिए किन्तु फिर भी कहाँ हम लोग सच्चे दिल से प्रभु को कुछ भी सौंप पाते हैं। अपने अज्ञानवश प्रभु की वस्तु पर अपना स्वत्व जमा बैठने की मूढ़ता का त्याग ही वास्तविक समर्पण है।"

जटिल विषय बोधगम्य हो सके, इसे ध्यान में रखकर आचार्य विष्णुकांत शास्त्री ने जिस सुगम शैली का प्रयोग किया है उसके कुछ नमूने हमने आपके सामने पेश किए। 'भक्ति और शरणागति' नामक अपने इस ग्रंथ में शास्त्री जी ने 'रागानुगाभक्ति', 'हित भक्ति', 'पराभक्ति : गीता के अनुसार', 'निर्गुण भक्ति', 'शरणागति की भूमिका', 'शरणागति की निरपेक्षता और अंग सापेक्षता', 'शरणागति के भेद', 'शरणागत की रहनी' आदि शीर्षकों के अन्तर्गत भक्ति के सम्पूर्ण स्वरूप का अपनी इसी सुगम शैली में आख्यान किया है। अतः यह ग्रंथ सहृदयों के लिए तो उपयोगी है ही, विद्वानों के लिए भी पठनीय एवं जिज्ञासुओं के लिए मुहुर्मुहुः अनुशीलनीय है। ●

सौजन्य : HARIRAM JI JAJODIA, 96, Muktaram Babu Street, Kolkata-700 007

डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी

'सुधियाँ उस चंदन के वन की'
भावभीनी स्मृतियों की प्रभावशाली अभिव्यक्ति

"अब मेरा परमधाम जाने का समय आ गया है, अब मैं जीना नहीं चाहती। जब केवल तन अस्वस्थ होता था तब जीने की चाह बनी रहती थी, अब मेरा मन भी अस्वस्थ हो चला है— देश की वर्तमान स्थिति को देख-देख कर। देखो, आज ही के अखबार के मुखपृष्ठ पर टोकरियों में धरे सैकड़ों बमों के चित्र छपे हैं। पहले मैं उन्हें लड्डू समझ बैठी थी। ये बम किन पर चलेंगे, निर्दोषों और गरीबों पर ही तो। आदमी आदमी को मार रहा है। बचाने वाले अब नहीं रह गए हैं। ऐसे वातावरण में जीकर क्या होगा ?"

ये पीड़ाभरी पंक्तियाँ महादेवी वर्मा की हैं, जिनको विष्णुकान्त शास्त्री ने अपनी संस्मरणात्मक कृति 'सुधियाँ उस चंदन के वन की' के एक संस्मरण में महादेवीजी को याद करते हुए उद्धृत किया है।

आलोच्य कृति शास्त्री जी के संस्मरणों की दूसरी पुस्तक है। इसके पूर्व 'स्मरण को पाथेय बनने दो' १९७७ में प्रकाशित हो चुकी है। वैसे तो एक आलोचक के साथ-साथ भक्ति साहित्य के विशिष्ट व्याख्याता के रूप में शास्त्रीजी की ख्याति सारे देश में है परंतु इन दो कृतियों ने हिंदी साहित्य की संस्मरण विधा को समृद्ध किया है और विष्णुकांत शास्त्री ने इस विधा के समर्थ रचनाकार के रूप में अपनी पहचान बनाई है।

पुस्तक की भूमिका में उन्होंने लिखा है, 'जिन विशिष्ट व्यक्तियों के संपर्क से या स्थानों के परिभ्रमण से जीवन समृद्ध हुआ है, उसकी याद बार-बार आती ही है। हर बार लगता है कि उस याद ने अपनी सुगंध से जीवन को पुनः सुरभित कर दिया'.....

श्रेष्ठ जनों के साहचर्य से जीवन को सुवासित करने, जीवन में सुगंध का अनुभव करने के लिए जिस संवेदना की आवश्यकता होती है उससे परिपूर्ण है शास्त्रीजी का अंतःकरण। तभी तो वे चंदन तरु सदृश विविध असाधारण प्रतिभाशालियों की स्मृतियों का संकलन ही प्रस्तुत नहीं करते—अतीत के यादगार प्रसंगों को अपनी प्रभावशाली भाषा से जीवंतता प्रदान कर देते हैं।

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती, महादेवी वर्मा, अज्ञेय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, गांगेय नरोत्तम शास्त्री, देवेंद्रनाथ शर्मा, नामवर सिंह, उमाशंकर जोशी जैसे प्रज्ञा पुरुषों के ९ व्यक्ति-केन्द्रित संस्मरणों के अतिरिक्त इस पुस्तक में तीन यात्रा संस्मरण हैं और एक है विधायक विष्णुकांत शास्त्री का 'विधायकी अनुभव' से परिपूर्ण रोचक वृत्तांत।

कृति का नामकरण हो या शीर्षकों का निर्धारण— लेखक के विशिष्ट काव्यानुराग का प्रमाण सहज ही प्राप्त हो जाता है। इस ग्रंथ में यत्र-तत्र ऐसे अगणित प्रसंग है जिनमें सूक्तियों, काव्य पंक्तियों या शेरो-शायरी के साथ लेखक ने अपने कथन की पुष्टि की है। गद्य में भी परिनिष्ठित भाषा के साथ-साथ लयात्मकता है, गति है और है मोहक अभिव्यक्ति, जो पाठक को बाँधे रखता है।

अपने दीक्षागुरु स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती पर लेखक ने दो संस्मरण लिखे हैं। ये संस्मरण एक शिष्य की

सौजन्य : HARIRAM JI JAJODIA, 96, Muktaram Babu Street, Kolkata-700 007

गुरु के प्रति अपार श्रद्धा और भक्ति का परिदर्शन तो कराते ही हैं, अध्यात्म के प्रति लेखक की गहन अभिरुचि को भी दर्शाते हैं। 'श्रद्धा और विवेक के ज्योतिवाही' तथा 'खण्ड-खण्ड फिर भी अखण्ड : स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती' शीर्षक दो निबन्ध पाठक को भी लौकिक-अलौकिक संदर्भों की समुचित जानकारी करा देते हैं। लेखक की एक जिज्ञासा का समाधान करते हुए स्वामीजी ने जो बातें कहीं वे ध्यातव्य हैं : 'सामाजिक सम्मान उसे ही प्राप्त होता है जिसने अपने क्षेत्र में कोई विशिष्ट उपलब्धि की हो। उसके लिए अपने आचरण को संगत, व्यवहार को विश्वसनीय बनाकर बड़े-बड़े, अच्छे काम करने पड़ते हैं। इससे मनुष्य का विकास होता है। .....धर्मपूर्वक मान प्राप्त करने की चेष्टा में कोई दोष नहीं है। इसके लिए तुम्हें अपराध बोध नहीं होना चाहिए। हाँ, जब सर्वत्यागी संन्यासी बनने की सच्ची प्रेरणा होगी तब मानेच्छा भी अपने आप छूट जाएगी। किन्तु आज की स्थिति तो यह है कि धन, मान, अधिकार पाने के लिए ही लोग संन्यास ले रहे हैं। संन्यास की सच्ची वृत्ति तो लुप्त-सी हो गई है।' कहने की जरूरत नहीं कि आज के संदर्भ में इस उक्ति का क्या महत्त्व है।

अज्ञेय पर केन्द्रित संस्मरण में हिन्दी के इस विशिष्ट कवि से संबंधित जिन प्रसंगों का उल्लेख हुआ है, वे साहित्यिक दृष्टि से बहुत उपयोगी हैं। 'आलोकछुआ अपनापन : अज्ञेय' में उनके विचारों को व्याख्यायित करते हुए शास्त्रीजी लिखते हैं— 'असंयत उच्छृंखलता का वे कतई समर्थन नहीं करते थे। उनकी स्थापना थी कि इकाई समष्टि के प्रति कृतज्ञ तो हो, पर अपने विवेक को कुंठित भी न होने दे। .....उनका विश्वास था कि मुक्त, कुंठा-रहित व्यक्तियों के सहयोग से ही शक्तिशाली समाज बन सकता है। बड़ा और घना वन जिस तरह बड़े और घने वृक्षों की समष्टि है, उसी तरह उन्नत, स्वतंत्र और विवेकी व्यक्तियों के आधार पर ही सचमुच बड़ा समाज निर्मित हो सकता है।'

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के देहावसान पर उनका पावन स्मरण करते हुए लिखा गया श्रद्धांजलिपरक लेख है 'फूल की पहचान सरस सुवास-केवल'। इसकी आरंभिक पंक्तियाँ हैं— 'आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी नहीं रहे यदि यह सच है, तो यह इससे भी बड़ा सच है कि वे चिरकाल तक बने रहेंगे। मनुष्य केवल अपनी काया में ही नहीं जीता, वह अपनी कृति में जीता है, कीर्ति में जीता है, संतति में जीता है। हजारीप्रसाद जी की कृतियाँ कालजयी हैं, कीर्ति दिगंत व्यापिनी है और संतति तेजोमय है।'

आचार्य द्विवेदी और अज्ञेय के प्रति लेखक का श्रद्धा भाव सुविदित है। सर्जक विष्णुकान्त शास्त्री के निर्माण में दोनों की प्रमुख भूमिका रही है। यही कारण है कि लेखक ने अपनी यह कृति इन्हें ही समर्पित की है। समर्पण की पंक्तियों में लेखक स्वीकार करता है— 'जिनसे साहित्य को न केवल समझने की बल्कि सिरजने की भी प्रेरणा मिली— उन आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं अज्ञेयजी की पावन स्मृति को।'

'पास रहते हुए भी दूर : मेरे पिता पं. गांगेय नरोत्तम शास्त्री' शीर्षक संस्मरण एक पुत्र की लेखनी से पिता का श्रद्धापूरित स्मरण भर नहीं है कविवर गांगेय नरोत्तम शास्त्री के साहित्यिक अवदान का प्रामाणिक दस्तावेज भी है।

प्रख्यात आलोचक नामवर सिंह पर लिखा गया १५ पृष्ठों का संस्मरण दो भिन्न मतों का पोषण करने वाले आलोचकों की आत्मीयता का सहज संकेत दे देता है। संस्मरण के समापन की ये पंक्तियाँ इस अंतरंगता को रेखांकित करती हैं— 'नामवर से बहस करना, नामवर को पढ़ना, नामवर से सीखना, नामवर का खंडन-मंडन करना, नामवर को बड़े भाई के रूप में पाना मेरे जीवन की विशिष्ट उपलब्धियाँ हैं।'

सौजन्य : सेन्चुरी प्लाइबोर्ड्स् (इण्डिया) लि०, ६, लायन्स रेन्ज, कोलकाता-७०० ००१

व्यावहारिक राजनीति से अनभिज्ञ साहित्य के प्राध्यापक विष्णुकान्त शास्त्री का राजनीति में एक विधायक के रूप में प्रवेश १९७७ में हुआ था। उस काल की स्मृतियों का रोचक विवरण 'विधायक की यातना' में प्राप्त होता है। शास्त्री जी ने ठीक ही लिखा है— 'स्वाधीन भारत में बहुत से पदों, मूल्यों, सिद्धांतों का अवमूल्यन हुआ किन्तु जैसा शोचनीय अवमूल्यन लोक-दृष्टि में राजनेताओं का हुआ है, वैसा शायद ही किसी अन्य क्षेत्र में हुआ होगा।' राजनीति के इस भ्रमजाल में भी शास्त्रीजी ने प्रसंग-संगत कविताएं सुनाते रहने की आदत का त्याग नहीं किया।

संग्रह का निबंध 'विकट तूफान की झड़ियाँ' अयोध्या में राम जन्म-स्थान पर राम मंदिर निर्माण के लिए किए गये विराट आन्दोलन के सहयात्री के रूप में लिखा गया है। 'राष्ट्रीय अस्मिता के स्वाभिमान की रक्षा में अपना विनीत योगदान' देने हेतु शास्त्रीजी द्वारा की गयी दुस्साहसिक यात्रा का रोचक वृत्त प्रस्तुत करने वाला यह निबन्ध ऐतिहासिक है। १५६ पृष्ठों वाली इस कृति को १९९२ ई० में भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ ने प्रकाशित किया था। 'श्रेष्ठ जनों का साहचर्य सुवासित करता ही है' इस भावना को भूमिका में प्रकट करते हुए संस्मरणकार ने कविवर गिरिजा कुमार माथुर के प्रति भी ऋण स्वीकार किया है। कृति का नामकरण उन्हीं की कविता की एक पंक्ति है।

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि 'सुधियाँ उस चंदन के वन की' केवल प्रीतिकर स्मृतियों का लिपिबद्ध प्रस्तुतिकरण ही नहीं है— सुव्यवस्थित व सुगठित गद्य का नमूना भी है। व्यक्ति, घटना, स्थान व परिवेश का संपूर्ण प्रभाव लेखक की वैदुष्यपूर्ण विशिष्ट शैली से घुल-मिलकर पाठक को अभिभूत कर देता है। ये संस्मरण केवल स्मर्य व्यक्ति का ही परिचय नहीं कराते, लेखक के साहित्यिक व्यक्तित्व से भी पाठक को परिचित करा देते हैं। इन संस्मरणों को पढ़ने से लगता है कि शास्त्रीजी ने कवि के रूप में भले ही प्रसिद्धि न प्राप्त की हो परंतु उनके पास एक संवेदनशील कवि का हृदय अवश्य है। ●

सौजन्य : C. S. Sales Pvt. Ltd., 154, Jamunalal Bajaj Street, Kolkata-700 007

डॉ० पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'

'ज्ञान और कर्म'

भारतीय परम्परा और संस्कृति का मर्म!

किसी भी भारतीय को अपनी परम्परा और संस्कृति का ज्ञान अवश्य होना चाहिए, साथ ही उसे यह पता होना चाहिए कि आध्यात्मिकता के क्षेत्र में भारत का क्या अवदान रहा है। इस दृष्टि से उपनिषदें पठनीय हैं, क्योंकि वे भारत की आध्यात्मिक उपलब्धि का प्रमाण हैं। इनमें 'ईशावास्योपनिषद्' एक मननीय उपनिषद् है। इधर इसका महत्त्वपूर्ण भाष्य हिन्दी के सुधी एवं सहृदय चिंतक-आलोचक तथा भारतीय विद्या एवं संस्कृति के विद्वान आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ने 'ईशावास्य अनुवचन : ज्ञान और कर्म' नाम से सम्पन्न किया है। यह ग्रंथ 'ईशावास्योपनिषद्' पर उनके द्वारा कलकत्ता में प्रस्तुत किये गये १८ अनुवचनों का संकलन है।

उपनिषदों की व्याख्या-परम्परा संस्कृत में भी रही है और हिन्दी में भी। 'ईशावास्य' के संस्कृत व्याख्याकारों में शंकराचार्य और माध्वाचार्य के नाम प्रमुख हैं तथा हिन्दी व्याख्याकारों में गीता प्रेस, गोरखपुर की टीका के अतिरिक्त विनोबा भावे और आचार्य रजनीश की व्याख्या अब तक पाठकों का ध्यान आकृष्ट करती रही है। पर शास्त्री जी के अनुवचन ने इन सबको पीछे छोड़ दिया है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता अवधारणाओं-पारिभाषिकों का अविस्मरणीय, बुद्धिग्राह्य स्पष्टीकरण तथा सुस्पष्ट दार्शनिक विवेचन है। लेखक बहुपठित और अधीती व्यक्तित्व के स्वामी हैं। इसलिए वे किसी भी महत्त्वपूर्ण अवधारणा का स्पष्टीकरण अनेक अंतर-पाठों (Inter-Texts) के माध्यम से इस प्रकार करते हैं कि श्रोता/पाठक को पारिभाषिकों, अवधारणाओं और प्रतिपाद्य का सांगोपांग समीचीन ज्ञान प्राप्त हो जाए। कहना होगा कि गहन-गंभीर दार्शनिक ज्ञान को इतनी सरलता-सहजता से हृदयंगम करा देने की क्षमता ही इस भाष्य की सफलता है। निश्चय ही इस ग्रंथ से हिन्दी में निर्वचन की एक बहुत श्रेयस्कर और महत्त्वपूर्ण परम्परा का आरंभ होता है। दार्शनिक निर्वचन की इतनी स्वच्छ प्रस्तुति हिन्दी में विरल है। शास्त्री जी ने इस सम्पूर्ण भाष्य का श्रेय अपने गुरुवर—स्वामी अखंडानंद जी सरस्वती—को प्रदान किया है, जो उनके चित्त में गुरु की निरंतर विद्यमान स्मृति और उनके प्रति इनकी अनन्य गुरुभक्ति का पावन प्रमाण है।

शास्त्री जी की इस भाष्य-कृति से राजा राममोहन राय की संस्कृत-विषयक गलत धारणा का भी स्वतः खंडन हो जाता है। संस्कृत साहित्य आत्मज्ञान एवं ब्रह्मज्ञान-विषयक चिंतन का भंडार रहा है। इस दृष्टि से इसके शीर्ष महत्त्व को यूरोपीय विद्वानों तक ने स्वीकार किया है। पर ११ दिसंबर, १८८३ को 'आधुनिक भारत के निर्माता' के विरुद से विभूषित राजा राममोहन राय ने भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल एमहर्स्ट को एक लम्बा पत्र लिखकर संस्कृत भाषा-साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की समृद्ध परम्परा की खिल्ली उड़ाते हुए 'आत्मरिक्ति' का जो उदाहरण प्रस्तुत किया था वह अविस्मरणीय है। यहाँ अपनी ज्ञान-गरिमा को भूल कर उन्होंने पाश्चात्य ज्ञान की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी— "My Lord, while we looked forward with pleasing hope to the dwan of knowledge thus promised to the rising generation, our hearts were filled with

सौजन्य : दीपाली-प्रशान्त बैनर्जी 'शिखाला', २-बी, यादव घोष डाई लेन, बेहाला, कोलकाता-६१

mingled feelings of delight and gratitude; we already offered up thanks to Presidence for inspiring the most generous and enlightened of the Nations of the west with the glorious ambitions of planting in Asia the arts and sciences of Modern Europe." उस पत्र में यह बताया गया था कि संस्कृत अत्यंत कठिन भाषा है और यह पढ़ने-पढ़ाने योग्य नहीं है— "The Sanskrit language, so difficult that almost a life time is necessary for its perfect aquisition, is well known to have been for ages a lamentable check on the diffusion of language; and the learning concealed under this almost impervious veils far from sufficient to reward the labour of aquiring it." संस्कृत साहित्य की मूल आत्मा को बिना समझे ही उन्होंने यह भी लिख मारा था कि यह शिक्षा-पद्धति देश को अँधेरे में रखने वाली सिद्ध होती, यदि ब्रितानी विधायिका इस नीति को चलाती रह गयी होती— "In the same manner the Sanskrit system of education would be the best calculated to keep this country in darkness, if such had been the policy of the British Legislature." ऐसे लिखते हुए उन्होंने संस्कृत व्याकरण, वेदांत, मीमांसा और न्याय जैसे दार्शनिक विषयों के अध्ययन की व्यर्थता भी सिद्ध कर डाली थी। दूसरे शब्दों में उन्होंने आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान-विषयक उपलब्ध समस्त संस्कृत वाङ्मय पर ही प्रहार कर डाला था। इस संदर्भ में 'ज्ञान और कर्म' में निवेदित आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की निम्नलिखित उक्ति विचारणीय है— "अपनी परम्परा का गौरव हमको करना चाहिए। हमारी परम्परा, हमारी विद्या व्यक्ति-निर्भर नहीं है। किसी एक आदमी को इलहाम हो गया, उसने जो कहा वही परम सत्य है, हम ऐसा नहीं मानते। जब तक यह अनुभव दूसरों के द्वारा तदनुरूप प्रयोग के द्वारा सिद्ध नहीं होता तब तक वह प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।" (पृष्ठ-१८१)। राजा राममोहन राय ने जहाँ वेदांत का परिहास इसलिए किया था कि वह दृश्यमान् जगत् को मिथ्या मानता है, सगे-संबंधियों के अस्तित्व और प्रेम को नकारता है; वहीं शास्त्री जी ने वेदांत की महत्ता को स्थापित करते हुए लिखा है— "यह जो हम अपने को सीमित करते हैं और सीमित करके हम दूसरों को अपने से भिन्न, पृथक् मानते हैं, यही अविद्या का खेल चल रहा है। 'ईशावास्योपनिषद्' इसी का पर्दाफाश करता है। इसी को प्रकाशित करता है, वेदान्त के प्रकाश का पहला आदेश है इसी अविद्या के अंधकार को छिन्न-भिन्न कर देने के लिए।" (पृष्ठ-४३)

शास्त्री जी ने '**अनुवचन-एक**' में 'उपनिषद्' शब्द की व्युत्पत्ति को स्पष्ट करते हुए इसे अज्ञान का नाश करने वाला, ज्ञान प्राप्त कराने वाला तथा सांसारिक बंधन का शिथिलीकरण करने वाला कहा है। उनके अनुसार 'उप' उपसर्ग की व्यवधान-रहितता 'गुरु' और 'ब्रह्म'— दोनों के प्रति है। उपनिषद् वेद का चरम तात्पर्य है। यह वह 'ब्रह्मविद्या' है, जो अज्ञान को दूर कर ब्रह्म का साक्षात् बोध कराती है। 'ईशावास्योपनिषद्' वस्तुतः 'यजुर्वेदसंहिता' का चालीसवाँ अध्याय है। यह वेदसंहिता तथा यजुर्वेद का समापन अंश है। इसमें निरूपित महत्त्वपूर्ण, दार्शनिक सत्य को हृदयंगम करने के लिए श्रोता-पाठक में अन्तर्निहित गुणवत्ता अपेक्षित है। उपनिषद् के मर्म को समझने के लिए दुष्चारित्र्य से विरत होना होगा। इस हेतु विवेक, वैराग्य, षष्ठ सम्पत्ति और मुमुक्षा अनिवार्य हैं। शास्त्री जी ने बहुत अच्छी तरह बुद्धि के सात गुणों को स्पष्ट किया है तथा यह भी बता दिया है कि उपनिषद् का मर्म न तो प्रवचन से प्राप्त होता है, न ही बुद्धि से और न ही सत्संग की निरंतरता से। यहाँ सबसे बड़ी शर्त 'प्रपत्तिभाव' की है कि 'मैंने प्रभु की शरण ग्रहण कर ली। अब वे भी मुझे स्वीकार कर लें।'

सौजन्य : प्रीति-अनूप कानोड़िया, हंगरफोर्ड स्ट्रीट, कोलकाता

दूसरे अनुवचन में शास्त्री जी ने 'संस्कार्य', 'विकार्य', 'उत्पाद्य' और 'आप्य' जैसे कर्मों की स्पष्ट व्याख्या की है। उपनिषदों के विवेच्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने इसे 'आत्मा का ब्रह्म से अद्वैत' कहा है। 'जो आत्मा है वही ब्रह्म है' — यह बोध ही हमें शोक और दुःख से मुक्त करता है। शास्त्री जी ने औपनिषदिक अद्वैतवाद और एकेश्वरवाद में आकाश-पाताल का अंतर बताया है। अद्वैतवाद ब्रह्म से इतर कुछ भी नहीं मानता। वह संख्यातीत है। उपनिषदों का प्रतिपाद्य आत्मा और ब्रह्म का यही अद्वैत है और उपनिषद् इसका प्रतिपादक ग्रंथ है। ब्रह्म का ज्ञान अविद्या के आवरण को छिन्न कर देने से ही होता है। अतः उपनिषद् का प्रयोजन सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति और परमानंद की प्राप्ति है। यह समस्त शोकों, मोहों और पापों से हमें पार कराती है।

'ईशावास्योपनिषद्' के आरंभ में 'शांतिपाठ' आया है। वास्तव में यह एक अंतर-पाठ है, जो मूलतः 'बृहदारण्यक उपनिषद्' का अंश है। हमारी मनःस्थिति निरन्तर परिवर्तनशील बनी रहती है। ऐसी मनःस्थिति में उपनिषद् का अर्थ समझ में नहीं आ सकता। इसलिए ही शांतिपाठ का विधान है। शास्त्री जी ने इस संदर्भ में 'अध्यारोप' और 'अपवाद' की अवधारणा को अच्छी तरह स्पष्ट किया है। वस्तु में अवस्तु का आरोप करना ही 'अध्यारोप' है और समस्त अवस्तुओं को बाधित कर देना और वस्तुमात्र का बोध करा देना ही 'अपवाद' है। यहाँ इन दोनों के द्वारा ही वस्तु की समझ को खोला जाता है। इस तरह 'अध्यारोप' और 'अपवाद'—दोनों ही विशिष्ट औपनिषदिक प्रक्रियाएँ हैं। शास्त्री जी के अनुसार गणित में जहाँ 'अनंत' की भाषा का प्रयोग होता है वहाँ उपनिषद् में 'पूर्ण' की भाषा का प्रयोग हुआ है। तस्वीर चाहे जितनी बड़ी हो या जितनी छोटी वह अपने-आप में पूर्ण है। शांतिपाठ उपनिषदों में आरंभ और समापन—दोनों संदर्भों में होता है। आरंभ में श्रद्धाहेतु और अंत में उसका साक्षात् अपरोक्ष अनुभव हो जाने के कारण। उन्होंने 'ओऽम् शांतिः शांतिः शांतिः' की त्रिधा आवृत्ति को आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक— तीनों प्रकार के तापों की शांति की दृष्टि से साभिप्रायित किया है।

अनुवचन तीन में बताया गया है कि उपनिषद् का अर्थ ग्रहण करने के लिए मन में शांति का होना अपेक्षित है। इस शांतिपाठ के आरंभ में 'ॐ' आया है। 'ओऽम्' की महिमा का गान सारे वेद करते हैं। बड़े-बड़े तप भी इसका निरूपण करते हैं। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि इसके लिए ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। 'ओऽम्' ही अक्षर-ब्रह्म है, जिसे जान लेने से सारी इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं। इसका ज्ञान ब्रह्मलोक में महीयान कर देने वाला है। यह नादब्रह्म और परब्रह्म का वाचक है। यही 'प्रणव' है। आच्छादकत्व अविद्या का धर्म है। 'मल', 'विक्षेप' और 'आवरण' — तीन ऐसे दोष हैं, जिनसे हमें भ्रांत बोध होता रहता है। 'मल' कर्मजन्य और वासनाजन्य— द्विरूपी है। 'विक्षेप' वस्तुस्थिति को समझने में बाधक है। इस प्रकार 'मल' और 'विक्षेप'— दोनों आवरण का कारण बन जाते हैं। प्रत्यय भी दो प्रकार के हैं— 'अहम्' प्रत्यय और 'इदम्' प्रत्यय। 'अहम्' प्रत्यय विषयी का अनुभव कराता है, जबकि 'इदम्' प्रत्यय विषय का। विषयी चेतन, एक, अपरिवर्तनशील, भावाबोध-रहित और द्रष्टा होता है, जबकि विषय जड़, अनेक, परिवर्तनशील और भावाबोध-सहित होता है।

शास्त्री जी ने 'ईशावास्य' के प्रथम मंत्र की तीन भिन्न दृष्टियों से व्याख्या की है। ये भिन्न दृष्टियाँ क्रमशः शंकराचार्य, रामानुजाचार्य और उनके गुरु स्वामी अखंडानंद महाराज की हैं। प्रथम मंत्र की पहली प्रोक्ति है— 'ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।' तीसरे अनुवचन में उन्होंने बताया है कि शंकराचार्य के अनुरूप इस मायारूप संसार में जो कुछ है वह ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय है। उन सबकी अपनी पृथक्-पृथक् नाम-रूप वाली

सौजन्य : रीतू सरावगी, सरावगी हाउस, ३८ स्ट्रीट, कोलकाता-७०० ०१६

सत्ता है। इसके मिथ्या होने के कारण इसे बाधित करना और इन सबको एकमात्र सत्य— 'ब्रह्म' से आच्छादित करना जरूरी है। शास्त्री जी ने इस मंत्र की सुस्पष्ट व्याख्या की है। उनके अनुसार "यह वैसे ही कहा गया है जैसे यह कहा जाए कि सोने के गहनों को सोने से आच्छादित कर दो। जैसे चीनी से बने खिलौनों को चीनी से बना मान लो, जैसे मिट्टी के घड़े को, सुराही को, सँकोरे को मिट्टी का बना मान लो। वैसे ही सारी सृष्टि के अलग-अलग, पृथक्-पृथक् भासमान आभासों में वही एक तत्त्व व्याप्त है। सबको इसीसे आच्छादित कर दो और उससे भिन्न अन्य सभी प्रतीयमान सत्ताओं को बाधित कर दो।" (पृष्ठ-४६)। मंत्र की अगली उक्ति— 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा'— की व्याख्या है कि इन विविध नाम-रूपों को त्यागकर अपने वास्तविक आत्मस्वरूप का पालन करो, व्यावहारिक रूप का नहीं। व्यावहारिक रूप अभावग्रस्त है, सीमित है, पर वास्तविक रूप इन सबसे मुक्त 'ब्रह्म' है। इसीलिए 'मा गृधः कस्यस्विद् धनम्' का निर्देश है, गृद्ध दृष्टि नहीं रखने—आसक्ति, लोभ का भाव नहीं रखने—का निर्देश है। इस संसार में धन किसी का भी नहीं है। अतः हम लालच न करें, धन के पीछे पागल न बनें, कामना करके अपने को तुच्छ, लघुतम सिद्ध न करें, अपितु अपनी प्रज्ञा के अनुरूप जिएँ।

शास्त्री जी ने **चौथे अनुवचन** में रामानुज के अनुसार इस मंत्र का भाष्य किया है। यहाँ संसार के अचित् और चित् तत्त्व का ब्रह्म से अद्वैत है। शास्त्री जी के शब्दों में "जब चिदाचिद् विशिष्ट ब्रह्म का अद्वैत तत्त्व सिद्ध किया जाता है, तो इसमें दृष्टि यह होती है कि यह जगत् प्रभु का शरीर है और असंख्य जीव इसके अंश हैं। अनार में जो छिलका है वह है अचित् तत्त्व और अनार के जो दाने हैं वे हैं चित् तत्त्व, असंख्यजीव। जैसे अनेकों दानों के साथ छिलके वाला अनार एक है वैसे ही इस जड़ प्रकृति और असंख्य जीवों के साथ ब्रह्म एक है।" (पृष्ठ-५०)। यहाँ जगत् और जीवात्मा— दोनों सत्य हैं। पर यह सत्य ब्रह्म के विशेषण रूप में है। यहाँ ब्रह्म से जीव के नियाम्य-नियामक, सेव्य-सेवक, विशेष्य-विशेषण तथा धार्य और धारक संबंधों पर प्रकाश डाला गया है। रामानुज की दृष्टि इन सभी रूपों में जीव और ब्रह्म के संबंध का निरूपण करती है। इस संसार में जड़-चित् जो भी दीख रहा है, वह सब ब्रह्म से आच्छादित है। इन सबका नियामक, स्वामी, धारक, आश्रय ब्रह्म है। इस प्रकार रामानुजीय भाष्य के अनुसार इस मंत्र की पहली उक्ति संसार को ईश्वर-भावना से भावित करने वाली है। यह भक्ति की मूल दृष्टि है, जबकि परवर्ती उक्तियाँ उसकी वृत्तियाँ हैं। रामानुज के अनुसार 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' का अर्थ है कि उस परमात्म प्रभु के द्वारा दिये गये का भोग प्रसाद-रूप में करो, बिना हाय-हाय किये अपनी त्याग-वृत्ति से उसे स्वीकार करो, ग्रहण करो। शास्त्री जी रामानुज के मत को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सारा धन तो परमात्मा का है। इसलिए 'मा गृधः कस्यस्विद् धनम्'— गृद्ध दृष्टि से लोभ मत करो, चल-अचल किसी भी सम्पत्ति को अपनी नहीं मानो।

चौथे अनुवचन में ही भाष्यकार ने इस मंत्र की अर्थवत्ता का एक और उद्घाटन अपने पूज्य गुरु स्वामी श्री अखंडानंद जी महाराज के अनुरूप किया है। अखंडानंद जी 'ईशावास्य' के आरंभिक दो मंत्रों में चारों पुरुषार्थों की साभिप्रायता निरूपित करते हैं। उनके अनुसार इस आरंभिक दो मंत्रों की अर्थवत्ता 'मोक्ष' नामक चौथे पुरुषार्थ की है। शास्त्री जी ने बताया है कि पुरुषार्थों के क्रम में 'अर्थ' पहला पुरुषार्थ है, जिसके सभी साधन बाहरी हैं। पर जब यह साध्य बन जाता है तब अनर्थ करता है। इसका स्वामित्व परिवर्तनशील है। 'काम' दूसरा पुरुषार्थ है। शास्त्री जी के शब्दों में "काम पुरुषार्थ स्थिति, व्यक्ति और वस्तु के भोग के द्वारा हमें प्राप्त होता है।" यह पुरुषार्थ मन से भोग्य है। सो अर्थ की तुलना में यह आंतर पुरुषार्थ है। अर्थ और काम— दोनों भ्रांतिकर और दुःखकर हैं। इनकी

सौजन्य : रतन-तारा ट्रस्ट, २६-बी, कैमेक स्ट्रीट, कोलकाता

तुलना में धर्म और आंतर पुरुषार्थ है। यह निर्मल, शुद्ध बुद्धि में स्थित है और उससे प्रेरित भी है। यह अंध आकर्षण को रोकता है। 'मोक्ष' का क्रम सबसे बाद का है। शास्त्री जी के अनुसार "आत्म-स्वरूप का ठीक-ठीक बोध कर लेना, अपने स्वरूप को ठीक-ठीक समझ लेना यही मोक्ष है और मोक्ष हो जाने के बाद, मोक्ष की स्थिति में, जीवन्मुक्त की स्थिति में क्या किया जाए ? 'ईशावास्योपनिषद्' में यही विवेचन शुरू होता है।" (पृष्ठ-५६)। पूरे जगत् में ब्रह्म परिव्याप्त है। यह औपनिषदिक दृष्टि है। इस दृष्टि के अनुसार व्यवहार भी होना चाहिए। पर जब स्वीकृत दृष्टि के अनुरूप व्यवहार नहीं हो पाए तब 'प्रज्ञापराध' होता है। शास्त्री जी ने 'प्रज्ञापराध' की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए बताया है कि जब हम किसी चीज को जानते हुए भी उसे अपने आचरण में नहीं उतार पाते हैं तब वास्तव में हम 'प्रज्ञापराध' करते हैं। अपनी बुद्धि, अपनी स्मृति और अपनी धृति से भ्रष्ट होकर किया गया अशुभ कर्म ही 'प्रज्ञापराध' है।

अखंडानंद जी के अनुसार 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' में 'काम' पुरुषार्थ है। इसकी साभिप्रायता परमात्मा के द्वारा जो दिया गया है उसे प्रसाद रूप में स्वीकार करते हुए भोग करने, साथ ही अनासक्त रह कर भोग करने की है। 'मा गृधः कस्यस्विद् धनम्' में 'अर्थ' पुरुषार्थ निरूपित है। ज्ञान की दृष्टि से धन सत्य है, पर वह परमात्मा का है। और परमात्मा की वस्तु को निजी वस्तु नहीं माना जा सकता। अतः लोभ मत करो। इस मंत्र का अभीष्ट है कि "हम कामोपभोग भी परमात्मा के द्वारा दिये हुए को प्रसाद के रूप में ग्रहण कर त्याग के द्वारा करें और अर्थ पुरुषार्थ की सिद्धि भी हम अस्तेय के द्वारा, अपरिग्रह के द्वारा करें। ईशावास्य की मूल दृष्टि से निकलने वाली दो वृत्तियाँ हैं।" (पृष्ठ-५८)।

अनुवचन पाँच में दूसरे मंत्र की व्याख्या है, जिसका नाभिकेंद्र 'कर्म' है। यहाँ कर्मफल-भोग की अनिवार्यता पर प्रकाश डाला गया है, साथ ही संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्म की भी व्याख्या की गई है। मानव-जीवन को कर्म-योनि कहा गया है। यहाँ कर्म करने में उसकी स्वतंत्रता तथा फल भोगने में उसकी परतंत्रता का निरूपण हुआ है। कर्म-सिद्धांत भारतीयता का मूल सिद्धांत है।

छठे अनुवचन में जहाँ कर्म के बाँधने की विधि निरूपित हुई है वहीं अर्थ, पुत्र और यश के लिए वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा पर भी प्रकाश डाला गया है। विशेष प्रकार से कर्म करते रहने पर मनुष्य कर्मलिप्त नहीं होता, यद्यपि कर्म ही मनुष्य को बाँधता है। व्याख्याकारों ने इनकी भिन्नतापरक परिस्थितियों का सार्थक उद्घाटन किया है। उपनिषद्कार काम करते हुए ही सौ वर्षों तक जीने की कामना करता है। शास्त्री जी ने स्पष्ट किया है— "हिन्दू जीवन-दर्शन का, भारतीय जीवन-दर्शन का आधारभूत सिद्धांत कर्म-सिद्धांत है। इस कर्म-सिद्धांत को स्वीकार करके ही भारतीय संस्कृति का विकास हुआ है। कोई भी वैदिक सम्प्रदाय क्यों न हो, शैव हो, वैष्णव हो, शाक्त हो, गाणपत्य हो, सौर हो; कोई भी भारतीय अवैदिक सम्प्रदाय क्यों न हो, जैन हो, बौद्ध हो, सिक्ख हो— भारत में जितने धार्मिक सम्प्रदाय विकसित हुए हैं उन समस्त सम्प्रदायों में, समस्त पंथों में कर्म-सिद्धांत परम आदरणीय सिद्धांत के रूप में गृहीत है।" (पृष्ठ-६२-६३) कर्म करने और उसका फल भोगने के बीच में जो समय लगता है उसे 'कर्म-परिपाक' का समय कहते हैं। जिस काम को करने से या जिसे करने के पश्चात् अंतरात्मा को परितोष का अनुभव हो, मनुस्मृतिकार के अनुसार वही अच्छा काम है। शास्त्री जी ने यहाँ पुनर्जन्म पर भी प्रकाश डाला है और उसे कर्म-सिद्धांत का उपफल कहा है। यही जन्मान्तरवाद है। यहीं नित्यकर्म, काम्य कर्म, निषिद्धकर्म

सौजन्य : C. L. Agarwal Charitable Trust, 36/1, Deodar Street, Kolkata-700 019

और प्रायश्चित्त कर्म का स्वरूप भी स्पष्ट किया गया है। जब हमारा कर्म विवेक द्वारा प्रेरित होता है, तो हमारी उन्नति होती है।

छठे अनुवचन में आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने की वृत्ति को श्रेय, कल्याण और मंगल की वृत्ति कहा गया है। यहाँ कर्म के लेप पर प्रकाश डालते हुए कर्तृत्व के अहंकार, किये हुए कर्म की फलापेक्षा और किसी व्यक्ति, स्थिति और पदार्थ को राग और द्वेष के आकर्षण-विकर्षणवश निकट और दूर करने की इच्छा के रूप में निरूपित किया गया है। इस तरह कर्तृत्व का लेप, कामना का लेप और राग-द्वेष का लेप— ये लेप के तीन प्रकार हैं। ये ही हमें कर्मपाश में बाँधते हैं। परमात्मा में न तो कर्तृत्व का अहंकार है, न ही कर्मफल को पाने की स्पृहा और न ही किसी के भी प्रति राग-द्वेष। इस तरह 'ईशावास्योपनिषद्' की 'न कर्म लिप्यते नरे' उक्ति को भाष्यकार ने समीचीन रूप में स्पष्ट कर दिया है। यहाँ बुद्धि योग की सलाह भी दी गई है, क्योंकि काम करना करने वाले की बुद्धि से प्रमाणित होता है। वस्तुतः यह बुद्धि योग का आश्रय ही है, जिसे ग्रहण करने से चित्त का मेल होता है।

सातवें अनुवचन में नाम, रूप के मिथ्यात्व को समझाते हुए बिना नाम-रूप की विविधता में फँसे हुए कर्म करने की बात की गई है। यहाँ सौ वर्षों तक जीने का संदेश काम करते-करते ही जीने का है, ईश्वर का साक्षात्कार करते-करते ही जीने का है। यह संदेश उनके प्रसाद को ग्रहण करते हुए, त्याग के द्वारा भोग करते हुए तथा निर्लेपिता द्वारा अर्थ-व्यवहार करते हुए स्वधर्म को आचरित करते जीने का है। शास्त्री जी ने यहाँ यह अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है कि क्रोध और लोभ काम के ही बदले हुए रूप हैं। इन दोनों के मूल में 'काम' ही सक्रिय है। उन्होंने योगदर्शन में निरूपित मन की मूढ़-विमूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध जैसी अवस्थाओं पर भी प्रकाश डाला है। ईसाइयत में और यहूदी धर्म में 'पाप' आधारभूत है। पर योगशास्त्र की दृष्टि में मन ज्योतिस्वरूप है। 'ईशावास्य' के अनुसार जो अपनी भूल को भूल नहीं मानता तथा अपने दोष को परमात्मा को निवेदित नहीं कर देता वह 'आत्महन्ता' है। शास्त्री जी ने यहाँ स्पष्ट कर दिया है कि 'आत्महन्ता' वह नहीं है जो अपने शरीर का स्वयं अंत कर देता है, अपितु 'आत्मा' के स्वरूप को नहीं समझने वाला तथा उसका अन्यथा प्रतिपादन करने वाला ही 'आत्महन्ता' है। यही नहीं, जो मानव-शरीर का सदुपयोग नहीं करता वह भी 'आत्महन्ता' है। जो शरीर, गुरु और भगवत्कृपा से भी संसार-सागर को पार नहीं कर पाता है यहाँ उसे भी 'आत्महन्ता' कहा गया है। जिस व्यक्ति को भगवद्कथा अच्छी नहीं लगती, जो मंत्र-निर्दिष्ट मार्ग को स्वीकार नहीं करता वह भी 'आत्महन्ता' ही है।

आठवें अनुवचन में शास्त्री जी ने स्पष्ट किया है कि जो ब्रह्म सृष्टि में विराजमान है वही आत्मा के रूप में जीव के भीतर भी विद्यमान है। यह ब्रह्म वाणी का विवेच्य नहीं है। जिससे वाणी बोली जाती है वह यद्यपि वाणी और मन से परे है, पर वाणी और मन का विषय भी है। पर उसकी व्याख्या 'शाखाचंद्रन्याय' जैसी है। उपनिषद् में उसे गतिहीन, गतिशील तथा अपरिणामी कहा गया है। वह अविकृत अधिष्ठान है, जिसमें विश्व की सारी गतिशील वस्तुएँ और अभिव्यक्तियाँ कम्पन कर रही हैं। वह द्रष्टा भी है और साक्षी भी है। वह आत्मस्थित और अविकृत है। वह एक ओंकार है। वह 'एकमेवाद्वितीय' है। वह मन से भी तेज गति वाला है। मन उसे पा नहीं सकता। शास्त्री जी ने यहाँ 'देवता' के लक्षण को स्पष्ट करते हुए बताया है कि जो द्योतित करे, प्रकाशित करे वही देवता है। देवता शरीर के भीतर भी है और बाहर भी। वह देश और काल— दोनों से परे और दोनों से आगे है।

नौवें अनुवचन का विवेच्य 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म' और उनके द्वारा सृष्टि का किया गया विस्तार है। यही

सौजन्य : रतन-ताशा दूगड़, २६डी, कैनेक स्ट्रीट, कोलकाता

धर्म-काव्य की विरोधाभासी भाषा में यह बताया गया है कि वह परम तत्त्व चलता है और नहीं भी चलता है; वह बहुत दूर है और बहुत निकट भी है; वह सबके भीतर है और सबके बाहर भी है। ठीक यही उक्ति गीता में भी कही गई है। इस तरह यह विरोधाभासी उक्ति ब्रह्म-विषयक गंभीरता का निरूपण करती है। व्याख्याकार ने यहाँ ब्रह्म के निरूपण की तीन विधियों का उल्लेख किया है— १. विधिमुख विवेचन, २. निषेधमुख विवेचन और ३. परस्पर विरोधीभावपरक विवेचन। ब्रह्म के दो रूप माने गये हैं— १. निरुपाधि और २. सोपाधि। ब्रह्म वाणी का विषय नहीं है। गुरु का व्याख्यान तक मौन है। ब्रह्म ज्ञानी के, भक्त के निकट है और अज्ञानी से, अभक्त से बहुत दूर है।

दसवें अनुवचन में शास्त्री जी ने ब्रह्म की सर्वव्यापकता और उसकी अद्वैतता पर प्रकाश डाला है। जो अपने में सारे जीवों को और सारे जीवों में अपने को देखता है वह न तो किसी से घृणा करता है— 'ततो न विजुगुप्सते'; न ही उसे किसी प्रकार का संशय होता है— 'ततो न विचिकित्सते'। जब सब कुछ ब्रह्ममय है तब मोह कहाँ और शोक कहाँ ? 'मोह वैचित्यं' है। यह उलटा, विपरीत और प्रतीप ज्ञान है। जो नहीं है उसे स्वीकार कर लेना, यथा—नश्वर शरीर को सत्य मान लेना मोह है। जीव अपनी मोहग्रस्तता और नामरूपता से तभी मुक्त हो सकता है जब वह 'आत्म-यजन' करे— अपना होम करे, अपने में सबको और सबमें अपने को देखे। शास्त्री जी ने 'विवेक' को 'विचिर्' धातु से व्युत्पन्न बताया है, जिसका अर्थ है अलग-अलग करना। विवेक सत्-असत् को अलग-अलग कर देता है। सत् का ग्रहण और असत् का त्याग आवश्यक है। उपनिषद्कार हमारे इसी विवेक को शुद्ध करता है। ब्रह्म भीतर है, प्रतिरूप में है और उसके बाहर भी है। फिर भी हमें जो अपूर्णता की भ्रांति होती है उस भ्रांति का निराकरण कर देना, उसका निरसन कर देना ही उपनिषद् का उद्देश्य है। उनके अनुसार भारतीय 'अध्यात्म' की अवधारणा को अंग्रेजी का 'SPIRITUALISM' शब्द नहीं समझा सकता है। 'SPIRITUALISM' 'MATERIALISM' की विरोधी अवधारणा है। पर हमारा 'अध्यात्म' आत्मनिधि है। हमारे शरीर के भीतर जो कुछ भी है वह सब अध्यात्म है। इंद्रियाँ, मन, बुद्धि, आत्मा तथा इनकी वृत्तियाँ— काम, क्रोध, लोभ, उत्साह, श्रद्धा, भक्ति— सभी आध्यात्मिक हैं।

व्याख्याकार विशेष रूप में इस तथ्य पर प्रकाश डालता है कि मनुष्य की योनि ऐसी अकेली योनि है जो 'भोग योनि' और 'कर्म योनि'— दोनों हैं। अन्य मानवेतर योनियाँ केवल भोग योनियाँ हैं। व्याख्याकार के अनुसार ब्रह्म जब अभिव्यक्त स्थिति में रहता है तब उसे 'निर्गुण-निराकार' कहा जाता है, पर जब वह अपने को अभिव्यक्त करता है तब भी उसकी दो सत्ताएँ होती हैं— १. सगुण निराकार और २. सगुण साकार। इस्लाम और ईसाइयत में परमात्मा का स्वरूप सगुण-निराकार का है, पर हिन्दुत्व में सगुण-साकार का है। सगुण-निराकार में दिव्य गुणों का आरोप किया जाता है, जबकि निर्गुण-निराकार बुद्धि से परे है।

अनुवचन ग्यारह में उपनिषद् के आठवें मंत्र की व्याख्या है। इस में भाष्यकार ने यह बता दिया है कि शंकराचार्य इस मंत्र का आरंभ और समापन— दोनों ही पुल्लिंग रूप में ग्रहण करते हैं। इसलिए यहाँ जो लक्षण नपुंसक लिंग द्वारा निर्दिष्ट-निरूपित होते हैं उन्हें पुल्लिंग रूप में 'ब्रह्म' और 'आत्मा' का लक्षण मान लेना चाहिए। ब्रह्म सर्वव्यापी है, वही अधिष्ठान है। जो कुछ दिख रहा है वह उसी में अध्यस्त है। ब्रह्म ज्योति-स्वरूप है, प्रकाशक है। हमारी इंद्रियाँ भी प्रकाशिका हैं। प्रकाश की सत्ता भी उसी के कारण है। वह कायाहीन है। वह न तो स्थूल शरीर है, न सूक्ष्म शरीर। वह अपापविद्ध है, शुद्ध है। इसलिए वह अकारण शरीर भी नहीं है। वह पाप-पुण्य तथा कर्तृत्व-

सौजन्य : C. L. Agarwal Charitable Trust, 36/1, Deodar Street, Kolkata-700 019

अकर्तृत्व से परे है। वह आत्मशुद्ध, आत्मबुद्ध और सर्वव्यापी है। वह कवि है। वह द्रष्टा है। वह मनीषी है। 'मनीषा' मन पर शासन करने वाली बुद्धि को कहते हैं और मनीषी मन को शासित करने वाले को। सो वह सम्पूर्ण विश्व के मन पर शासन करने वाला है। वह परिभू है, सर्वव्यापी है, सबसे ऊपर है, सबके परे है, सबसे श्रेष्ट है, सबसे उत्कृष्ट है। व्याख्याकार के अनुसार एक ही में निर्गुण और सगुण – दोनों रूपों का निरूपण करके वेद इस बात को प्रतिपादित करता है कि परमात्मा निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकार भी हो सकता है।

वैष्णवाचार्यों ने यहाँ नपुंसक लिंग ग्रहण करने के कारण इस मंत्र में अनभिव्यक्त सत्ता का, निर्गुण-निराकार का वर्णन माना है। पर भाष्यकार के अनुसार इसमें भी तो थोड़ा गुण आरोपित है ही। 'शुक्रम्'— शुक्रज्योति के समान कह दिया, तो गुण तो हो ही गया— सगुण-निराकार।

इन दोनों से भिन्न अर्थ विनोबा भावे का है। उनके अनुसार इस मंत्र में आत्म-सत्ता या ब्रह्मसत्ता का विवेचन नहीं है। वह विवेचन 'तत्त्वज्ञ महापुरुष' का है। पहले जिसे दो मंत्रों में कह दिया गया है उसी विषय का यहाँ विस्तार किया गया है। शास्त्री जी का मानना है कि एक प्रत्यक्ष है, जो इंद्रिय-ग्राह्य है, दूसरा परोक्ष है, जो इंद्रियों के परे है, यथा– स्वर्ग, नरक। पर जो अपने भीतर है वह न तो प्रत्यक्ष है और न ही परोक्ष। उसका हम अनुभव करते हैं। अतः वही 'अपरोक्ष' है। काम, क्रोध, लोभ, उत्साह, नैराश्य— ये सब अपरोक्ष हैं और 'आत्मा' साक्षात् अपरोक्ष है। अतः इस मंत्र में 'आत्महन्ता' और 'आत्मवेत्ता' का अंतर स्पष्ट किया गया है।

बारहवें अनुवचन में शास्त्री जी ने 'विद्या' और 'अविद्या' का अंतर निर्दिष्ट किया है। 'विद्या' तो 'ब्रह्मविद्या' है, पर 'अविद्या' क्या है? 'अ' उपसर्ग स्वरूपतः बहुवर्थी है। वह निषेधपरक, विरोधपरक और भिन्नतासूचक– तीनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। व्याख्याकार के अनुसार यहाँ भिन्नतासूचक अर्थ ही अभीष्ट है। यद्यपि इन मंत्रों में 'अविद्या' 'विद्या' की विरोधिनी नहीं है, फिर भी यहाँ विद्या-अविद्या में असामंजस्य है। यहाँ 'समुच्चय' और 'समन्वय' शब्दों का अर्थ स्पष्ट करते हुए 'समुच्चय' को अनिवार्यतः साथ-साथ रहने और 'समन्वय' को एक के बाद एक के रूप में, क्रमशः रहने के रूप में व्याख्यायित किया गया है। 'ब्रह्मविद्या' का 'कर्म' से समुच्चय नहीं हो सकता, इसलिए विद्या और अविद्या— दोनों को साथ-साथ समुच्चय रूप में ग्रहण करना उचित नहीं है। 'बृहदारण्यक' उपनिषद् में मधु विद्या, पंचाग्नि विद्या आदि की चर्चा है। विद्या से देवलोक और कर्म से पितृलोक मिलता है। शंकराचार्य ने 'विद्या' को देवविषयक विद्या और 'अविद्या' को कर्मकांड कहा है। पर कर्म का भी अपना महत्त्व है। वह कर्म जो निष्काम है, जो लिप्त नहीं होता है, जो कर्त्तव्य कर्म है, जो यज्ञार्थ कर्म है, भगवद् समर्पित कर्म है उसे ज्ञानी भी सम्पन्न कर सकते हैं। उपनिषद् का यह मंत्र यह सोचने को विवश करता है कि किसके लिए कर्म कहाँ त्याज्य होता है? कहाँ कर्म से ऊपर उठा जाता है और उसे सम्पन्न किया जाता है? कर्म वहाँ आसक्ति है जहाँ वह हमें बाँधता है, हमें अन्धतम लोक में ले जाता है। अविद्या हमें आसक्ति-प्राप्त आशा से कर्म करने के लिए प्रेरित करती है।

अनुवचन तेरह में व्याख्याकार ने अगले मंत्र के 'सम्भूति' और 'असम्भूति' शब्द के अर्थ पर सुंदर विमर्श किया है। 'सम्भूति' और 'असम्भूति' 'सम्भव' और 'असम्भव' हैं। जैसे 'विद्या' और 'अविद्या' के अनेक अर्थ हैं वैसे ही 'सम्भूति' और 'असम्भूति' के भी। 'सम्भूति' का अर्थ है जो व्यक्त है, साकार है। 'असम्भूति' का अर्थ है जो कारण है, फलतः अव्यक्त है, निराकार है। संसार में 'कारण ब्रह्म' और 'कार्य ब्रह्म' — दोनों की उपासना करने वाले लोग हैं। मंत्रार्थ है कि जो केवल 'असम्भूति' की— कारण ब्रह्म की, अव्यक्त की, निर्गुण-निराकार की उपासना

श्रीजन्य : HARIRAM JI JAJODIA, 96, Muktaram Babu Street, Kolkata-700 007

करते हैं वे अँधेरे लोक में जाते हैं। अव्यक्त पर मन नहीं टिकता। पर इससे भी गहरे अँधेरे में वे जाते हैं जो केवल व्यक्त और कार्य ब्रह्म की उपासना करते हैं। ऐसा उपनिषद्कार का मत है। उसने इसे एक बड़ी परम्परा से प्राप्त किया है। यह उसका निजी मत नहीं, अपितु पूर्ववर्ती आचार्यों के अनुभव में उतरी हुई, उससे निकली हुई उक्ति है। यह हमारे अनुभव में भी उतर सकती है। व्याख्याकार की यह टिप्पणी बहुत सही है कि "परम्परा से प्राप्त ज्ञान का हम सम्मान करते हैं, किन्तु उसे अनुभूति का विषय बनाने के बाद ही स्वीकार करते हैं।" (पृष्ठ १८१)। पर शंकराचार्य अव्यक्त को केवल 'कारण ब्रह्म' नहीं मानते। उनकी दृष्टि में कारणभूत प्रकृति है और व्यक्त कार्यरूप ब्रह्म है। व्यक्त की उपासना करने वाले को अणिमा, लघिमा, गरिमा, महिमा, प्राकाम्य, प्राप्ति, ईशित्व, वशित्व— जैसी आठ सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। जो अव्यक्त की उपासना करता है उसे प्रकृति लय-रूपी शांति मिलती है। ऐसे में उपनिषद्कार का मत है कि दोनों ब्रह्म की उपासना युगपत् रूप में की जानी चाहिए। यहाँ शास्त्री जी ने तुलसीदास के एक दोहे का सुंदर अंतर-पाठ प्रस्तुत किया है—

"हिय निर्गुन नैनन सगुण, रसना राम सुनाम।
मनहुँ पुरट संपुट लसत, तुलसी ललित ललाम।।"

वस्तुतः 'सम्भूति' और 'असम्भूति' को, 'सगुण' और 'निर्गुण' को, 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' को साथ-साथ जानना 'ईशावास्योपनिषद्' का कथ्य है। 'असम्भूति' निरोध है और 'सम्भूति' विकास। केवल निरोध पर बल देने वाला अन्धलोक में चला जाता है। पर जो केवल ऐकांतिक विकास पर बल देता है वह भी अँधेरे लोक में ही जाता है। केवल सद्गुणों का विकास करते रहने का आग्रह और दुर्गुणों को दूर करने की विस्मृति भी खतरनाक है। विवेक के साथ वैराग्य चाहिए। 'सम्भूति' का एक और अर्थ है समाज और 'असम्भूति' का अर्थ है ऐकांतिकता, अपने को अलग मानकर समष्टि में न रहकर व्यष्टि में रहना। वास्तव में 'सम्भूति' और 'असम्भूति' की युगपत् साधना होनी चाहिए। इस मंत्र की विशेषता यह है कि यह गुरु और शिष्य— दोनों के द्वारा साथ-साथ पाठ किया जाने वाला अद्भुत मंत्र है।

'ईशावास्योपनिषद्' ज्ञान की उच्चतम भूमिका के सत्य का निरूपण करती है, निष्काम कर्म का प्रतिपादन करती है और भक्ति की सम्यक् प्राप्ति का संकेत देती है। इसके चारों अंतिम मंत्र प्रार्थना हैं। प्रार्थना को शास्त्री जी धर्म का अमृत-तत्त्व, उसका सार-सर्वस्व मानते हैं। प्रार्थना वास्तव में जीव और भगवान् को मिलाने वाली दूती है। उसका उद्भव जीवन की तन्मयता से है और उसकी सार्थकता आचरण पर निर्भर है। भक्त के लिए प्रार्थना साधन भी है और साध्य भी। सच्ची प्रार्थना तभी जन्म लेती है जब जीव का अपना बल थक जाता है।

इस उपनिषद् के आरंभ में ज्ञान के निरूपण की बात कही गयी है। दूसरे मंत्र में कर्म के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। पहले आठ मंत्रों में ब्रह्म के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। नौवें से चौदहवें मंत्र तक विद्या और अविद्या, सम्भूति और असम्भूति के समन्वय द्वारा ब्रह्मवेत्ता के आचरण और कर्म का निरूपण किया गया है। अंतिम चारों प्रार्थनाएं भक्ति का निरूपण करती हैं। इस दृष्टि से 'ईशावास्योपनिषद्' को ज्ञान, कर्म और भक्ति की 'मधुत्रयी' कहा जा सकता है।

अनुवचन पन्द्रह में शास्त्री जी ने 'भक्ति' को कर्ता-निरपेक्ष और क्रिया-निरपेक्ष— दोनों ही बताया है। यह केवल उद्देश्य-सापेक्ष है। उपनिषद् के मंत्र में अपने को सत्यधर्मा मानते हुए सत्य-स्वरूप मुख का दर्शन करने हेतु

सौजन्य : C. L. Agarwal Charitable Trust, 36/1, Deodar Street, Kolkata-700 019

इसके ऊपर पड़े हिरण्यमय आवरण को हटाने की प्रार्थना है। यहाँ यह भी निर्दिष्ट है कि इस आवरण को कैसे हटाया जाए। शास्त्री जी स्पष्ट करते हैं कि 'व्यूह' और 'समूह' जैसे पदों का प्रयोग 'विश्लेषण' और 'संश्लेषण' के अर्थ में हुआ है। 'रश्मि' द्वयर्थी है। वह किरण भी है और रुई का वह फाहा भी, जिससे रस्सी बनती है। 'किरण' चकाचौंध वाली है और रस्सी बाँधने वाली। हिरण्यमय स्वर्ण है– द्रव्य, धन और भोग का आकर्षण। बंधन से मुक्त या तो बंधन से बड़ा बनकर हुआ जा सकता है या छोटा बनकर। पर तीसरा मार्ग भी है। वह है बाँधने वाले के द्वारा बंधन को खोल दिया जाना। इस मंत्र-प्रार्थना में रश्मियों, रस्सियों को हटाने, खोल देने का आग्रह है।

'शरणागति' के विषय में शास्त्री जी स्पष्ट करते हैं कि जब प्रभु को साधन और साध्य— दोनों मान लिया जाता है तब शरणागति होती है। उन्होंने भगवत्-शरण की 'मृदु', 'मध्य' और 'अवधि'— तीनों भूमिकाओं का उल्लेख किया है। इसी तरह वे 'पुरुष' को व्याख्यायित करते हैं। 'पुर' में रहने वाला अर्थात् हमारे शरीर में रहने वाला परमात्मा ही 'पुरुष' है। दूसरे, जो हमारी कामनाओं को पूरा करता है वह 'पुरुष' है। तीसरे, जो हम पर शासन करता है वह भी 'पुरुष' है। मंत्र में वह पुरुष मैं ही हूँ, ऐसा स्वीकार किया गया है।

परमात्म-प्राप्ति के लिए एक दृष्टि ज्ञान-प्रधान है, दूसरी भक्ति-प्रधान और तीसरी समन्वयकारिणी। शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान के द्वारा ही वास्तविक मोक्ष मिलता है। भक्ति तो सीमित अमृत-तत्त्व है। ज्ञानात्मक दृष्टि से ब्रह्मज्ञान के पश्चात् परम मोक्ष की प्राप्ति होती है। ब्रह्मविद्या उपलब्ध होने और अविद्या के नष्ट होने पर ही मोक्ष मिलता है। संकल्प के अनुरूप कर्म होता है और बिना संकल्प के कर्म व्यर्थ हो जाता है। क्रिया भी इसी से जुड़ी है।

सोलहवें अनुवचन में 'ओऽम्' की स्मरणीयता निर्दिष्ट की गई है। 'ओऽम्' भगवान् का सर्वश्रेष्ठ वैदिक नाम है। प्रार्थना में उन्हीं को स्मरण करने का निर्देश है। एक दृष्टि से उत्तम कर्म के स्मरण की बात है। इसमें संकल्प-शोधन की भी उक्ति है। दूसरी दृष्टि से स्मरण का विषय स्वयं प्रभु हैं। दोनों को स्मरण करने से जीव का लिंग शरीर परमात्मा की ओर उन्मुख होगा। इसका एक अर्थ भगवान् द्वारा भक्त को स्मरण करने से है। आग्रह है कि हे प्रभु, मुझे याद करो, मेरी सुधि लो। हे यज्ञ-स्वरूप प्रभु, मुझे याद करो। मैंने कभी, कोई सत्कर्म किया हो, तो उसे ध्यान में रखते हुए मुझे अपना लो। ज्ञानी की दृष्टि है कि स्मरण प्रभु का करना है, भक्त की दृष्टि है कि स्मरण प्रभु ने करना है। इसके मूल में 'कृपा-सिद्धांत' का महत्त्व है और निश्चय ही वह 'कर्म-सिद्धांत' से बड़ा है। तीसरी दृष्टि दोनों का समन्वय करने वाली है। पर एक निर्वचन और है कि भगवान् के किये हुए को स्मरण करो। उनकी करुणा का स्मरण करो। यह निर्वचन विनोबा जी का है— "भगवान् का स्मरण करो और भगवान् ने जो तुम्हारे ऊपर असीम करुणा करके तुमको जो शरीर दिया मानव का, तुमको जो सत्संग दिया, तुमको जो गुरु दिये, तुमको जो शास्त्र दिये, तुम्हारे साथ जो लीला की, उन सबको स्मरण करो। इसी से हमारा मन परमात्मा की ओर उन्मुख होगा और हम पवित्र होंगे।" महर्षि अरविन्द के अनुसार 'क्रतु' शब्द का अर्थ 'WILL' है। वह प्रभु की इच्छा है। इस इच्छा-शक्ति से अपने-आप को जोड़ना होगा। सम्पूर्ण सृष्टि में चल रही प्रभु की लीला से अपने को जोड़ना होगा।

अनुवचन सत्रह में व्याख्याकार ने स्पष्ट किया है कि उपनिषद् की अंतिम चार प्रार्थनाओं में (दो सूर्य की, तीसरी वायु की और चौथी अग्नि की) 'भक्ति' को बहुत महत्त्व दिया गया है। विद्वानों का मत है कि ये चारों मंत्र मृत्यु के समय पढ़े जाने चाहिए। पर मृत्यु के समय इसका पढ़ा जाना भी, शास्त्री जी के अनुसार, तब तक सम्भव

प्राप्तिस्थान : R. S. Chitlangia Foundation, 113, Park Street, (North Block), 4th Floor, Kolkata-16

नहीं होगा जब तक हम इनको जीवन भर अपने आचरण में उतारने की साधना नहीं करते। सूर्य, वायु और अग्नि तत्त्वतः अलग-अलग न होकर एक ही तत्व के विभिन्न प्रतीक हैं। अग्नि पावक के रूप में हमें पवित्र करती है। वह अग्रणी है। हमें आगे ले जाती है। इस जाने के भी दो मार्ग हैं– १. देवयान और २. पितृयान। इनमें पहला 'अर्चि' मार्ग है और दूसरा 'धूम्र' मार्ग । 'अर्चि' मार्ग में प्रकाश है और 'धूम्र' मार्ग में धुआँ। 'अर्चि' मार्ग उत्तरायण का है और 'धूम्र' मार्ग दक्षिणायन का। उत्तरायण से जाने वाला मुक्त हो जाता है। दक्षिणायन से जाने वाले को पुनः इस लोक में आना पड़ता है। अग्नि से प्रार्थना है कि वह हमें सम्पदा हेतु उत्तम मार्ग से ले चले। यहाँ सम्पदा आत्मिक भी है। 'रयि' शब्द भी अनेकार्थी है। इसका एक अर्थ है किये हुए कर्म का फल, दूसरा अर्थ है परम धन, इष्टदेव प्रभु या मोक्ष। प्रार्थना करने वाले ने ईश्वर का साक्षात् किया है। उसकी यह प्रार्थना ईश्वर का दर्शन, ईश्वर का साक्षात्कार, ईश्वर से अभेद प्राप्त कर लेने के बाद की है। अग्नि का एक नाम 'जातवेदा' भी है। इसका अर्थ है जन्म से मृत्युपर्यन्त हमारे सारे आचरण को जानने वाला। 'जातवेदा' का अर्थ समस्त कर्मों को जानने वाला और समस्त मार्गों को जानने वाला भी है। प्रार्थना इसलिए कि हमारी कुटिलता और उससे उत्पन्न होने वाले पाप नष्ट हो जाएँ। हम सब अच्छे मार्ग पर चलें। यहाँ गुरु उपदेश दे रहा है। शिष्य के लिए बहुवचन का प्रयोग है। शौल की शुद्धि भी सामूहिक चाहिए। पर वल्लभ सम्प्रदाय के लोगों के लिए यह मंत्र-प्रार्थना ऋषि अपनी पत्नी और शिष्य— दोनों के लिए कर रहा है।

शास्त्री जी ने **अट्ठारहवें अनुवचन** में 'ईशावास्योपनिषद्' की महिमा स्पष्ट की है। इसमें प्रतीयमान विरोधाभासी शब्दों का आदर्श समन्वय है : परमार्थ और व्यवहार का, ब्रह्म और जगत् का, त्याग और भोग का, निष्कर्म और कर्म का, विद्या और अविद्या का, सम्भूति और असम्भूति का। इसमें इनके परस्पर अवलम्बन पर बल है। शास्त्री जी ने स्पष्ट किया है कि इस उपनिषद् के १८ मंत्रों में दो आरंभिक मंत्र मूल हैं, शेष सोलह मंत्र इनकी व्याख्या हैं। आरंभ के दोनों मंत्र सम्पूर्ण जीवन-दर्शन को व्यक्त करते हैं। तीसरे मंत्र में आत्मस्वरूप को नहीं जानने वाले 'आत्महन्ता' पर विमर्श है। चौथे, पाँचवें मंत्र में ब्रह्म को विरोधी धर्मों का आश्रय माना गया है। छठे, सातवें मंत्र में ब्रह्मज्ञानी का निरूपण है, जो सब में अपना और अपने में सबका अनुभव करता है। आठवें मंत्र में भी ब्रह्मज्ञानी का निरूपण है। पर यहाँ वैमत्य भी है। कुछ आचार्यों की दृष्टि में इसमें 'ब्रह्म' की महिमा का निरूपण है, तो कुछ आचार्यों की दृष्टि में 'ब्रह्मज्ञानी' की महिमा का। इन मंत्रों में पहले मंत्र की व्याख्या चौथे से आठवें मंत्र तक हुई है और दूसरे मंत्र की व्याख्या नौवें से चौदहवें मंत्र तक की गई है। वस्तुतः इन छह मंत्रों में कर्म कैसे किया जाना चाहिए, इसका निरूपण है। संसार का हर-कुछ ईश्वर द्वारा आच्छादित है। यहाँ त्याग के द्वारा भोग करने का संदेश है, त्याग के द्वारा आत्मस्वरूप के पालन का निर्देश है। लालच को छोड़ने और पराये धन की कामना न करने पर, कर्मोपरांत फलाशा नहीं रखने पर तथा कर्म करने के अहंकार को त्यागने पर बल है, जिससे हमें कर्म का लेप न लगे। शास्त्री जी के अनुसार 'ईशावास्योपनिषद्' के अंतिम मंत्र में ब्रह्म के निर्गुण और सगुण— दोनों रूप का समन्वय हुआ है। पर उन्होंने एक अन्य दृष्टि के अनुसार इसमें 'ब्रह्मज्ञानी' की स्थिति का भी उल्लेख किया है।

सम्प्रेषण व्याकरण की दृष्टि से यह प्रश्न स्वाभाविक है कि 'ईशावास्योपनिषद्' का रचयिता कौन है? यहाँ वह किसे सम्बोधित कर रहा है और क्यों कर रहा है? उसकी प्रार्थना क्या है? क्या ईशावास्योपनिषद्कार प्रार्थना करने की स्थिति में हो सकता है, क्योंकि जिसे यह अनुभव प्राप्त हो जाए कि वह सब में है और सब उसमें है, उसके

सौजन्य : C. L. Agarwal Charitable Trust, 36/1, Deodar Street, Kolkata-700 019

लिए भला प्रार्थना की क्या आवश्यकता? ब्रह्मज्ञानी भला किससे प्रार्थना करेगा? शास्त्री जी का विचार है कि यहाँ गुरु प्रार्थना कर रहा है और यह प्रार्थना शिष्यों की ओर से है। ऋषि प्रार्थना कर रहा है और यह प्रार्थना हमारी ओर से है। ज्ञानी और उपलब्ध व्यक्ति प्रार्थना कर रहा है और यह ज्ञान तथा उपलब्धि चाहने वालों की ओर से है। वस्तुतः यह प्रार्थना उन सबके लिए है जिन्होंने ब्रह्म का अनुभव नहीं किया है और इसलिए है कि वे उसको अनुभूत कर सकें, उपलब्ध कर सकें। प्रार्थना इतनी ही है कि जो ढका हुआ सत्य है उसे उद्घाटित कर दो। मैं सत्य का दर्शनार्थी हूँ। शास्त्री जी बताते हैं कि जिसकी दर्शनेच्छा से जीवन भर साधना की जा रही है, उपनिषद् को सामान्यतः वहीं समाप्त हो जाना चाहिए था। पर इसे वहीं समाप्त न कर इसके बाद भी दो प्रार्थना-मंत्र और दिये गये हैं। ऐसा इसलिए है कि ब्रह्मज्ञान होने के बाद भी शरीर का तुरंत परित्याग तो नहीं हो जाता। अतः अंतिम मंत्र-द्वय की प्रार्थना समुचित है और सोद्देश्य भी है। वह इसलिए है कि शरीर की प्रकृति कहीं जीव पर हावी न हो जाए।

अंततः स्वीकार करना पड़ेगा कि आचार्य विष्णुकांत शास्त्री–विरचित 'ज्ञान और कर्म' पुस्तक हमें सम्यक् ज्ञान और समीचीन कर्म की दिशा में उन्मुख करने वाली एक अत्यंत महत्वपूर्ण, पठनीय और संग्रहणीय कृति है, जो हमें अपनी परम्परा, अपनी संस्कृति और अपनी आत्मिक समृद्धि का गरिमापूर्ण संज्ञान प्रदान करती है। यह ग्रंथ कहीं से भी अनुवाद नहीं लगता। इस भाष्य की सबसे बड़ी क्षमता ही इसकी सर्जनात्मक प्रतीति है। आज भारतीय साहित्य में जो लेखन हो रहा है, वह न केवल पश्चिमी संस्कृति से प्रभावित है, अपितु उसे आयातित करने वाला भी है, ऐसे में भारतीय देन को उजागर करने वाले लेखन की भूमिका प्रशंसनीय है, जो हमें 'आत्मरिक्ति' से उबारती और 'आत्महन्ता' होने से बचाती है। मेरा सुझाव है कि अंग्रेजी में और विश्व की विभिन्न भाषाओं में इस भाष्य का अनुवाद किया जाना चाहिए। हिन्दी में भारतीय अस्मिता और पहचान को ज्ञापित करने वाला जो सर्जन ललित और चिन्तनात्मक लेखन के क्षेत्र में कुबेरनाथ राय ने किया है वैसा ही महत्त्वपूर्ण और श्रेयस्कर चिंतन-सर्जन आचार्य विष्णुकांत शास्त्री ने अपने निबंधों और भाष्यों के द्वारा प्रस्तुत किया है। हमें आशा है कि अपने व्यस्ततम जीवन-क्षणों के बीच भी वे हिन्दी के पाठकों के लिए 'श्रीमद्भगवद्गीता' तथा अन्य उत्कृष्ट भारतीय चिंतनात्मक ग्रंथों का ऐसा ही सर्जनात्मक भाष्य प्रस्तुत करेंगे। निश्चय ही 'ज्ञान और कर्म' को पढ़कर पाठक का मस्तक गर्वोन्नत होगा और आत्म-समृद्धि की दिशा में उसे आचरण करने की प्रेरणा भी प्राप्त होगी। ●

सौजन्य : C. S. Sales Pvt. Ltd., 154, Jamunalal Bajaj Street, Kolkata-700 007

डॉ० जगन्नाथ सेठ

'अनंत पथ के यात्री धर्मवीर भारती'

धर्मवीर भारती पर आत्मीयतापूर्ण संस्मरण

धर्मवीर भारती ने अपनी असाधारण प्रतिभा से हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं को समृद्ध किया है। उनके कालजयी साहित्य का परिचय पाना पाठक के लिए सरल है, किन्तु उस साहित्य के पीछे जो बहुआयामी व्यक्तित्व है, उससे परिचित होना केवल उन्हीं के लिए संभव है जो उनके व्यक्तिगत, निकट संपर्क में रहे हैं। लेखक विष्णुकान्त शास्त्री की दृष्टि में ऐसे व्यक्तियों का यह उत्तरदायित्व है कि वे उनके (भारती के) जीवन के संवेदनशील प्रसंगों को प्रामाणिकता के साथ लिपिबद्ध कर जायें ताकि आनेवाली पीढ़ियाँ उनको यथासंभव समग्रता में समझ सकें। इसी दायित्व-बोध से लेखक स्वयं भारती को व्यक्ति के रूप में जितना समझ पाया, संस्मरणों के माध्यम से उनका उतना रूप समकालीनों और परवर्तियों के लिए उसने प्रस्तुत किया है। लेखक को लगता है कि यात्रा-प्रेमी भारती शरीर त्याग कर लंबी यात्रा पर चले गये हैं, इसलिए अब वे 'अनंत पथ के यात्री' हैं।

पुस्तक में कुल सात लेख हैं और अंत में परिशिष्ट। 'क्योंकि है सपना अभी'[१] शीर्षक लेख में भारती का सार्वजनिक जीवन ही अधिक उभरा है और उसके साथ लेखक का अपना व्यक्तित्व भी। भारती से लेखक का व्यक्तिगत परिचय १९५८ में हुआ। इसके बाद महानगर में आयोजित गोष्ठियों में और भारती के कलकत्ता-प्रवास के अवसरों पर वह बढ़ता गया। १९६० में धर्मयुग के संपादक होने के बाद कलकत्ते में एक चाय-पार्टी में उन्होंने जिन साहित्यकारों को आमंत्रित कर उनसे लेखकीय सहयोग मांगा, उनमें लेखक भी था। फिर तो रचना भेजने के लिए लेखक को भारती के बराबर पत्र आते रहे, और उसकी स्वीकृति है कि उसे लेखक बनाने का श्रेय मुख्यतः भारती को और नामवर सिंह को है।

१९६४ में प्रख्यात नाट्य-संस्था 'अनामिका' द्वारा आयोजित नाट्य-महोत्सव में भारती के प्रसिद्ध नाटक 'अंधायुग' के प्रभावशाली मंचन, नाट्य-संगोष्ठी में प्रमुख वक्ता के रूप में उनके विचारोत्तेजक व्याख्यान, आधुनिकता के पक्ष में आक्रामक विचार और दूसरी ओर उनके विनोदी स्वभाव की उत्फुल्लता ने लेखक को बहुत प्रभावित किया। उसे यह बहुत प्रीतिकर लगा कि विश्वविद्यालय का पूर्व प्राध्यापक, धर्मयुग का संपादक, अपने पर, दूसरों पर, हँस भी सकता था, हँसा भी सकता था।

भारती को नास्तिक वैष्णव कहा जाता है, लेकिन लेखक के अनुसार उनकी कथित नास्तिकता और अनास्था के पीछे कहीं बहुत गहरी आस्था छिपी थी जो उनकी कृतियों, चिट्ठियों और कहानी में भी झलकती थी। वे लेखक के घर जाते तो ठाकुरघर में परिवार के कुलदेवता राधाकृष्ण की प्रतिमाओं के आगे माथा अवश्य टेकते।

---

१. अनंत पथ के यात्री—धर्मवीर भारती : विष्णुकान्त शास्त्री, प्र. प्रभात प्रकाशन, ४/१९, आसफअली रोड, नयी दिल्ली-११०००२, प्र. सं. १९९९, आकार-डिमाई, पृ.-सं. ११९, मूल्य १२५.००।

सौजन्य : C. L. Agarwal Charitable Trust, 36/1, Deodar Street, Kolkata-700 019

निर्जन एकांत में हनुमान-मंदिर, गुलाब के फूल और नीम करोली के बाबाजी से संबंधित एक अलौकिक अनुभव-प्रसंग भी उन्होंने लेखक को सुनाया, किन्तु उसकी बौद्धिक व्याख्या नहीं कर पाये।

'क्योंकि है सपना अभी भी' में भारती के सार्वजनिक जीवन के साथ उनका तेजस्वी योद्धारूप भी चित्रित है। १९७४ में 'हिन्दी दिवस' पर लखनऊ में उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री हेमवतीनंदन बहुगुणा की उपस्थिति में भारती ने राजनेताओं पर कटाक्ष करते हुए कहा कि हिन्दी राजभाषा होने का दंड भोग रही है; हर बहका हुआ राजनीतिज्ञ हिन्दी पर हमला करता है। १९७५ में नागपुर में हुए 'विश्व हिन्दी सम्मेलन' में विश्वमानव का मूल्यगत संकट तथा भाषा और लेखन के संदर्भ में युवा पीढ़ी की मानसिकता विषय पर आयोजित गोष्ठी में वे विषय-प्रवर्तन कर रहे थे। कुछ युवकों के हूटिंग करने पर उन्होंने दृढ़ता से कहा कि मैं युवा पीढ़ी के प्रवक्ता के रूप में नहीं, नौकरी, आजीविका या दलाली के आधार पर नहीं, अपनी धरती के रस से पुष्ट अपने चिंतन-मनन, लेखन के आधार पर बोल रहा हूँ। मुक्त मन से बतियाना, गपशप करना, कहकहे लगाना, मटरगश्ती करना भारती को भी पसंद था, लेखक को भी पसंद है, अतः ऐसे प्रसंगों को वह बड़े प्यार से याद करता है।

लेखक के अनुसार विचार-स्वातंत्र्य में भारती की गहरी निष्ठा थी। अतः १९७५ में आपात्काल की घोषणा से वे तिलमिला उठे। लेखक को लिखे 'एक सर्वथा निजी पत्र' के अनुसार उस समय धर्मयुग का ६ जुलाई का अंक तैयार था, लेकिन सेंसर से पहले जब उन्हें बताया गया कि उस सामग्री में बहुत कुछ वे नहीं छाप सकते, तो घोर आत्ममंथन के बाद उन्होंने तय किया कि ६ जुलाई का अंक ही नहीं छापेंगे। उनके लिए वह तीव्र मानसिक यंत्रणा का समय था। उसी वर्ष एक और गहरा आघात लगा—बंगबंधु शेख मुजीब की हत्या के कारण। हृदय सूख गया। उस पर सेंसर का आदेश—उस घटना के अलावा और कोई कमेंट न छापा जाये। उनका मन जैसे दुबारा मर गया।

'क्योंकि है सपना अभी भी' में १९७७ और उसके बाद की राजनीतिक स्थिति का—जनता पार्टी के गठन, उसके भीतरी कलह, बंगाल की स्थिति का—संक्षिप्त वर्णन है। लेखक का जनता पार्टी का विधायक बनना, जनता पार्टी का टूटना, भारतीय जनता पार्टी का गठन आदि के संबंध में उनकी प्रतिक्रिया, मनःस्थिति जगह-जगह उद्धृत उनके पत्रांशों से स्पष्ट होती है। उत्तर प्रदेश विधान सभा से राज्य सभा के लिए लेखक के निर्वाचित होने पर भारती सचमुच गद्‌गद हो गये। यह भी उनके पत्र से ज्ञात होता है।

एक बड़े आदर्श की रक्षा के लिए भारती द्वारा सर्वथा प्राप्य सम्मान के तिरस्कार का प्रसंग विस्तार से वर्णित हुआ है। 'भारत भवन' का न्यासी नियुक्त होने के बाद लेखक 'अज्ञेय-प्रसंग' की तरह 'भारती-प्रसंग' भी आयोजित करना चाहता था, लेकिन भारती ने घोर आपत्ति की। उनके मत से मध्य प्रदेश के माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुभद्राकुमारी चौहान की स्मृति की अवहेलना कर उनका प्रसंग मनाये जाने पर वे स्वयं को अपराधी ही महसूस करेंगे। इसी लेख में भारती और अज्ञेय के संबंधों में तनाव का और भारती की दृष्टि से उसके कारणों का उल्लेख भी है। लेख का अंतिम प्रसंग—कुंवर नारायण के साथ भारती का 'व्यास सम्मान' से सम्मानित होना, उस अवसर पर दिये गये उनके भाषण के कुछ अंशों के उद्धरण, सम्मान पाने के दो वर्ष बाद उनकी मृत्यु —बहुत मार्मिक है।

'संपादक के रूप में' शीर्षक लेख में लेखक भारती को भारतेंदु, माखनलाल चतुर्वेदी, अज्ञेय जैसे साहित्य-स्रष्टाओं की परंपरा में मानता है। जिन्होंने अपने सहृदय संपादन के द्वारा साहित्यकार-स्रष्टा होने का गौरव भी

सौजन्य : साधुराम बंसल, शिव बाई बंसल चैरिटेबल ट्रस्ट, २३ए, नेताजी सुभाष रोड, कोलकाता-१

अर्जित किया। उनके संपादन-काल में 'धर्मयुग' हिन्दी का सर्वोत्कृष्ट पत्र था, विद्वानों और सामान्य पाठकों को समान रूप से प्रिय। लेखकों के साथ भारती की सौहार्द्रपूर्ण अंतरंगता थी, यह निर्धारित करने की उनमें अद्भुत क्षमता थी कि किस विषय के लिए कौन लेखक उपयुक्त होगा। फिर रचना भेजने के लिए उसे पत्र पर पत्र, और फिर तार और उलाहने भी भेजते रहे थे, जिससे लेखकीय आलस्य और बहुधंधीपन के बावजूद उन्हें लेखक की रचना मिल सके। लेखक का यह निष्कर्ष उसके अपने और उसके कई मित्रों के अनुभव पर आधारित है।

संपादक भारती बांगला देश के मुक्ति-संग्राम में कलम के सेनानी बनकर 'धर्मयुग' के माध्यम से देशवासियों को बांगला देश के पक्ष में सक्रिय करने की अग्रणी भूमिका निभा रहे थे। उन्होंने 'धर्मयुग' के बांगला देश विशेषांक निकालने की भी योजना बनायी। कलकत्ता विश्वविद्यालय बांगला देश सहायक समिति की कार्यकारिणी के सदस्य होने के कारण लेखक का बांगला देश के साहित्यकारों और मुक्ति-योद्धाओं से अच्छा संपर्क था। अतः भारती को उसका अकुंठ सहयोग मिला। बांगला देश के प्रतिष्ठित कवियों की संग्रामी कविताएँ, बांगला देश के उपउच्चायुक्त हुसेन अली साहब तथा उनके पुत्र-पुत्री की भेंट-वार्ताएँ, तेंतुलिया में मुक्तिवाहिनी के शिविर में सैनिक प्रशिक्षण कार्यक्रम, बांगला देश के प्रधान सेनापति कर्नल उसमानी का इंटरव्यू आदि अनेक प्रकार की सामग्री लेखक ने भेजी जो 'धर्मयुग' में प्राथमिकता के साथ छपी तथा और भी विशेष-विशेष रिपोर्ताज आदि भेजने का आग्रह भारती करते रहे। उन्हें इस बात का गर्व था कि 'बांगला देश की क्रांति पर इतनी अच्छी और सुगठित सामग्री एक हिन्दी पत्र ने ही दी।'

किन्तु इतने से भारती को संतोष नहीं हुआ। वे युद्धक्षेत्र का प्रत्यक्ष दर्शन एवं अनुभव प्राप्त करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने तीन बार बांगला देश की यात्राएँ कीं। पहली और तीसरी यात्रा में लेखक उनके साथ था। दूसरी यात्रा में वह न जा सका। उस यात्रा से भारती लौटे, तो जैसे मौत के मुंह से निकलकर आये। शेरपुर-जमालपुर का भयावह, रोमांचक, प्रेरक संस्मरण उन्होंने लेखक को सुनाया। लेखक के अनुसार, "अब वह हिन्दी के रिपोर्ताज साहित्य का अद्वितीय अंश है। शायद ही इसके पहले किसी हिन्दी पत्र के प्रधान संपादक ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर इस प्रकार का आँखोंदेखा, अपने पर बीता संस्मरण लिखा हो।" तीसरी यात्रा बांगला देश के प्रधान सेनापति (बाद में जनरल) कर्नल उस्मानी के विशेष आमंत्रण पर लेखक के साथ भारती ने की। इन सबका विस्तृत वर्णन 'बांगला देश में भारती जी के साथ' शीर्षक संस्मरण में है।

'आओ कुछ बात करें घर की' में भारती और लेखक के पारस्परिक भाव-संबंधों को उजागर करनेवाले छोटे-छोटे कई प्रसंग हैं। लेखक की षष्टिपूर्ति पर भारती ने उसके जीवन को 'साठ गीत वर्ष' की आख्या दी और सपत्नीक भावभीनी शुभकामनाओं के साथ राधाकृष्ण का एक सुंदर फलक अर्पित किया।

१९७९ में हृदय-रोग से गंभीर रूप से पीड़ित होने के बाद भारती फिर कभी पूर्ण स्वस्थ नहीं हुए। 'धर्मयुग' में 'शब्दिता' शीर्षक स्तंभ लिखते रहे, उन पर लेखक की प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा करते रहे, लेकिन "कविता की एक पंक्ति नहीं उगी। पढ़ा भी बहुत कम।" अपना पिछला सक्रिय जीवन उन्हें याद आता, पीड़ा और बढ़ जाती। बेटा अमेरिका में, बेटियाँ ससुराल में। साथ केवल पुष्पा जी और सालनेवाला अकेलापन। "और यह भी नहीं मालूम कि अब कितना समय और है मेरे पास।" इस संस्मरण के उत्तरार्द्ध में खालीपन और विवशता की टीस और विषाद

सौजन्य : Mohanlal Pareek, C/o. Pareek & Associates, 16-B, Shakespear Sarani, B. K. Market, Kolkata-71

है, लेकिन वहाँ भी लेखक भारती को 'जेहि विधि राखे राम....' की सलाह देता है और उनकी सृजनरत रहने की प्रेरणा देनेवाली पंक्तियों का स्मरण करता है।

'अंधा युग' और 'कनुप्रिया' के संदर्भ में' दूरदर्शन (कलकत्ता) पर लेखक द्वारा लिया गया भारती का इंटरव्यू है। और परिशिष्ट (१) में १९९४ का 'व्यास सम्मान' प्राप्त करने के अवसर पर दिया गया भारती का अभिभाषण। परिशिष्ट (२) में लेखक के नाम लिखे भारती के अठारह पत्र हैं जिनमें चार बांगला देश मुक्ति-संग्राम-काल से संबंधित हैं और एक-एक आपातकाल तथा शेख मुजीब की हत्या से। लगभग सभी पत्रों के अंश और कुछ अन्य पत्रांश संस्मरणों में सप्रयोजन उद्धृत हुए हैं। इससे इनके महत्त्व का पता चलता है।

लगभग चालीस वर्षों के निकट संपर्क में कितने ही प्रसंग, कितनी ही बातें उपजी होंगी। उन सब में से वांछित, प्रयोजनानुरूप प्रसंगों को छाँटकर, संयोजित कर, सहज संप्रेष्य रूप में उपयुक्त शीर्षकों के अंतर्गत रखना सरल नहीं। लेखक ने यह काम सफलतापूर्वक किया है। बड़ी आत्मीयता और प्यार से उसने ये संस्मरण लिखे हैं और इनके माध्यम से वह 'उनके साथ बिताये क्षणों को पुनः जीता रहा' है। मुझे विश्वास है कि साहित्यकार भारती के 'व्यक्ति' को समझने में ये अवश्य सहायक होंगे। ●

सौजन्य : राज गोपाल पसारी, ३, बुड स्ट्रीट, कोलकाता-७०० ०१६

कुमार कृष्ण

'जीवन पथ पर चलते-चलते'
जीवनानुभव से उपजी कविताएँ

ऐसे समय में जब हिन्दी कविता उद्धरणीयता खोती जा रही है 'जीवन पथ पर चलते-चलते' कविता-संग्रह का आना वास्तव में शुभ संकेत है। यद्यपि संग्रह में संकलित कविताएँ बहुत समय पहले लिखी गई हैं। स्वयं कवि ने इस संग्रह में अपनी कविताओं के सम्बन्ध में स्पष्ट किया है – 'मैंने प्रयासपूर्वक बहुत कम कविताएँ लिखी हैं। ये कविताएँ परिस्थितियों के दबाव के कारण अनायास उभरती रही हैं। जीवन क्रम में जैसे-जैसे मोड़ आए हैं, वैसे-वैसे स्वर इन कविताओं में मुखरित हुए हैं। इनमें राष्ट्रीयता, प्रेम और भक्ति की क्रमिक प्रधानता मेरे जीवन की विकास यात्रा के अनुरूप ही है। इसीलिए इस संकलन का नाम 'जीवन पथ पर चलते-चलते' रखना मुझे उचित लगा।'

परिस्थितियों के दबाव के कारण अनायास उभरी ये कविताएँ हमसे हमारी बात कहती हैं। इन कविताओं के सगेपन के साथ हमारा आत्मीय रिश्ता स्थापित होता है, क्योंकि ये कविताएँ भारतीय मनुष्य की कविताएँ हैं। सदी के अन्त में गहरे जीवनानुभव से उपजी इन कविताओं में नयी सदी की कविता की आहट साफ सुनी जा सकती है। इन कविताओं की लय जीवन की लय है। लयात्मकता कविता की भाषा का अनिवार्य गुण है, यह उत्तर ये कविताएँ हमें अपने आप देती हैं। इसीलिए ये रचनाएँ उद्धरणीय हैं।

विष्णुकान्त शास्त्री का कवि ज़मीन की रिसती हुई पीड़ा का गायक है, जिसकी स्वीकारोक्ति है–

कविता केवल कभी-कभी मुझसे हँसती है
प्रायः गुमसुम-सी रहती अवहेला करती ।
पर चीर हृदय को आह निकलती है जब-जब
चुपचाप स्वयं आ मेरे दुख झेला करती ।।

कविता द्वारा कवि के दुःखों को झेलना कवि की मौलिक भारतीय अवधारणा है। इन कविताओं में कवि राष्ट्रीयता से अपनी काव्य-यात्रा प्रारम्भ करता है। धीरे-धीरे राष्ट्रप्रेम का अंकुर प्रेम के विविध सोपानों को पार करता हुआ राम-राग में परिणत होता है। गहराई से देखें तो इन कविताओं में प्रसाद का राग तथा निराला की आग दोनों विद्यमान हैं। राग और आग का सीधा रिश्ता अव्यक्त पीड़ा से है जो कवि की संवेदना को पारदर्शी बनाता है-

पीड़ा को साहस से तोल नहीं पाता हूँ,
गाँठ कुछ पड़ी ऐसी खोल नहीं पाता हूँ।
दिल तो तरसता है कि बोझ ज़रा हल्का हो
बात कुछ ऐसी है कि बोल नहीं पाता हूँ।।

सौजन्य : श्रीगोपाल पञ्जाबी, ३, ड्रुड स्ट्रीट, कोलकाता-७०० ०१६

ऐसा प्रतीत होता है कि पीड़ा व्यक्तित्व के परिमार्जन तथा परिष्कार का दूसरा नाम है जो इन तमाम कविताओं के मूल में स्थित है–

बात सच है क्यों करूँ इन्कार
प्रेरणा देता किसी का प्यार।
जो बनाती धूल को भी फूल
पीर वह इन मुक्तकों की धार।

कवि की पीड़ा मात्र व्यक्तिगत पीड़ा नहीं। कवि का 'मैं' निराला का 'मैं' है जो सबसे जुड़ता है। यद्यपि इधर की हिन्दी कविता में इस 'मैं' का अर्थ-संकोच अधिक हुआ है। 'जीवन पथ पर चलते-चलते' का कवि अपनी 'जीवन-कथा' के माध्यम से एक ऐसे सच को उजागर करता है जिस सच के बीच में से प्रत्येक व्यक्ति को गुज़रना पड़ता है। कवि की सर्जनात्मक प्रतिभा मात्र अभिव्यक्त न होकर एक संघर्षात्मक प्रेरणा का रूप धारण करती है। शास्त्री जी का कवि प्रतिकूल परिस्थितियों के सामने समर्पण नहीं करता अपितु वह उन्हें अपने पक्ष में करने के लिए कटिबद्ध है। वह उन सभी विषमताओं को उखाड़ फेंकना चाहता है जो मानवता के लिए जहर बन चुकी हैं। कवि को ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्यता की अनिवार्य शर्तें – स्नेह, भावनाएँ, ईमान, आदर्श, नैतिकता आदि वर्तमान परिस्थितियों की भयावहता के आतंक में दब चुकी हैं। कवि इनके सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों में घोषित करता है–

किन्तु यह मेरी शपथ है,
दम न लूँगा,
जब तलक होती नहीं,
अन्याय की अन्तिम पराजय,
जब तलक हँसता नहीं,
मानव नयन का स्वप्न,
सत्य बन फूले कमल सा!!

इस संग्रह की कविताएँ पाँच खंडों में विभक्त हैं। पहला खंड– 'हो सचेतन राष्ट्र जीवन' राष्ट्रीय भावना की रचनाओं का है। 'सर्जना आयाम-विविधा' शीर्षक दूसरे खंड में विविध विषयों को समेटने वाली कविताएँ हैं। 'प्रेरणा देता किसी का प्यार' शीर्षक से तीसरा खंड प्रेम परक रचनाओं का है। 'राम तुम्हारे चरण प्रेरणा स्रोत हमारे' इस चौथे खंड में भक्तिभाव की कविताएँ हैं, जबकि अंतिम खंड 'गूँज यह अनुसर्जना की' में अनूदित रचनाएँ सम्मिलित हैं। इसमें संस्कृत, बांगला और अंग्रेजी के काव्यानुवाद शामिल हैं।

विष्णुकांत शास्त्री की अपनी कविताएँ तात्कालिक प्रतिक्रियाओं के स्थान पर सत्य की प्रतिष्ठा, मनुष्य की अनाहत जिजीविषा और असीम क्षमता को रेखांकित करने पर बल देती हैं। इस तरह ये कविताएँ ज्ञान और कर्म की लय पर जीवन के मंत्र रचते कवि की कविताएँ हैं, जहाँ दृष्टि और दर्द का कवि स्पष्ट शब्दों में कहता है–

अखिल विश्व को जीत चुका जो
उसे हराती शंका मन की।
बन सकते हो राम स्वयं तुम
जीत सको यदि लंका मन की।।

सौजन्य : दुर्गा दत्त सिंह, ११, काशीपुर रोड, कोलकाता-७०० ००२

भारतीय मनुष्य के लिए राम एक ऊर्जा स्रोत हैं, जिसके स्मरण मात्र से मनुष्य अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है। इस ऊर्जा स्रोत को लेकर कवि ने इस पुस्तक में उनहत्तर चतुष्पदियों की रचना की है। यह भारतीय जीवन-दृष्टि कवि को एक अलग पहचान देती है–

राम तुम्हारी कृपा लक्ष्य तक पहुँचाती है,
साधन वह साधनहीनों का बन जाती है।
संकट की घड़ियों में अपने अमृत-स्पर्श से,
आशंका-विष हरती, जीवन बरसाती है।।

इस प्रकार देखें तो विष्णुकान्त शास्त्री का कवि आस्था, उम्मीद, प्रत्याशा तथा मुराद का कवि है, जिसमें ज्ञान और कर्म का द्वन्द्व, भारतीयता के अनगिनत सपने, राम-राग का निनाद, मनुष्यता को बचाये रखने का सत्य विद्यमान है। ये कविताएँ मनुष्य को मनुष्य बनाने वाली ऐसी कविताएँ हैं जो हमारे व्यक्तित्व को प्राशस्य प्रदान करती हैं तथा सौन्दर्यबोध को जंग नहीं लगने देतीं। इन कविताओं का रिद्म हमारे व्यस्त जीवन को रिद्म देता है, परिणामस्वरूप हम आत्मविश्लेषण तथा आत्मसाक्षात्कार करने के लिए बाध्य होते हैं।

विष्णुकांत शास्त्री बांगला देश के मुक्ति संग्राम में एक सहयोगी के रूप में सक्रिय थे। उस दौर में उन्होंने बांगला देश सम्बन्धी रिपोर्ताज और लेख तो लिखे ही, बांगला देश की संग्रामी कविताओं का हिन्दी में अनुवाद भी किया। भारतीय ज्ञानपीठ ने 'संकल्प संत्रास, संकल्प' पुस्तक में बांगला देश की ५६ संग्रामी कविताओं के अनुवाद नागरी में मूल रचनाओं सहित प्रकाशित किए हैं। संग्रामी कविताओं में से शमसुर्रहमान, बेगम सूफिया कमाल, नसीमुन आरा, हुमायूँ आजाद और जसीमुद्दीन की कविताओं के अनुवाद इस संग्रह में भी हैं। इनके साथ ही रवीन्द्र नाथ ठाकुर की कुछ बांगला कविताओं के अनुवाद भी इसमें दिए गए हैं। इन अनुवादों में मूल कवियों के कथ्य और शैली को बनाये रखने में अनुवादक-कवि सफल हुए हैं। इसीलिए ये अनुवाद मौलिक कविताओं का आस्वाद देते हैं। ●

सौजन्य : नाटक दत्त सिंह, ११, काशीपुर रोड, कोलकाता-७०० ००२

डॉ० ओमप्रकाश सिंह

'विष्णुकांत शास्त्री : चुनी हुई रचनाएँ (खण्ड १ एवं २)'
साधना के इन्द्रधनुषी आयाम

विष्णुकांत शास्त्री के आकर्षक चित्र को मुखपृष्ठ पर लिये हुए जुगलकिशोर जैथलिया के सम्पादन में 'विष्णुकांत शास्त्री : चुनी हुई रचनाएँ' कृति दो खण्डों में प्रकाशित हुई है। श्वेत कुर्ता, स्लेटी सदरी पर उत्तरीय की छटा शास्त्री जी की चिंतन मुद्रा को और भी उभारने में सहायक है। काले फ्रेम के चश्मे से झांकती पैनी आंखें, मस्तक पर तिलक, सफेद बाल, ठोढ़ी पर बंधी मुट्ठी, मस्तक पर चिंतन की उभरी रेखाओं से साधना की कई दिशाएँ आयाम लेती हैं। यह कृति दो खण्डों में बँटी है। प्रथम खण्ड में शास्त्री जी के आलोचनात्मक निबन्ध संकलित हैं और दूसरे खण्ड में उनके ही संस्मरण, यात्रावृत्त, रिपोर्ताज, अध्यात्म-चिंतन, विविध विषयक रचनाएँ एवं कविताएँ संग्रहीत हैं।

यह बात सच है कि कुछ लोग अवसर पाकर अपने प्रशासकीय पद-प्रतिष्ठा के जरिये समीक्षकों, लेखकों व अन्य मीडिया के माध्यमों का लाभ उठाते हुए अपनी यशोकामना की तृप्ति करते रहे हैं परन्तु शास्त्री जी एक ऐसे निर्विवाद व्यक्ति हैं जिन्होंने अपनी प्रतिभा और प्राज्ञक्षमता द्वारा साहित्यिक ऊँचाइयों को स्पर्श किया है। उत्तर प्रदेश के राज्यपाल पद को गौरवान्वित करते हुए वे मूलतः एक विचारक, चिंतक एवं साहित्य-मनीषी के रूप में अपनी पहचान बनाये हुए हैं। उनकी एक लम्बी शैक्षिक एवं उच्च स्तरीय साहित्य-साधना रही है। हाँ, यदि इन कृतियों की यशोवृद्धि उनके शैक्षणिक जीवन में हुई होती तो कुछ और बात होती क्योंकि अब उनका समूचा व्यक्तित्व राजनीतिक वृक्ष की छाया के नीचे खड़ा है जहाँ उनके ताजे-टटके अनुभव नये रूप से रेखांकित होने चाहिए। फिर भी इस विराट व्यक्तित्व के संयम और मौलिकता की भूरि-भूरि प्रशंसा करनी होगी।

डॉ. प्रेमशंकर त्रिपाठी पुस्तक के प्रथम खण्ड के प्रकाशकीय में लिखते हैं— 'परम्परा के स्वस्थ पक्ष के प्रति अपार सम्मान भाव के साथ ग्रहण योग्य आधुनिक विचारों की संगति शास्त्री जी की अपनी विशेषता है। तर्क की पीठिका पर किया गया प्रभावी विश्लेषण, नवीन गवाक्षों को उद्घाटित करने वाला तलस्पर्शी चिंतन तथा गहन अध्यवसाय को प्रमाणित करने वाला पाण्डित्यपूर्ण विवेचन उनकी रचनाओं में परिलक्षित होता है।' यह आत्मीय कथन चाहे जिस कोण से लिखा गया हो, मैं तो कहूँगा कि— इस कृति का हर पाठक डॉ. त्रिपाठी की बात से सहमत जरूर होगा। डॉ. त्रिपाठी की यह टिप्पणी एकदम सटीक है।

'मेरी सृजन-प्रक्रिया' में स्वयं शास्त्री जी सृजन और परिवेश दोनों की पूरकता को स्वीकार करते हुए लिखते हैं — 'मुझे अच्छे वक्ता और अध्यापक के रूप में मान्यता बहुत जल्दी मिल गई थी।' यही कारण है कि शास्त्री जी के आलोचनात्मक निबन्धों में उनका अध्यापक हावी हो जाता है। जहाँ कहीं वे विषय-वस्तु के विश्लेषण में लगते हैं वहाँ उनका अध्ययन या आध्यात्मिक ज्ञान उनकी मौलिकता पर प्रभावी लगने लगता है किन्तु शास्त्री जी की

सौजन्य : राजेश-ममता दूगड़, २६बी, कैमेक स्ट्रीट, कोलकाता

भाषिक क्षमता एवं शाब्दिक सामर्थ्य उस रिक्तता की पूर्ति में सहायक ही नहीं होती बल्कि चिन्तन की कुछ नई पर्तें खोलकर पाठक को सोचने के लिए बाध्य भी कर देती है। यह एक प्राध्यापक जीवन की अभिव्यक्ति-शैली का स्वाभाविक परिणाम है। किन्तु जहाँ उनका शोधी मन साहित्यिक विषयों के परिपाक में अपनी मौलिक भूमिका निभाता है वहाँ वे सत्य का उद्‌घाटन करते प्रतीत होते हैं। यथा 'कुकुरमुत्ता, नये पत्ते का जनवादी स्वर निराला के पौरुष को उत्पीड़ित मानवता के पक्षधर के रूप में प्रस्तुत करता है। निश्चय ही उसका अपना साहित्यिक महत्त्व है, स्वस्थ परम्परा का पुट उसमें भी है किन्तु उसके संग्रामी तेवर से शरणागति की भावना आवृत्त-सी हो गयी है।' (पृष्ठ २४३)

स्पष्ट है कि शास्त्री जी की इस नवीन कृति के प्रथम खण्ड में जो भी आलोचनात्मक लेख सम्मिलित हुए हैं वे या तो पौराणिक तथा आध्यात्मिक मिथकों के साथ विश्लेषित हुए हैं या फिर भारतेन्दु युग के बाद के साहित्यिकों के लेखन पर अपनी आलोचनात्मक टिप्पणी करते हैं। इस क्रम में किसी भी कवि के समूचे साहित्य का मूल्यांकन करना तो संभव नहीं था, मगर यथासंभव शास्त्री जी ने उन सभी बिन्दुओं पर दृष्टिपात किया है जिनके बिना उस रचनाकार की साहित्यिक पहचान भी नहीं बनती। अर्थात् कालीदास, कबीर, सूर, तुलसी, भारतेन्दु, रामचन्द्र शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, दिनकर से लेकर गीत-नवगीत तक पर उनके विचारपरक निबन्ध हिन्दी साहित्य की समृद्धि में सहायक हैं।

दूसरे खण्ड में शास्त्री जी के आत्मीय क्षणों की अनुभव-जन्य चिर-परिचित स्थितियों एवं चित्रों की झाँकियाँ हैं। उनके संस्मरण निराला, हजारी प्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती, अज्ञेय, धर्मवीर भारती, रामविलास शर्मा, बच्चन के साथ 'विधायक की यातना' पर केन्द्रित हैं। इसमें साहित्य और साहित्यकार के वृत्तों व सम्बन्धों के साथ-साथ जीवन के मूल्यवान क्षणों की गहन अनुभूतियों का रेखांकन भी है। उन सभी के साक्षात्कार के रंग-चित्र, भाव-चित्र एवं घटना-चित्र भी हैं जो वैयक्तिक एवं सामाजिक विसंगतियों के घेरे में न जाने कितने इन्द्रधनुषी रंग बिखेरते हैं। शास्त्री जी के यात्रावृत्तों में स्थान-परिवर्तन, अलगाव व लोक संवेदना के अनुभूतजन्य क्षणों का निदर्शन— सागर, नदी, पर्वत, झरनों के बिम्ब मिलते हैं। खासकर कश्मीर, वैष्णव माँ, दार्जिलिंग, सूरीनाम इत्यादि की यात्रा के वृत्तचित्र उभरकर शब्दशिल्पी की लेखनी से मूर्तिमान हो उठे हैं।

रिपार्ताज में, स्थान एवं परिवेश के संग-संग सामाजिक व्यवस्था और विद्रूपता के अनेक रंग बिखरे पड़े हैं। अध्यात्मिक चिंतन तो शास्त्री जी के अध्ययन-मनन का मूल केन्द्र है। वे भारतीय संस्कृति एवं दर्शन के चितेरे एवं गहन अध्येता हैं। अद्वैत, द्वैत और विशिष्टाद्वैत पर आपकी गहरी समझ है। 'विविध विषयक रचनाओं' के कालम में शास्त्री जी ने अतीत का गौरव गान, स्वामी विवेकानंद के प्रति जिज्ञासा और भारतीयता के प्रति विशेष रूप से लेखनी चलाई है।

शास्त्री जी का कविता-संग्रह 'जीवन पथ पर चलते-चलते' पहले ही प्रकाशित हो चुका है जो उनके भावुक मन एवं उनकी दार्शनिक क्षमता को रेखांकित करता है। इस कृति की कविताएँ भाव-प्रधान एवं आध्यात्मिक रंग लेकर अपनी उपस्थिति दर्ज कराती हैं। इसमें मानवता के प्रति एक श्रेष्ठ हस्ताक्षर की छटपटाहट एवं विवशता और जीवन की आस्था के स्वर स्पष्ट हैं। इस कृति के लिए कृतिकार एवं प्रकाशक दोनों बधाई के पात्र हैं। ●

सौजन्य : राजेश-ममता बूगड़, २६बी, कैमेक स्ट्रीट, कोलकाता

डॉ० भारती शर्मा

'....पर साथ साथ चल रही याद'
एक अविस्मरणीय संस्मरण-पुस्तक

"प्रभावित होना और प्रभावित करना जीवन्तता का लक्षण है। कुछ लोग हैं, जो प्रभावित होने को दुर्बलता मानते हैं। मैं ऐसा नहीं मानता। जो महत् से, सुन्दर से, साधारण में छिपे असाधारण से प्रभावित नहीं होते, मैं उन्हें जड़ समझता हूँ। चेतन तो निकट सम्पर्क में आनेवालों से भावात्मक आदान-प्रदान करता हुआ ही जीवन-पथ पर आगे बढ़ता जाता है।' उपर्युक्त पंक्तियाँ लेखक की पुस्तक 'स्मरण को पाथेय बनने दो' की भूमिका से उद्धृत की गई हैं। लेखक का मानना है कि विशिष्ट जनों से प्रभावित होना बहुत स्वाभाविक है। लेखक स्वयं साहित्यकार हैं, साहित्य के प्राध्यापक रहे हैं। ऐसे में विशिष्ट साहित्यकारों ने उन्हें प्रभावित किया— यह स्वाभाविक ही है। डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र के अनुसार '.....पर साथ साथ चल रही याद' स्मृति की सर्जनात्मक प्रकृति के दबाव और रचनाकार की 'निर्विकार तटस्थता' तथा 'सतर्क भावुकता' के कारण उन व्यक्तियों को ही नहीं, जिनके संस्मरण हैं बल्कि उनके समय को भी परिभाषित करती हैं। .....निष्कम्प विश्वास, विरोधी विचारों को सहज ढंग से समझने और मानवीय सम्बन्धों को बनाये रखने में कैसे मदद करता है, उसका प्रमाण यह पुस्तक है।'

लेखक स्वयं प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं, अतः स्वाभाविक रूप से इस पुस्तक में कुछ प्रमुख साहित्यकारों के प्रौढ़तापूर्ण संस्मरण संकलित हैं। किन्तु इसमें एक ऐसा संस्मरण भी है जिसे पढ़ने से लगता है कि लेखक के भीतर एक छोटा बालक अभी भी विद्यमान है, जो अपनी नानी माँ के अशेष वात्सल्य को आज भी आन्तरिक प्रेम से याद करता है— वह मर्मस्पर्शी संस्मरण है 'तू मेरी बुलबुल, मेरी बड़ी नानी माँ'। लेखक की नानी माँ ने उन्हें अशेष ममता और वात्सल्य से पाला था। उनका स्नेह आज भी उनके जीवन की पावन स्मृति है। लेकिन नानी माँ को समझ पाना बचपन में उनके लिए बड़ा कठिन था। कब वे नाराज हो जायेंगी, बरस पड़ेंगी और कब प्रेम से गद्‌गद् हो जायेंगी— यह समझना कठिन था। धीरे-धीरे लेखक को लगने लगा कि 'क्रोध उनकी आगन्तुक विकृति है, वात्सल्य उनका स्थायी भाव है।..... उनमें विरोधी गुणों का सह अस्तित्व था। करुणा और उग्रता, कोमलता और कठोरता का अद्‌भुत संगम था।' इसका मुख्य कारण था पारिवारिक कष्टों एवं रिश्तेदारों की कुटिलता का दीर्घ अनुभव ! समय के कठोर आघातों ने उन्हें जर्जर बना दिया था। इसीलिए उनमें प्रेम एवं कठोरता का अद्‌भुत मिश्रण था। लेखक ने नानी माँ के व्यवहार का बड़ा ही तटस्थ मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है।

'नानी की कहानी'— यह मुहावरा अत्यंत प्रसिद्ध है। लेखक की नानी माँ कहानियों का भण्डार थीं। लेखक ने बचपन में ही उनसे रामायण, महाभारत, भागवत तथा अन्य पुराणों की प्रमुख कहानियाँ सुन ली थीं।

संस्कृत एवं हिन्दी भाषा का ज्ञान, धार्मिक संस्कार, भारतीय वेशभूषा और परंपरा के प्रति गहरा प्रेम लेखक को पारिवारिक संस्कारों से ही मिला है। इसके लिए लेखक स्वयं को नानी माँ का भी अपने माता पिता के साथ साथ ऋणी मानता है।

सौजन्य : MINU SAREES, KOLKATA

लेखक १९४४ से ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में कार्य करने लगे थे। १९४७ से १९५२ तक उन्होंने संघ का बहुत कार्य किया। जब नेहरू सरकार ने गाँधीजी की हत्या का झूठा लांछन लगाकर संघ पर प्रतिबंध लगा दिया तो संघ ने सारे देश में प्रतिबंध उठाने के लिए सत्याग्रह शुरू किया। इस सत्याग्रह में भाग लेकर लेखक एवं उनके छोटे भाई दोनों जेल चले गए। नानी माँ इससे बहुत दुखी एवं चिन्तित रहती थीं, पर हर सप्ताह उनसे मिलने जेल जातीं। साथ ही मिठाई, फल, नमकीन भी ले जातीं अतः लेखक के साथ अन्य स्वयंसेवक बन्धु भी नानी माँ का इंतजार करते थे।

नानी माँ ने लेखक के विवाह के लिए कन्या का चुनाव भी स्वयं किया। विवाह के बाद ही एम.ए. का परीक्षाफल निकला, जिसमें लेखक प्रथम श्रेणी में प्रथम हुए। उसी साल वे विश्वविद्यालय में प्राध्यापक भी हो गए। नानी माँ ने इसका सारा श्रेय "लक्ष्मी बहू" को दिया। बहू के प्रति भी उनका प्रेम उतना ही प्रगाढ़ था। बेटा-बहू उनकी सेवा भी मनोयोग से करते थे।

यह लेख केवल नानी माँ का ही परिचय नहीं देता अपितु लेखक के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं से भी परिचित कराता है। लेखक के व्यक्तित्व के कई अनजाने पहलू इसमें उभर कर सामने आते हैं।

बच्चन लेखक के प्रिय कवि हैं। १९५४ में उनका बच्चनजी से परिचय हुआ, जो धीरे-धीरे प्रगाढ़ होता चला गया। बच्चनजी की साहित्यिक यात्रा के विभिन्न पड़ावों को उन्होंने कविता के माध्यम से भी देखा और व्यक्तिगत परिचय से इसके कारणों को भी जाना। बच्चनजी के व्यक्तित्व में श्रद्धा एवं बौद्धिक तर्कों का सुन्दर संगम था। इसीलिए लेखक ने अपने निबन्ध का शीर्षक दिया है— श्रद्धा और बुद्धिवाद की रस्साकशी— बच्चन। श्रद्धा के संस्कार उन्हें परंपरागत रूप से अपने पिता से मिले थे। उनके पिता रामचरितमानस के भक्त थे। घर में हर मांगलिक कार्य के अवसर पर मानस का अखण्ड पाठ अवश्य करते थे। बच्चन भी मानस पर अपार श्रद्धा रखते थे, पर तर्कसंगत बुद्धिवाद का द्वन्द्व उसके साथ चलता ही रहता था। बच्चनजी के शब्दों में 'गोरखपुर के स्वामीजी मुझसे कहते या तो तुम पूर्ण श्रद्धावान बनो या पूर्णतः बुद्धिवादी, किन्तु मैं इसमें से किसी का सर्वथा परित्याग नहीं कर सकता। यही मेरी ट्रैजेडी और यही मेरे लेखन की शक्ति है, प्रेरणा है। लेखक को लगता है कि 'बच्चनजी के जीवन का ताना यदि भावना है तो बाना बुद्धि है। उनके काव्य में यदि भावना प्रधान है तो उनके व्यवहार में बुद्धि।'

बच्चनजी से लेखक का परिचय धीरे-धीरे बढ़ता गया। लेखक की सम्मति से असहमति होते हुए भी वे उसे धीरज से सुनते थे। लेखक भी मुक्त हृदय से उनकी रचनाओं एवं कई बार उनकी विचारधारा की भी आलोचना करते थे।

सतरंगिनी लेखक की प्रिय कविता पुस्तक है। उसकी कई कवितायें लेखक को कंठस्थ हैं। बच्चनजी ने जब 'सतरंगिनी' का नया संस्करण उन्हें भेजा तो अत्यंत कृतज्ञ हुए। सतरंगिनी की भूमिका में बच्चनजी ने अपने विरोधियों को तीखे उत्तर दिये। इस भूमिका से प्रभावित होकर लेखक ने बच्चन जी को पत्र लिखा कि यह भूमिका 'प्रमाण पुष्ट रीति से प्रतिपादित करती है कि अंधकार से ज्योति की ओर आते हुए आपको कितने प्रखर अंतर्द्वन्द्व झेलने पड़े। निर्माण के प्रतिनिधि होने के कारण आप केवल अवसाद, सूनापन, तमिस्रा, मरण की आधी कहानी सुन-सुना कर कैसे संतृप्त हो सकते थे? भगवान की कृपा से आपको जीवन मिला और सतरंगिनी उसी नवजीवन की उल्लासपूर्ण स्वीकृति एवं आह्लादपूर्ण प्रशस्ति है।'

बच्चनजी को आत्मकथा को अपार सफलता मिली, पर इसी के कारण कई साहित्यिक मित्रों का विरोध भी झेलना पड़ा, जिसने बच्चनजी को मानसिक रूप से तोड़ कर रख दिया वे बीमार रहने लगे। सबसे अधिक धक्का उन्हें पंतजी के व्यवहार से लगा। श्रीमती इंदिरा गाँधी की ओर से भी उनका मोहभंग हुआ। जिन व्यक्तियों को वे विशिष्ट, आदरणीय मानते थे उनके कटु व्यवहार से बच्चनजी का कवि हृदय आहत हो गया। अन्य परिस्थितियाँ भी विपरीत हो रही थीं, स्वास्थ्य भी बिगड़ रहा था। बच्चनजी ने कवितायें न लिखने की घोषणा की और अपनी अंतिम कविता पुस्तक 'जाल समेटा' की भूमिका में इसे लिख भी दिया। अब तक लेखक की उनके साथ आत्मीयता प्रगाढ़ हो गई थी। लेखक को वे पत्रों में अपनी मनःस्थिति के बारे में लिखते रहते थे। दिसम्बर १९७२ में लेखक बम्बई गये, तो बच्चनजी ने अपनी मानसिक यंत्रणा के बारे में विस्तार से बताया। धीरे-धीरे वे इस यंत्रणा से उबरे। उनका स्वास्थ्य भी सुधरा। परिवारजनों की प्रसन्नता एवं उपलब्धियों के कारण उनके जीवन में भी प्रसन्नता आई।

लेखक को बच्चनजी और अधिक लिखने की प्रेरणा देते रहते थे। उनके निबंधों की सराहना भी करते थे। जब लेखक पश्चिम बंगाल की विधानसभा के विधायक निर्वाचित हुए तो बच्चनजी का छोटा-सा पत्र आया— 'भैया, तुम राजनीति क्षेत्र में पहुँच गये। मैंने भगवान से प्रार्थना की, तुम्हारी रक्षा करें।' इन शब्दों में लेखक के मंगल के प्रति बच्चनजी की मनोभावना मुखर हो उठी है।

इस संस्मरण की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमें लेखक ने बच्चनजी की विभिन्न मानसिक स्थितियों और उनसे उपजी कविताओं या प्रवृत्तियों का मर्मस्पर्शी विश्लेषण किया है।

लेखक ने नागार्जुन को 'हृदयधर्मी जनकवि' कहा है। वे 'परस्पर विरोधों के अद्‌भुत पुंज से। वे हिन्दी के 'घनघोर जुझारू' कवि थे। कई वर्षों तक वे बौद्ध भिक्षु रहे। कई वर्षों तक कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्य रहे। पर सदा जनता के हितों के लिए उन्होंने आवाज उठाई। हर उस आंदोलन का साथ दिया जो जनहित के लिए था, चाहे इसके लिए कम्यूनिस्ट पार्टी के नेताओं का विरोध ही क्यों न झेलना पड़ा हो। जनता के शोषित, पीड़ित, वंचित वर्ग के साथ तादात्म्य होकर उन्होंने उसके सुख-दुख को, व्यथा-वेदना-संघर्ष को वाणी दी।

लेखक का नागार्जुन से १९५१ में पहली बार परिचय हुआ, जो धीरे-धीरे बढ़ता चला गया यद्यपि वे लेखक से १८ साल बड़े थे। पर लेखक को उनका स्नेह एवं आशीर्वाद सदा मिलता रहा। वे प्रगतिवादी कवि एवं उपन्यासकार थे, पर वे एक ही विचारधारा में बँध कर कभी नहीं रहे। जिस पार्टी ने जनता का साथ दिया और अन्याय के खिलाफ आवाज उठाई, वे उसके साथ रहे।

नागार्जुन लेखक को अक्सर अपनी कविताएँ सुनाया करते थे। लेखक कविताओं के मर्मज्ञ श्रोता हैं, अतः दोनों में अच्छी गोष्ठी जमती थी। इन गोष्ठियों और उनमें पढ़ी जाने वाली कविताओं का लेखक ने विस्तृत वर्णन किया है। चीनी आक्रमण का नागार्जुन ने तीखा विरोध किया। पार्टी नेतृत्व के नाराज होने की कतई परवाह नहीं की। इसी तरह १९७४ में जब बिहार के छात्रों ने कांग्रेसी कुशासन के खिलाफ आन्दोलन छेड़ा तो जयप्रकाश नारायण ने उसका नेतृत्व स्वीकार किया और सम्पूर्ण क्रान्ति का नारा दिया। नागार्जुन ने इस जन-आन्दोलन का पूरा साथ दिया। पार्टी नेतृत्व के विरोध की परवाह नहीं की। इंदिराजी ने जब आपातकाल की घोषणा की तो नागार्जुन ने फिर अनेक तीखी कवितायें लिखीं। विवादास्पद होते हुए भी नागार्जुन प्रतिष्ठित कवि थे।

सौजन्य : Ravi Prakash Surolia, C/o. Friends Cargo Services, 11, Robert St. (1st Fl.) Kolkata-12

इस पूरे लेख में नागार्जुन के क्रांतिकारी व्यक्तित्व का प्रभावशाली चित्रण किया गया है। साथ ही उनकी कविताओं के उद्धरणों से उनके जीवन-मूल्यों, विश्वासों एवं जनता के प्रति प्रेम को भी उजागर किया गया है।

'कवि वही जो अकथनीय कहे' में जगदीश गुप्त के कवि एवं चित्रकार रूप का विस्तृत परिचय लेखक ने दिया है। गुप्तजी की कविताओं, विशेषकर 'हिमविद्ध' की कविताओं ने लेखक को बहुत प्रभावित किया। लेखक के ही शब्दों में 'मेरा स्नेह समादर अपनी कविताओं से मेरे हृदय को वेध कर ही उन्होंने अर्जित किया।' जगदीश गुप्त कवि होने के साथ-साथ चित्रकार, आलोचक एवं वरिष्ठ प्राध्यापक भी थे। कलाप्रेम उनमें प्रचुर मात्रा में था। लेखक ने गुप्तजी के साथ खजुराहो की यात्रा की। प्रस्तर पर निर्मित महाकाव्य को देख कर दोनों ही मित्र मुग्ध हो गये। विभिन्न काव्य गोष्ठियों एवं साहित्यिक सम्मेलनों में लेखक की मुलाकात गुप्तजी से होती रही और परिचय प्रगाढ़ मित्रता में बदल गया।

आपात्काल का विरोध गुप्तजी एवं लेखक दोनों ने किया। इस संबंध में कई सभाओं का आयोजन भी किया। पर जनता दल के कामकाज से भी गुप्तजी खिन्न ही थे।

राम मंदिर आन्दोलन में गुप्तजी पूरी तरह जनता के साथ थे। कारसेवकों पर गोली चलाने का उन्हें अत्यंत क्षोभ हुआ। इस पर उन्होंने मार्मिक कविता लिखी—

औरंगजेबी युग आ पहुँचा, धर्म धर्म के ऊपर छाया।
जलियाँवालाबाग हो गया, कहर निहत्थों पर यों ढाया।

बाद में राजनीतिक परिस्थितियों एवं बढ़ती मँहगाई पर उनकी तीखी कवितायें आती रहीं। लेखक का उनके साथ संपर्क लंबे समय तक बना रहा। उनके कवि रूप को देख कर लेखक को यही लगता था कि— 'कवि वही जो अकथनीय कहे।'

लेखक ने अमृत राय पर लिखित निबंध को 'निश्छलता और स्वाभिमान के पर्याय' —शीर्षक दिया है। अमृतजी के इन्हीं दोनों गुणों ने लेखक को सर्वाधिक प्रभावित किया। १९५५ में अमृत राय से लेखक का परिचय हुआ जो धीरे-धीरे बढ़ता चला गया। साहित्य, राजनीति, समाज—विभिन्न विषयों पर दोनों में चर्चा परिचर्चा होती ही रहती। विभिन्न गोष्ठियों में एक दूसरे के विचारों को जानने का अवसर मिलता ही रहता।

अमृत राय अपने को मार्क्सवादी कहते थे, किन्तु पार्टी की संकीर्णता और अतिरेकी रुझान के विरोधी भी थे। नक्सलवादी प्रवृत्ति और हिंसा का उन्होंने सदा विरोध किया। प्रगतिशील लेखकों और आलोचकों ने भी उन्हें निराश ही किया। रामविलास जी, नामवर सिंह आदि आलोचकों से वे बेहद क्षुब्ध थे।

अपने लेख 'सांप्रदायिकता का सवाल' में अमृतराय जी ने युक्तिपूर्ण ढंग से यह प्रतिपादित किया कि सेकुलरवाद के नाम पर हिन्दू सांप्रदायिकता का विरोध और मुस्लिम सांप्रदायिकता से गठबन्धन खतरनाक खेल है जिससे सांप्रदायिकता की ही वृद्धि होगी। इस लेख के कारण उन्हें अपने प्रगतिशील मित्रों की कठोर आलोचना झेलनी पड़ी, पर वे विचलित नहीं हुए। इसी तरह उर्दू को राजभाषा बनाने के नाम पर राजनीतिक लाभ उठाने वालों का भी उन्होंने सदा विरोध किया। लेखक ने बांग्लादेश के लिए बहुत काम किया था। उनके युद्ध रिपोर्ताजों के लिए अमृतराय ने उन्हें बधाई दी। वे भी बांग्लादेश जाना चाहते थे, पर यह संभव नहीं हो पाया। लेखक ने सहृदयतापूर्वक यह दर्शाया है कि अमृतराय कैसे अपनी 'प्रेमचंद ग्रंथि' से अंत तक दुखी रहे। उन्हें बारबार लगता था कि प्रेमचंद

सौजन्य : Sriram Soni, C/o. Himan Compu Print, 2, Rupchand Rai St., Kolkata-700 007

का बेटा होने के कारण आलोचकों ने कभी उनके साहित्य पर ध्यान ही नहीं दिया। उन्हें अपना सहज प्राप्य नहीं मिला। लेखक के राजनीति में जाने से वे प्रसन्न नहीं थे। उन्होंने स्पष्ट लिखा, 'आपके राजनीति में चले जाने से राजनीति जितनी भी समृद्ध हुई हो, साहित्य की तो बड़ी क्षति हुई है।..... साहित्य सेवा के लिए समय निकालिये। यह आप अपने साथ भी अन्याय कर रहे हैं।'

'तत्त्वबोध के प्रति गंभीर जिज्ञासा एवं निष्ठा, अपने मत पर दृढ़ विश्वास और छोटों के प्रति स्नेह—मेरी दृष्टि में डॉ० रामविलास शर्मा का यही सहज रूप है।' लेखक ने डॉ० शर्मा के व्यक्तित्व का परिचय आरंभ की दो पंक्तियों में ही दे दिया है। पूरा लेख डॉ० शर्मा के लेखक एवं चिंतक रूप को विभिन्न घटनाओं के द्वारा प्रस्तुत करता है। यद्यपि वे मार्क्सवादी थे एवं लेखक सांस्कृतिक राष्ट्रवादी, फिर भी लेखक को उनका स्नेह समादर प्राप्त होता रहा। तुलसी, निराला, रामचंद्र शुक्ल के प्रति दोनों ही परम श्रद्धालु थे। इसीलिए दोनों में वैचारिक मतभेद होते हुए भी परस्पर स्नेह बना रहा।

डॉ० शर्मा ने वर्षों की कठोर साधना के बाद 'निराला की साहित्य साधना' के तीन खण्ड लिखे। जो बहुत ही प्रशंसित एवं सम्मानित हुए। लेखक ने ग्रंथों की प्रशंसा तो की ही, साथ ही तथ्य की दो भूलों की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया। कुछ कविताओं की व्याख्याओं से अपनी असहमति भी संयत भाषा में व्यक्त की।

बांग्लादेश के सम्बन्ध में किये गये लेखक के कार्यों की डॉ० शर्मा ने सराहना की, पर उनकी राजनीतिक गतिविधियों से वे प्रसन्न नहीं थे। उन्होंने बारंबार लेखक को लिखने की ही प्रेरणा दी।

लेखक ने यह भी स्पष्ट किया है कि स्वयं मार्क्सवादी होते हुए भी डॉ० शर्मा मार्क्सवाद की व्याख्या में स्वतंत्र बुद्धि से काम लेते थे। कई प्रसंगों में यूरोप के मार्क्सवादी विचारकों का उन्होंने स्पष्ट विरोध किया था। इसी तरह प्रगतिशील लेखकों से भी उनका वैचारिक मतभेद होता रहता था।

संपूर्ण लेख में डॉ० शर्मा की विद्वत्ता एवं लेखन शक्ति का गंभीर वर्णन किया गया है। प्रतिष्ठित लेखक-समालोचक होकर भी उन्होंने नये लेखकों को बारबार प्रोत्साहित किया और लेखन की परंपरा एवं शैली बताई। उनकी एक बड़ी विशेषता थी कि राजनीतिक विचारधारा अलग होते हुए भी वे सहज रूप से सभी लेखक मित्रों से मिलते जुलते थे और उन्हें लिखने-पढ़ने की प्रेरणा देते रहते थे।

डॉ० नगेन्द्र हिन्दी के यशस्वी प्राध्यापक एवं समीक्षक थे। वे अत्यंत व्यवस्थाप्रिय एवं कार्यकुशल थे। अपने सेवाकाल में उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग को अत्यंत सम्मानजनक स्थान दिलवाया। उन्होंने हिन्दी के अध्ययन, अध्यापन, शोधकार्य के लिए विश्वविद्यालय के माध्यम से बहुत कार्य किया। लेखक के साथ उनका मिलना कोलकाता, दिल्ली, भोपाल, वाराणसी आदि नगरों में आयोजित साहित्यिक गोष्ठियों में होता रहता था। उम्र एवं पद में बड़े होकर भी वे लेखक को स्नेहपूर्ण सुझाव देते रहते थे।

लेखक के अनुसार 'व्यावहारिक आलोचना हो या सैद्धान्तिक आलोचना अपने निरूपण में वे बहुत गहरे उतरते थे और आलोच्य की विशेषताओं एवं सीमाओं को दक्षतापूर्वक उजागर कर देते थे।'

'इसी तरह उनकी कर्मकुशलता भी अद्‌भुत थी। बड़ी बड़ी साहित्यिक योजनायें बनाना, उनके प्रामाणिक निर्वहन के लिए योग्य सहयोगियों का चुनाव करना, उन्हें निर्धारित समय के भीतर पूर्ण करना, उनके लिए सहज था।' डॉ० नगेन्द्र की कर्मठता एवं कार्यकुशलता ने लेखक को सर्वाधिक प्रभावित किया था। यद्यपि लेखक को एक

प्राप्तिस्थान : Sangeeta Enterprises, 7, Dr. Abani Dutta Road, Salkia, Howrah-711 106

बात अखरी भी कि डॉ० नगेन्द्र अपना विरोध सहन नहीं कर पाते थे। खुद किसी की बात नहीं मानते थे, पर दूसरों से अपनी बात मनवाना चाहते थे। तथापि उनकी विद्वत्ता का लोहा सारा हिन्दी जगत मानता है। संपूर्ण संस्मरण में लेखक ने डॉ० नगेन्द्र के व्यक्तित्व के भिन्न भिन्न पक्षों को प्रस्तुत किया है। अध्यापक, आलोचक, व्यवस्थापक—हर रूप को भिन्न भिन्न घटनाओं द्वारा उभारा गया है।

श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी से लेखक की अंतरंग मित्रता थी। इलाहाबाद, कोलकाता में होने वाली साहित्यिक गोष्ठियों में दोनों में जम कर साहित्य चर्चा होती थी। इस लेख में चतुर्वेदीजी के साहित्यिक-आलोचक रूप का विवेचन तो किया गया ही है, साथ ही उनके शालीन, मैत्रीपूर्ण व्यक्तित्व का भी चित्रण किया गया है। वे आदर्श प्राध्यापक थे। साहित्य को समझने समझाने के लिए उन्होंने अध्यापन, शोध और आलोचना का मार्ग चुना। वे नव लेखन के आलोचक के रूप में उभरे थे, पर क्रमशः समग्र हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ व्याख्याता के रूप में प्रतिष्ठित हो गये। आलोचना करते समय भी उनकी लेखनी में कटुता नहीं आई। 'परिमल' के विचारकों में उनका प्रमुख स्थान था। उन्हीं लोगों ने नयी कविता, नये साहित्य को प्रतिष्ठा दिलाई। इस लेख में चतुर्वेदीजी एवं लेखक के आत्मीयतापूर्ण संबंधों की भी झलकियाँ देखने को मिलती हैं। एक दूसरे के व्यक्तिगत एवं पारिवारिक कष्टों से दोनों मित्र आहत हो जाते थे। चतुर्वेदी जी को दिल का दौरा पड़ने का दुखद संवाद झेलना लेखक के लिए अत्यंत कष्टकर था। उनकी मृत्यु का संवाद और भी मार्मिक था। इसीलिए लेखक ने निबन्ध का आरंभ ही अपनी मानसिक स्थिति के वर्णन से किया है, "व्यक्ति तो चला जाता है पर उसके प्रियजनों के मनों में उसके स्नेह सद्भाव की, उसकी उपलब्धियों की, उसकी देनों की प्रीतिकर स्मृतियों की सुगन्ध बसी ही रहती है।"

'अपने से भी ज्यादा अपना—सूरीनाम, सूरीनाम'— यह निबंध संस्मरण भी है और यात्रा वृत्तांत भी। तुलसी पंचशती १९९८ के अवसर पर लेखक सूरीनाम के दो शहरों—पारामारिबो एवं निकेरी गये थे। १९७९ में भी वे पारामारिबो गए थे। करीब बीस वर्ष बाद दोबारा वहाँ जाकर लेखक को अत्यन्त आत्मीयता का अनुभव हुआ। पारामारिबो एवं निकेरी दोनों ही शहरों में भारतवंशी बड़ी संख्या में बसे हैं। गोपालन, कृषि, व्यवसाय, नौकरी हर क्षेत्र में उन्होंने अपनी पहचान बनाई है। धन और यश कमाया है। इतने वर्षों बाद भी वे रामायण और तुलसी से जुड़े हुए हैं। उनकी रामभक्ति देख कर लेखक अभिभूत हो गए। तुलसी निश्चय ही भारत और सूरीनाम के जोड़ने वाले दृढ़ सेतु हैं। संपूर्ण निबन्ध में सूरीनाम के प्रति लेखक का भावुक स्नेह स्पष्ट है। अपने देश से इतनी दूर जा कर, इतनी कठिन परिस्थितियों में भी जिन्होंने अपने देश, धर्म, संस्कारों को इतने यत्न से सँभाल कर रखा—उन्हें भावभीना नमन किया है लेखक ने अपने इस संस्मरण में।

संपूर्ण पुस्तक सुचिंतित एवं भावपूर्ण निबन्धों का सुन्दर संग्रह है। जिन साहित्यकारों के संस्मरण लिखे गये हैं उनके व्यक्तित्व के अनेक पक्ष तो सामने आते ही हैं, साथ ही लेखक के व्यक्तित्व का भी परिचय मिलता है। लेखक कविता के प्रेमी एवं मर्मज्ञ हैं—यह उनके कवि बन्धु भी मानते हैं। साथ ही वे कुशल वक्ता एवं प्राध्यापक हैं। मित्रों से मित्रता निभाने में भी वे पीछे नहीं रहते। प्रकृति का सौंदर्य उन्हें बारंबार अभिभूत करता है। लेखक इन संस्मरणों में हर जगह बहुत ही जीवन्त रूप में विद्यमान है। इसीलिए संस्मरण भी इतने जीवन्त बन पड़े हैं कि वे अविस्मरणीय लगते हैं। ●

सौजन्य : Gopal Das Mohta, C/o. Mohta Commercial Company, 22, Rabindra Sarani, Kolkata-1

डॉ० सत्या उपाध्याय (तिवारी)

'आधुनिक हिन्दी साहित्य के कुछ विशिष्ट पक्ष'
विद्वत्तापूर्ण विवेचन का वैविध्य

'आधुनिक हिन्दी साहित्य के कुछ विशिष्ट पक्ष' पुस्तक आचार्य विष्णुकान्त जी शास्त्री के वैदुष्यपूर्ण, विचारात्मक और आलोचनात्मक निबन्धों का संग्रह है। इन लेखों के माध्यम से लेखक ने साहित्य क्षेत्र में व्याप्त बहुत-सी भ्रांतियों का निराकरण भी किया है। इसके मूल में व्यक्तिगत पसंदगी नापसंदगी अथवा वैयक्तिक सोचमात्र नहीं बल्कि तर्क और साक्ष्य की अकाट्य भावभूमि पर उन्होंने अपनी स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं।

पुस्तक में संकलित लेख १९८६ से २००२ के बीच लिखे गये हैं (भूमिका से)। यह समय लेखक के जीवन के कठिन राजनीतिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह का था। वैसे व्यस्त जीवन में जहाँ खुद को खुद से मिलने की फुर्सत न हो — ऐसे तर्क वितर्क, शोधपूर्ण विवेचनात्मक निबन्ध लिख पाना शास्त्री जी जैसे विद्वान चिन्तक और महामानव द्वारा सम्भव हो सका है। इसमें कुल १४ निबन्ध हैं जिसमें प्रथम निबन्ध उनके स्वयं के परिवेश और सर्जना की पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। शेष १३ निबन्ध साहित्य से सम्बधित हैं। अनुवाद और आलोचना, प्रश्नोत्तर, भाषण, शोध, विवेचन के वैविध्य का समग्र रूप इस पुस्तक में परिलक्षित होता है।

१८५७ का स्वाधीनता-संग्राम और हिन्दी नवजागरण, भारतेन्दु की खड़ी बोली की कविताएँ, 'सरस्वती' पत्रिका की कुछ महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ, मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में वैष्णव भावना और मानव-मूल्य, माइकेल काव्य के अनुवादक गुप्त जी, रवीन्द्र काव्य के अनुवादक श्री गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' आधुनिक सभ्यता का संकट और 'कामायनी', सुमित्रानन्दन पंत के अमृत-चेतना-काव्य की भूमिका, वन शरण का उपकरण मन : निराला, कृत्तिवास और निराला द्वारा अंकित 'राम की शक्ति पूजा' का तुलनात्मक विवेचन, आलोचना-परम्परा और हिन्दी आलोचक, संस्कृति साहित्य और मानव-मूल्य, साहित्य और दर्शन आदि निबन्धों में साहित्य के इन विशिष्ट पक्षों पर लेखक ने अपनी सुचिन्तित और संतुलित दृष्टि से गंभीरतापूर्वक विचार किया है।

१८५७ की क्रान्ति और नवजागरण आज भी विवाद के घेरे में है। इसके स्वरूप और महत्त्व के संबंध में गलतफहमी केवल साम्राज्यवादियों ने ही नहीं, साम्यवादियों ने भी फैलाई। एक ही साँस में १८५७ की लड़ाई को 'हिन्दुस्तानी आजादी की लड़ाई' और सामंतवादी विशेषाधिकारों को बनाए रखने की इच्छावाला 'सामंतवादी विद्रोह' दोनों कहना साम्राज्यवादी शिक्षा में पले-बढ़े, मार्क्सवाद से प्रभावित राष्ट्रीय नेताओं की मानसिक उलझन का सबूत है। लेखक की स्थापना है कि इस स्वाधीनता संग्राम को सामंतवादी हितों के लिए किया गया विद्रोह न कहकर स्वाधीनता संग्राम कहना ही संगत है क्योंकि इसमें स्वाधीनता को सबसे बड़े मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया गया था। इसके साथ ही वे कहते हैं कि यह स्वाधीनता संग्राम हमारे नवजागरण का गोमुख है जिससे राष्ट्रीयता की गंगा का अजस्र स्रोत आज तक प्रवाहित हो रहा है। वैसे तो प्रत्येक निबन्ध अपने आप में श्रेष्ठ है किन्तु इस पुस्तक का

सौजन्य : Raj Kumar Banka, 29A, Weston Street, Kolkata

श्रेष्ठतम निबन्ध १८५७ की क्रान्ति और हिन्दी नवजागरण है जो समस्त अध्येताओं, आलोचकों और साहित्य तथा इतिहास के विद्यार्थियों, शिक्षकों के लिए पठनीय है जिससे आनेवाली पीढ़ियों में भ्रांत धारणा का बीज वपन न हो।

भारतेन्दु आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक माने जाते हैं फिर भी आज तक आलोचक खड़ी बोली कविता के विकास में उनके प्रदेय को दर किनार करते रहे हैं, और उसका एकमात्र आधार भारतेन्दु की स्वीकारोक्ति थी कि कई बेर परिश्रम करने पर भी रचना भौंडी ही रही सुन्दर न बन सकी। 'भारतेन्दु की खड़ी बोली की कविताएँ' शीर्षक निबन्ध में शास्त्री जी ने सोदाहरण विस्तृत समालोचना के माध्यम से यह स्थापित किया है कि खड़ी बोली कविता के क्षेत्र में उनके द्वारा किए गए कार्य को आगे बढ़ाकर ही परवर्ती कवियों ने खड़ी बोली को हिन्दी कविता का प्रधान माध्यम बनाने में सफलता प्राप्त की है।

रवीन्द्र काव्य के अनुवादक श्री गिरिधर शर्मा नामक लेख में लेखक ने रवीन्द्र काव्य (गीतांजलि, चित्रांगदा) की मूल संवेदना, भाव भाषा और अभिव्यंजना के लालित्य, उसकी प्रांजलता के साथ अनुवाद की संप्रेषणीयता, उसकी अभिधार्थी अभिव्यक्ति और भाषा के अनगढ़पन की विस्तृत तुलनात्मक विवेचना की है। फिर भी सबसे बड़ी बात जो लेखक सूचित करते हैं वह यह कि अपने समय में शर्माजी ने रवीन्द्र के काव्यानुवाद की पहल हिन्दी में की। ध्यान देने की बात यह है कि चित्रांगदा को छोड़कर गीतांजलि, गार्डनर (बागवान), क्रेसेन्ट मून (बालचन्द्र), फ्रूट गेदरिंग (फल संचय) आदि के अनुवाद के लिए शर्मा जी ने अंग्रेजी को ही अपना आधार बनाया। किन्तु अंग्रेजी के कुछ शब्दों के लाक्षणिक अर्थ न समझ पाने के कारण कई स्थलों पर अनुवाद हास्यास्पद हो गया है। लेखक की स्थापना है कि शर्माजी रवीन्द्रनाथ की भाषा-शैली भंगिमा के समशील अनुवाद कर पाने में सफल नहीं हो पाये हैं।

प्रसाद की कामायनी एक कालजयी कृति है जिसमें सृष्टि की उत्पत्ति गाथा के माध्यम से कवि का जीवन दर्शन अभिव्यक्त हुआ है। पुस्तक में संकलित 'आधुनिक सभ्यता का संकट और कामायनी' निबन्ध कई दृष्टियों से लेखक की नवीन चिन्तन प्रणाली को स्पष्ट करता है। लेख में उसके विभिन्न पक्षों पर आधुनिकतम दृष्टि से विवेचन हुआ है। लेखक का मानना है कि 'कामायनी' में निरूपित मूल्य आधुनिक सभ्यता के संकट के लिए जिम्मेदार कुछ प्रमुख मूल्यों से टकराते हैं। कामायनी की दृष्टि चैतन्यवादी है, भौतिकवादी नहीं। कामायनी सत्ता को भौतिक और मूल्यों की कसौटी इन्द्रिय संवेद्यता को नहीं मानती। जबकि आज इन्द्रिय संवेद्य जगत् को ही चरम सत्य मानकर उसकी परीक्षा-निरीक्षा प्रवृत्त मानव बुद्धि को असाधारण सफलता मिली और विज्ञान द्वारा प्रकृति के अनेकानेक रहस्यों के उद्‌घाटन से एक बड़ी सीमा तक उस पर विजय प्राप्त की जा सकी। इससे एक ओर जहाँ महामंत्रों और प्रौद्योगिकी के विकास के फलस्वरूप बड़े पैमाने पर होने वाले उत्पादनों के कारण मानव सुख-सुविधा में वृद्धि हुई वहीं दूसरी ओर विश्व बाजार को नियंत्रित करने की होड़ भी बढ़ी एवं व्यापक विनाश करने में समर्थ आणविक और दूसरे प्रकार के शस्त्रास्त्रों का भी आविष्कार हुआ। दो-दो विश्व युद्धों और दर्जनों क्षेत्रीय युद्धों की विभीषिका के बाद भी तीसरे सर्वनाशी विश्वयुद्ध की आशंका से आज का प्रबुद्ध मानव संत्रस्त है। लेखक मानता है कि इस संकट से उबारने में आज कामायनी हमारी सहायक हो सकती है। क्योंकि वह मानवता का विकास रूपक है और इसमें मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने की सामर्थ्य है।

यह और बात है कि कामायनी की कथा दृष्टि का निर्माण प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक उपादानों से हुआ है किन्तु वह अपनी समसामयिकता के प्रति जागरूक है, उसका संदेश भविष्योन्मुखी है। अपने लक्ष्य और अपनी

छायावादी शैली के कारण कामायनी में सांकेतिकता की प्रधानता है। इसी सांकेतिकता की विचारभूमि पर कामायनी में आधुनिक सभ्यता के संकटों के संभावित समाधानों की तलाश सम्भव है। कामायनी की दृष्टि सर्वमंगलवादी है। इसीलिए कामायनी इसी लोक को कल्याणभूमि मानकर बुद्धि को श्रद्धा से संयुक्त कर समरसता के सिद्धान्त के आधार पर विकल निरुपाय बिखरे मानवों को संगठित कर विश्व-मंगल के लिए समर्पित तेजस्वी कर्म परम्परा के द्वारा मानवता को विजयिनी बनाने के लिए जन-जन का आवाहन करती है।

अमृत-चेतना काव्य के प्रकाशन के पश्चात् पन्त पर आक्षेप लगा था कि उक्त रचना में वे अरविन्द से प्रभावित थे, जिसका उत्तर पंत ने 'नम्र-अवज्ञा' नामक कविता में दिया था :

"वे कहते मैं भाव नहीं, केवल प्रभाव हूँ,
सूझ नहीं, केवल सुझाव हूँ,
सच यह, मैं केवल स्वभाव हूँ।"

इसी संदर्भ में शास्त्री जी ने अपने लेख 'सुमित्रानन्दन पन्त के अमृत-चेतना काव्य' की भूमिका में लिखा है— प्रभावित होना और प्रभावित करना जीवन्तता का लक्षण है। यह कैसे सम्भव है कि कोई तेजस्वी चेतना सम्पन्न व्यक्ति अपने बड़ों से, श्रेष्ठजनों से प्रभावित न हो, गुरु तुल्य लोगों से सीखे नहीं ? जो बड़े लोगों से प्रभावित न होगा, वह चेतन न होकर जड़ होगा, वह सर्जना क्या करेगा? और जो अपनी उपलब्धियों से दूसरों को प्रभावित नहीं कर सकता वह कैसा सर्जक है?

लेखक का कहना है कि असंख्य पुष्पों से रस का आहरण करने वाली मधुमक्खी उन समस्त पुष्प रसों को समाहित कर मधु में परिवर्तित कर देती है यह मधु उसकी मौलिक सर्जना है। अलग-अलग पुष्पों के रस का एकीकृत मौलिक नवीन स्वरूप मधु निश्चय ही मधुमक्खी की नवीन सर्जना है। शास्त्री जी मानते हैं कि पंत की भूमिका भी मधुमक्षिका की भूमिका है।

'बन शरण का उपकरण मन' लेख के व्याज से शास्त्री जी निराला के समस्त उत्तरवर्ती शरणागति काव्य की पड़ताल करते हैं। उनकी स्थापना है कि भाव और अभिव्यक्ति दोनों स्तरों पर स्वाभाविक सहज निराला का शरणागति काव्य किसी आत्मप्रवंचना और रहस्यवादी रूढ़ियों का काव्य नहीं है बल्कि आन्तरिक विश्वास से उद्भूत सगुण भक्ति भाव का काव्य है। इस ऊँचाई पर पहुँच कर कवि के लिए कला का चमत्कार नगण्य हो उठा है। भाव के आवेग में भाषा की पकड़ तो ढीली हुई है किन्तु मार्मिकता और अधिक गहरा उठी है। कृत्तिवास और निराला द्वारा रचित 'राम की शक्ति पूजा' का तुलनात्मक विवेचन करते हुए शास्त्री जी कहते हैं कि कृत्तिवासी रामायण के एक प्रसंग पर आधारित होते हुए भी निराला की राम की शक्ति पूजा उसी प्रकार एक मौलिक रचना है जिस प्रकार कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' महाभारत के आदि पर्व में वर्णित दुष्यंत-शकुन्तला के आख्यान पर आधारित होते हुए भी मौलिक कृति है। दोनों महाकवियों ने राम की शक्तिपूजा का वर्णन अपने-अपने समय के प्रयोजन एवं काव्यादर्शों के अनुरूप किया है। स्वभावतः विषय वस्तु की समानता के बावजूद दोनों के कथ्य एवं कथन भंगिमा में बहुत अन्तर है। कृत्तिवास के लिए शक्ति साधना एवं शक्ति की शारदीया पूजा की महिमा मुख्य थी, परन्तु निराला शक्ति की ऐसी मौलिक कल्पना करना चाहते थे जो किसी सम्प्रदाय तक सीमित न रहकर न्याय के लिए संघर्ष करने वालों का संबल बन सके। केवल शक्ति साधना के निरूपण में ही नहीं अपितु कथावस्तु के संगठन, अभिव्यंजना, शिल्प, शैली और भाषा का पर्याप्त वैभिन्य दोनों कृतियों में है।

सौजन्य : डकोरा जिंक, ११, काशीपुर रोड, कोलकाता-७०० ००२

'सरस्वती' पत्रिका की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों की चर्चा करते हुए लेखक उसे एक परिपूर्ण पत्रिका मानते हैं। 'आलोचना परम्परा और हिन्दी आलोचक' में शास्त्री जी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के प्रदेय को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध करते हैं। उनकी मान्यता है कि आलोचना के क्षेत्र में सर्वाधिक मान्यता उन्हें ही प्राप्त हुई है जो विवेकपूर्वक पश्चिमी काव्यशास्त्र चिन्तन और उससे भी अधिक नवीन विज्ञान सम्मत सैद्धान्तिक उपलब्धियों के साथ जोड़कर भारतीय काव्यशास्त्र का उपयोग कर पाये। लेखक की सबसे बड़ी पीड़ा यह है कि अपना नया भारतीय साहित्य शास्त्र विकसित करने का जो मूलगामी कष्टसाध्य कार्य आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आरम्भ किया था, उसे अग्रसर करने का सचेत और प्रातिभ प्रयास शिथिल हो गया है।

मूल्यबोध का संकट आज के समाज की, साहित्य की, संस्कृति की सबसे बड़ी बिडम्बना है। 'संस्कृति साहित्य और मानव-मूल्य' निबन्ध में जीवन मूल्यों में आए संक्रमण, आधुनिक साहित्य के नवीन मूल्य, साहित्य और मानवीय मूल्यों का प्रयोजन, मनुष्य की मूल्यखोजी चेतना का आधारभूत प्राणतत्व आदि पर विचार करते हुए शास्त्री जी कहते हैं कि व्यक्ति के वे विशिष्ट सिद्धान्त जो दूसरों के साथ उसके सम्बन्ध को प्रभावित करते हैं और उस संबंध को बेहतर बनाते हैं वे भारतीय दृष्टि द्वारा स्वीकृत मानव मूल्य कहे जा सकते हैं। सत् चित और आनन्द इन तीनों की साधना, इन तीनों की उपलब्धि, सबमें आधारभूत रूप से एक समान तत्त्व की स्वीकृति, ये हमारी भारतीय संस्कृति के आधारभूत मूल्य रहे हैं। इसी संदर्भ में शास्त्री जी लिखते हैं कि ऐतिहासिक और भौगोलिक परिवेश की भिन्नता से मूल्यों में भिन्नता आ जाती है। जैसे अपरिग्रह की भावना जिस रूप में हमारे देश में है उसी तरह शायद अन्य देशों में नहीं। हम औदात्य के प्रति, धर्म की चेतना के प्रति कुछ अधिक समर्पित हैं जबकि पश्चिमी देश व्यवहार के और भौतिक जीवन के प्रति अधिक समर्पित हैं।

स्वाधीनता की प्राप्ति तक हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में मूल्यों की अधिक चर्चा नहीं की जाती थी, पर आज साहित्य में मूल्यों की, विशेष रूप से मानवीय मूल्यों की चर्चा का बहुत अधिक जोर है। शास्त्री जी का मानना है कि वे मान्यताएँ, वे सिद्धान्त, वे गुण जो अपनी अंतर्निहित अर्हता या क्षमता के कारण मनुष्य को अच्छा मनुष्य बनाते हैं, मानवीय मूल्य हैं। साहित्य और मूल्य की चर्चा करते हुए शास्त्री जी का कहना है कि कोई कृति सचमुच बड़ी कृति है या नहीं इसका निर्णय आधारभूत मानवीय मूल्यों द्वारा ही किया जा सकता है। आधारभूत मानवीय मूल्यों से युक्त कृतियाँ ही स्थायी महत्त्व की मानी जाती हैं। साहित्य केवल शब्दों का खेल नहीं बल्कि विश्वासों और आचरणों से समर्थित उदात्त जीवन की प्रतिध्वनि है। इसी संदर्भ में शास्त्री जी का कहना है कि हमारा समकालीन आधुनिक भारतीय साहित्य आधुनिकता के मोह में आकर पश्चिमी जीवन मूल्यों को आयातित और आरोपित करता रहा तो सृजन की गंभीर प्रक्रिया से वह गुजर नहीं पायेगा।

साहित्य हो, दर्शन हो, जीवन हो, व्यवहार हो विश्वसनीयता कथनी से नहीं करनी से उभरती है। साहित्य में बड़ी-बड़ी बातें, जीवन में छोटे काम, इस प्रकार बँटी हुई जिन्दगी से साहित्य बौना होता है और जीवन भी बौना होता है। शास्त्री जी का जीवन मन, वाणी और कर्म की एकता का जीवन है। वे जितने बड़े चिन्तक हैं उससे भी बड़े समालोचक और इन सबसे बड़ा है उनका मानव, उनका अन्तर्मन। ●

सौजन्य : श्रीमती द्रोपदी देवी बंसल, द्वारा-सुपर ट्रेडर्स, २-बी, गणेशचन्द्र एवेन्यू, कोलकाता-१३

तारा दूगड़

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की अनूदित एवं संपादित कृतियाँ

अनूदित :

उपमा कालिदासस्य

बँगला के प्रसिद्ध समालोचक तथा प्रख्यात विद्वान डॉ० शशिभूषण दास गुप्त की चर्चित कृति है— 'उपमा कालिदासस्य'। बँगला भाषा में रचित इस कृति में शशिभूषण बाबू ने कालिदास की उपमाओं को सहृदयतापूर्वक उभारा है। कालिदास समूचे साहित्य के मानक हैं। ऐसे विशिष्ट कवि के साहित्य में उपमाओं का किस प्रकार समावेश किया गया है इसकी जानकारी हिन्दी के साहित्यप्रेमियों को हो सके इस हेतु श्री विष्णुकान्त शास्त्री ने इस कृति का बँगला से हिन्दी में अनुवाद किया। स्वाभाविक रूप से इस अनुवाद की व्यापक प्रशंसा हुई और हिन्दी साहित्यकारों एवं साहित्य-रसिक पाठकों ने इसे हृदय से स्वीकार किया।

यह कृति शास्त्री जी के संस्कृत एवं बँगला भाषा के गहन अध्ययन एवं ज्ञान का प्रमाण है।

संकल्प संत्रास संकल्प

'संकल्प संत्रास संकल्प' विष्णुकान्त शास्त्री द्वारा अनूदित बांग्ला कविताओं का एक महत्त्वपूर्ण संकलन है। भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा १९७३ में प्रकाशित इस कृति में बांगलादेश मुक्ति संग्राम से सम्बन्धित ५६ कविताएँ संकलित हैं।

मुक्तियुद्ध की कठोर अग्नि परीक्षा में तपकर कुन्दन बन जाने वाली बांग्लादेश की इन संग्रामी कविताओं का अनुवाद इसलिये और भी महत्त्वपूर्ण हो गया है क्योंकि कवि-हृदय विष्णुकान्त जी इन कविताओं की संवेदनाओं के स्वयं साक्षी रहे हैं। मुक्ति-योद्धाओं का साहचर्य, उनकी पीड़ा शास्त्री जी के अन्तर्मन को साक्षात युद्ध में प्रवृत्त होने हेतु उद्वेलित करती रही है जिसके बारे में वे स्वयं लिखते हैं— "बांगलादेश के मुक्ति युद्ध के सहयोगी के रूप में राइफल न चला पाने के क्षोभ को एक हद तक दूर करने का प्रयास मैंने कलम चला कर किया।"[1]

संकलन तीन भागों में बँटा है 'अंधेरे को चुनौती' शीर्षक पहले भाग में २५ मार्च १९७१ के पहले की कविताएँ हैं। लोकतांत्रिक आन्दोलन के माध्यम से जनगण के अधिकारों की रक्षा के लिये अत्याचारी शासकों को ललकारने का स्वर ही इसमें मुख्य रूप से उभरा है।

'गहराता अँधेरा और विद्रोही किरणें' शीर्षक दूसरे भाग में २५ मार्च १९७१ से १६ दिसम्बर १९७१ के मध्य

सौजन्य : शिवभगवान बगड़िया, १०, बालीगंज पार्क रोड, कोलकाता

रचित कविताएँ हैं जिनमें एक तरफ पाक फौज द्वारा किये गये नृशंस अत्याचार, बलात्कार, नरसंहार और विध्वंस की छाया में पलने वाले गहन संत्रास, पीड़ा एवं वेदना को चित्रित किया गया है तो दूसरी तरफ युद्ध करने के संकल्प का वज्र स्वर भी इसमें निनादित हुआ है। 'रक्त-रंजित भोर' शीर्षक तीसरे भाग में मुक्ति के बाद की कविताएँ हैं जिनमें शहीदों का अश्रुतर्पण है, भारत के प्रति कृतज्ञता के भाव हैं और नवीन बांगलादेश के नव-निर्माण की शपथ भी।

प्रस्तुत कृति में जो कविताएँ अनुवादक ने समाहित की हैं वे बांगलादेशवासियों के अँधेरे से जूझ कर प्रकाश पाने की अभियात्रा के हर मोड़ की साक्षी हैं। शिल्प की नवीनता, चित्रात्मकता एवं अनुभव की तीव्रता को दर्शाती कुछ कविताएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिनमें संग्राम चलबेई, जागे आछे, ब्लड बैंक, आमार बांग्ला, आमार हातेई चाबी, प्रतिटि अक्खरे, अस्त्र समर्पण आदि प्रमुख हैं।

बांगलादेश की संवेदना एवं चेतना का वहन करनेवाली इन कविताओं का हिन्दी अनुवाद न केवल हिन्दी साहित्य को समृद्ध करता है अपितु बांगलादेश और भारत की मैत्री की गाथा भी प्रस्तुत करता है। ये कविताएँ यह भी प्रमाणित करती हैं कि बांगलादेश मुक्ति संग्राम में वहाँ के साहित्यकारों विशेषकर कवियों का कितना महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। बांगलाभाषा एवं संस्कृति की रक्षा के लिये बांगलादेश की बलिदानी चेतना एवं वहाँ की मुक्तिकामी जनता के वज्र संकल्प को प्रतिध्वनित करती इन समस्त 'क्रांतिधात्री कविताओं' के अनुवाद के साथ साथ देवनागरी लिपि में इनके मूल पाठ का प्रकाशन इनकी उपयोगिता एवं भाव भाषागत सौंदर्य की अभिवृद्धि करता है।

१६४ पृष्ठों वाली काव्य की यह प्रमुख कृति इतिहास के ज्वलन्त दस्तावेज के रूप में स्वतन्त्रताकामी, संघर्षशील मानव का सदैव मार्ग प्रशस्त करती रहेगी।

महात्मा गाँधी का समाज दर्शन

बीसवीं सदी के महापुरुषों में महात्मा गाँधी का नाम श्रद्धा एवं सम्मान के साथ लिया जाता है। समाज व्यवस्था से सम्बन्धित महात्मा गाँधी के अनमोल उद्‌गारों को 'सोशल फिलासफी ऑफ महात्मा गाँधी' नामक पुस्तक के रूप में प्रस्तुत करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है भारतीय दर्शन के गहन अध्येता, गाँधीवादी विचारधारा के प्रबल पक्षधर, साहित्य मर्मज्ञ डॉ० महादेव प्रसाद ने एवं उसके सुस्पष्ट हिन्दी अनुवाद को अध्यापकीय निष्ठा एवं आलोचकीय सतर्कता के साथ प्रस्तुत किया है आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ने।

१९७३ में अनुवादित इस कृति को भारत सरकार के शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्रालय की प्रादेशिक भाषाओं में विश्वविद्यालय स्तरीय पुस्तक रचना योजनान्तर्गत हरियाणा साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित किया गया।

लगभग २७० पृष्ठों वाली इस कृति में ६ परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद का आरम्भ गाँधीजी के जीवन-दर्शन के अध्ययन से हुआ है। जिसमें सत्ता एवं जगत की प्रवृत्ति, मानव जीवन के उद्देश्य एवं स्वभाव की विशद चर्चा तथा गाँधी जी की कल्पना का मानव कैसा हो, इसका उल्लेख है। दूसरे परिच्छेद में समाज-व्यवस्था की धारणा की चर्चा की गई है। तीसरे परिच्छेद में सामाजिक क्रांति की गाँधी-प्रविधि का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। चौथा परिच्छेद वस्तुतः तीसरे के अनुवर्तन क्रम में ही है जिसमें गाँधीजी के समाजवाद एवं अत्यन्त विवादास्पद 'न्यास सिद्धान्त' का विवेचन किया गया है। पाँचवें परिच्छेद में आज की महान समस्या सामाजिक दायित्व एवं व्यक्तिगत

सौजन्य : श्रीमती सुशीला देवी डागड़िया, १०, बालीगंज पार्क रोड, कोलकाता

स्वतंत्रता के समन्वय की समस्या पर विचार किया गया है तथा छठे परिच्छेद में गाँधी अर्थ-व्यवस्था का अध्ययन किया गया है जो उनके समाज-दर्शन का महत्त्वपूर्ण अंग है।

गाँधी जी के समाज दर्शन की विशेषताओं को रेखांकित करते हुए अंत में लेखक की यह टिप्पणी ध्यातव्य है— 'सुनिश्चित जीवन के उद्देश्य, समाज-व्यवस्था एवं क्रांति की प्रविधि से संयुक्त गाँधी जी का समाज-दर्शन सुव्यवस्थित है। उन्होंने मार्क्स जैसे समाज दार्शनिकों के सदृश ही राज्य-रहित, वर्ग-विहीन एवं जातिरहित समाज की अवधारणा की थी। किन्तु जैसा हम संकेत कर चुके हैं मार्क्स के समय में संसार के सामने एक ही खतरा था पूँजीवाद; किन्तु गाँधी जी के समय में संसार के सामने तीन खतरे हैं— पूँजीवाद, समग्रवाद एवं उनकी सहवर्ती अणुबमों एवं अन्य घातक शस्त्रों के रूप में मूर्तिमती हिंसा। इनके विरुद्ध क्रमिक संघर्ष करने के लिये उन्होंने तीन शस्त्र दिये, असहयोग, अकेन्द्रीकरण एवं अहिंसा।"[२]

संपादित पुस्तकें

दर्शक और आज का हिन्दी रंगमंच

हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी के शुभ अवसर पर अनामिका कला संगम, कलकत्ता द्वारा आयोजित परिसंवाद की पुस्तकाकार प्रस्तुति है— 'दर्शक और आज का हिन्दी रंगमंच।' रंगमंच सभी कलाओं का मिलन बिन्दु है। इसे जन-जीवन के कल्याण और मनोरंजन का समवेत माध्यम माना गया है। इसलिये संगम के पदाधिकारियों ने हिन्दी रंगमंच शतवार्षिकी के अवसर पर भारतीय रंगमंच के विशिष्ट सृष्टाओं और संचालकों की चिंतनधाराओं एवं कार्य पद्धतियों से परिचित होने हेतु देश के प्रतिष्ठित नाट्यकारों, नाट्य प्रयोक्ताओं एवं नाट्य समीक्षकों को इस विचार गोष्ठी में आमंत्रित किया।

प्रथम विचार गोष्ठी के संचालन एवं इस पूरी कृति के सम्पादन का भार प्रो० विष्णुकान्त शास्त्री को सौंपा गया। दो सत्रों में आयोजित इन अत्यन्त विचारोत्तेजक एवं जीवन्त गोष्ठियों मे 'संगम' के अनुरोध पर पधारे श्री मोहन राकेश, श्री गिरीश करनाड, श्री शंभु मित्र, डॉ० सुरेश अवस्थी, श्री नेमिचन्द्र जैन आदि ख्यातिलब्ध नाट्यकारों एवं नाट्यलोचकों के सारगर्भित विचारों के साथ-साथ स्थानीय शुभचिन्तकों के सुझावों का सुव्यवस्थित संपादित रूप है यह कृति, जिसका प्रकाशन १९६८ में अनामिका कला संगम द्वारा किया गया।

पूरा परिसम्वाद मूलतः दो समस्याओं को समेटे हुए था। पहली दर्शक और रंगमंच के पारस्परिक संबंधों एवं अपेक्षाओं से जुड़ी थी और दूसरी, हिन्दी रंगमंच के वर्तमान संदर्भ में व्यावहारिक और सामयिक दृष्टि से परिस्थितियों के अनुरूप उसके पुनर्परीक्षण से जुड़ी थी।

प्रथम विचार गोष्ठी के अवसर पर संयोजकीय वक्तव्य में शास्त्री जी कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर चर्चा करते हुए कहते हैं— "नाटक का लक्ष्य है दर्शकों का परितोष। .....किन्तु यह लक्ष्य कैसे सिद्ध हो? दर्शकों के स्तर भेद के अनुरूप ही उनके परितोष का स्तर भेद होता है। .....छाया के समान वह परितोष आगे-आगे भागता रहता है और दर्शक की रुचि की सभी सामग्री मुहैया करानेवाले अच्छे-अच्छे उस्तादों की फिल्में भी फेल हो जाती हैं।

सौजन्य : शिवभगवान बगड़िया, १०, बालीगंज पार्क रोड, कोलकाता

.....श्रेष्ठ नाटककार और कुशल नाट्य प्रयोक्ताओं की सम्मिलित प्रतिभा भी दर्शक चित्त को कभी-कभी स्पर्श नहीं कर पाती।"[3] इस प्रकार इन समस्याओं की तह तक जाते हुए सघन विचार विमर्श के दौरान शास्त्री जी ने नाटक की सफलता के लिये जहाँ दर्शकों का परितोष आवश्यक माना वहीं उन्होंने संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों के अनुसार दर्शकों में कुछ विशेष गुणों का होना भी ज़रूरी समझा। कला एवं शिल्प के प्रति रुचि रखने वाले दर्शक का अन्यान्य गुणों से सम्पन्न होने के साथ-साथ सामाजिक होना अत्यावश्यक माना गया है जिसकी आज के युग में नितान्त कमी आ गई है। आज का आम आदमी अधिकाधिक अपने में सिमटता जा रहा है। ऐसे में शास्त्री जी के ये विचार निश्चित ही महत्त्वपूर्ण हैं— 'विचित्र विरोधाभासों की मूर्त्त समष्टि बने आज के हिन्दी रंगमंच आन्दोलन को यदि सफल बनाना हो तो नाटकों के लेखन, विकास एवं प्रस्तुतिकरण में दर्शक वर्ग की महत्त्वपूर्ण भूमिका को गंभीरता से समझना होगा क्योंकि हिन्दी चलचित्रों से बेतरह प्रभावित होने की वजह से दर्शक रंगमंच को नहीं खोजता वरन् रंगमंच दर्शक को खोजता है।'[4]

हिन्दी रंगमंच से जुड़ी समस्याओं, समाधानों एवं संभावनाओं को उजागर करनेवाली १०० पृष्ठों वाली यह कृति हिन्दी रंगमंच से जुड़े कलाकारों, साहित्यकारों, लेखकों एवं दर्शकों के लिए बहुमूल्य निधि है।

बालमुकुन्द गुप्त : एक मूल्यांकन

बाबू बालमुकुन्द गुप्त शतवार्षिकी के पावन पर्व पर उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व का आलोचनात्मक अध्ययन और मूल्यांकन प्रस्तुत करने वाली कृति है— 'बालमुकुन्द गुप्त : एक मूल्यांकन'।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त शतवार्षिकी समारोह समिति द्वारा प्रकाशित इस ग्रन्थ का संपादन समिति के संयोजक एवं प्रख्यात आलोचक प्रो० कल्याणमल लोढ़ा के साथ प्राध्यापक विष्णुकान्त शास्त्री ने किया है। माँ भारती के अनन्य उपासक, तेजस्वी सम्पादक, निर्भीक व्यंग्यकार, समर्पित देशभक्त एवं प्रखर आलोचक बालमुकुन्द गुप्त के साहित्यिक, राजनीतिक एवं सामाजिक अवदानों को इस पुस्तक में समग्रता से प्रस्तुत किया गया है।

१९६५ में प्रकाशित इस कृति में कुल १३ निबन्ध संकलित हैं जिनमें बालमुकुन्द गुप्त के बहुआयामी साहित्यिक अवदान का प्रभावी विश्लेषण किया गया है। गुप्त जी के विभिन्न साहित्यिक रूपों का गम्भीर विवेचन प्रस्तुत करने वाले, कलकत्ता महानगर के विशिष्ट साहित्यकारों, प्राध्यापकों एवं विद्वानों द्वारा लिखे गये ये आलेख सम्पादकीय कौशल को प्रमाणित करते हैं।

दोनों सम्पादकों के आलेखों के अतिरिक्त जिन लेखकों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं वे हैं— सीताराम सेकसरिया, डॉ० राम सेवक पाण्डेय, डॉ० कृष्ण बिहारी मिश्र, मुनीश्वर झा, रघुनन्दन मिश्र, डॉ० जगन्नाथ सेठ, डॉ० दयानन्द श्रीवास्तव, डॉ० प्रबोध नारायण सिंह, कृष्णाचार्य।

परिशिष्ट में बालमुकुन्द गुप्त के कुछ महत्त्वपूर्ण अग्रन्थित लेखों को समाहित करने से कृति की महत्ता और भी बढ़ गई है। गुप्त जी के साहित्यिक अवदान एवं उनके चारित्रिक उत्कर्ष को बहुत हद तक स्पष्ट करती हैं डॉ० राम सेवक पाण्डेय की ये पंक्तियाँ— 'भारतेन्दु युग के अन्यतम लेखक, हिन्दी गद्य के निर्माता तथा उसमें संजीवनी शक्ति का संचार करने वाले बाबू बालमुकुन्द गुप्त अद्भुत प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे। उर्दू के लेखक तथा पत्रकार होने

सौजन्य : श्रीमती सुशीला देवी बगड़िया, १०, बालीगंज पार्क रोड, कोलकाता

के कारण उनकी भाषा में रवानगी, चुस्ती और तीखी मार करने की अपूर्व क्षमता थी। उनकी भाषा जनजीवन से सम्बद्ध तथा वस्तु सत्य से सटी हुई होती थी। संस्कृत के अप्रचलित शब्दों से पाठकों को आतंकित करने से उन्होंने सदा अपने को पृथक् रक्खा। उनकी भाषा साफ, सीधी और टकसाली होती थी साथ ही बहुत जोरदार और पैनी, उसमें एक शब्द भी भरती का नहीं होता था। गुप्त जी राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्ध तथा जागरूक लेखक थे।"

बालमुकुन्द गुप्त की जीवन्तता, कर्त्तव्यपरायणता एवं सत्यनिष्ठा को प्रमाणित करती लगभग २५० पृष्ठों वाली यह कृति बालमुकुन्द गुप्त का परिपूर्ण आकलन प्रस्तुत करती है।

तुलसीदास : आधुनिक संदर्भ में

'अपनी सभ्यता के प्रति श्रद्धा ज्ञापित करने का अर्थ उसे अचल प्रतिमा मानकर उसकी आरती उतारते रहना अर्थात् उसे जड़ बनाना नहीं है। सच्ची श्रद्धा जड़ को चैतन्य बनाती है, चैतन्य को जड़ नहीं। हमारी संस्कृति न केवल जीवन्त है बल्कि अनन्त जीवनदायिनी भी है क्योंकि उसके वरद पुत्र निरन्तर उसका कायाकल्प करते रहे हैं।" भारत माता के एक ऐसे ही वरद पुत्र के सर्जनात्मक चिन्तन का पुष्कल प्रमाण वहन करने वाली पुस्तक है— 'तुलसीदास आधुनिक संदर्भ में'।

१९७६ में बंगीय हिन्दी परिषद् द्वारा प्रकाशित इस ग्रंथ का संपादन किया है आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री एवं प्रो० जगन्नाथ सेठ ने। भारतीय संस्कृति के उन्नायक भक्त शिरोमणि तुलसीदास के जीवन प्रसंगों, आज के युग में उनकी प्रासंगिकता, उनके द्वारा रचित रामचरितमानस, विनयपत्रिका आदि ग्रंथों की उपादेयता पर सविस्तार चर्चा इस कृति के निबंधों में की गई है।

कुल ३९ निबन्धों वाली इस कृति में देश के शीर्षस्थ विद्वानों के साथ-साथ स्थानीय लेखकों, साहित्यकारों की रचना का समावेश ग्रंथ की गरिमा तो बढ़ाता ही है सम्पादकों के विवेक को भी प्रमाणित करता है। गोस्वामी तुलसीदास की भक्ति पद्धति के साथ-साथ उनके व्यापक प्रदेय पर सुसंगत विवेचन निबंधों की खासियत है। मानस चतुःशती का प्रसंग होने के कारण कई निबन्ध रामचरितमानस पर केन्द्रित हैं। तुलसी अनुरागियों, मानसभक्तों तथा साहित्य प्रेमियों के लिये एक ही स्थान पर बहुमूल्य सामग्री को एकत्र कर सम्पादकद्वय ने अभूतपूर्व कार्य किया है।

लेखकों की सूची में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, पं० बलदेव प्रसाद मिश्र, डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ० जगदीश गुप्त, अज्ञेय, डॉ० बच्चन सिंह के साथ वरिष्ठ स्थानीय रचनाकारों के नाम भी शामिल हैं।

४०० पृष्ठों वाली इस पुस्तक के सम्पादकीय में संपादकद्वय की विनम्र प्रणति एवं तुलसी-निष्ठा दृष्टव्य है— "तुलसीदास की भावोच्छ्वासित स्तुति या केवल पुरातत्त्वानुसंधानी वृत्ति के अनुरूप की गयी खोज या समीक्षा उनके प्रति हमारे उत्तरदायित्व का सम्यक् निर्वाह नहीं है। उन्हें अतीतयुग का विगत प्राणी मानकर उनकी देन को नकार देना तो 'कछु सूझै नहीं धम धूसर को' की सत्यता को प्रमाणित करना है।..... अतः परिषद के कार्यकर्त्ताओं ने निश्चय किया कि आधुनिक संदर्भ में तुलसीदास के कृतित्व का पुनर्मूल्यांकन कर यह देखा जाये कि वे आज भी किस सीमा तक हमलोगों को अनुप्राणित कर श्रेय की ओर उन्मुख कर सकते हैं।"

शास्त्री जी की सम्पादित कृतियों में इस कृति का विशेष महत्त्व है।

सौजन्य : विजेंजीलाल अग्रवाल, शालीमार पैलेट फीड्स लि०, ४६-सी, धीरेंगी रोड, कोलकाता

बांगलादेश : संस्कृति और साहित्य

"इंसानियत की लड़ाई/कलम से लड़ने वालों
दुनिया की रूह को जगाने वालों/अपने हर लफ़्ज़ को
नई जीभ दो, नया बाना, नया वेश/आओ बोलें-जय बांगलादेश।"[५]

'बांगलादेश : संस्कृति और साहित्य' में छपी कवि केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' की इन पंक्तियों में झलकती चुनौती इस तथ्य की साक्षी है कि बांगलादेश मुक्ति संग्राम की व्यापक पीठिका तैयार करने में 'कलम से लड़ने वालों' की अहम् भूमिका रही है।

बांगलादेश के सांस्कृतिक साहित्यिक पहलुओं को सुगमता से जानने समझने का आधार प्रदान करती है बंगीय हिन्दी परिषद् द्वारा प्रकाशित कृति 'बांगलादेश : संस्कृति और साहित्य'। इस कृति के सम्पादक हैं बांगलादेश मुक्ति संग्राम से अविच्छिन्न रूप से जुड़े, मुक्ति योद्धाओं से व्यक्तिगत रूप से परिचित-प्रभावित प्राध्यापक विष्णुकान्त शास्त्री।

बांगलादेश से सम्बन्धित शास्त्री जी की अन्य दो कृतियों की श्रृंखला में प्रस्तुत यह तीसरा पुष्प एक साथ स्वतंत्रता पूर्व बांगलादेश की परिस्थितियाँ संघर्ष, संस्कृति, साहित्य, उसकी विजय एवं भारत-बांगलादेश मैत्री संबंधों की जुबानी स्पष्ट करता है। पुस्तक में संगृहीत निबंधों की उपादेयता पर सम्मति प्रकट करते हुए शास्त्री जी स्वयं लिखते हैं— "हमारा विश्वास है कि ये रचनाएँ बांगलादेश के उस मिजाज़ को व्यक्त करती हैं जिसने असाम्प्रदायिक और संघर्षशील बंगाली राष्ट्रीयता को साम्प्रदायिक मुस्लिम राष्ट्रीयता के ऊपर वरीयता दी।"[६]

पुस्तक दो खण्डों में बँटी है जिसके पहले खण्ड में भारतीय लेखकों की उन रचनाओं को संकलित किया गया है जिनमें बांगलादेश के निर्माण से पूर्व की स्थितियाँ, उनकी सांस्कृतिक विरासत एवं समूचे मुक्ति संघर्ष को उकेरते कुछ महत्त्वपूर्ण लेख हैं। साथ ही हिन्दी कविताएँ भी सम्मिलित की गई हैं। इन कविताओं में बांगलादेशी शरणार्थियों की दुरावस्था एवं पाकिस्तान सरकार के नृशंस, निरीह अत्याचारों से पीड़ित प्रताड़ित बांगलादेशवासियों के प्रति भारतीय कवि मानस की मुखर प्रतिक्रियाएँ शामिल हैं। दूसरे खण्ड में बांगलादेश के संग्रामी साहित्य के कुछ महत्त्वपूर्ण आलेख संग्रहीत हैं। इनमें कब्र, बारिश, दुर्जन का नाम आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

बांगला भाषा के इन संग्रामी दस्तावेजों का हिन्दी रूपान्तरण साहित्य की बहुमूल्य निधि है। इसके साथ ही पुस्तक के अंत में हिन्दी में प्रकाशित बांगलादेश संबंधी साहित्य की विस्तृत जानकारी प्रस्तुत कर सम्पादक ने न केवल सराहनीय कार्य किया है अपितु भारत बांगलादेश मैत्री संबंधों को और अधिक सुदृढ़ बनाने की दिशा में चरणन्यास भी किया है। कुल २०३ पृष्ठों वाली इस कृति की उपादेयता स्वयंसिद्ध है।

कलकत्ता १९८६

कलकत्ता १९८६, कलकत्ता महानगर के हिन्दी कवि-लेखकों की श्रेष्ठ रचनाओं का संकलन है। १९८७ में प्रकाशित यह पुस्तक अप्रस्तुत प्रकाशन द्वारा प्रकाशित है। इसका संपादन किया है श्री विष्णुकान्त शास्त्री ने। संग्रह की रचनाएँ शास्त्री जी के सम्पादकीय विवेक को प्रमाणित करती हैं।

सौजन्य : राजू सोहता, लेकटाउन, कोलकाता

संकलन का प्रथम अध्याय यशस्वी गीतकार एवं कवि श्री छविनाथ मिश्र पर केन्द्रित है। इसके बाद कलकत्ता महानगर के हिन्दी कवि-लेखकों की श्रेष्ठ रचनाएँ संकलित हैं जिनमें २० कविताएँ ६ कहानियाँ, ३ ललित निबन्ध एवं ५ समीक्षात्मक निबन्ध शामिल हैं। इन कविताओं, कहानियों एवं निबन्धों के माध्यम से पाठक कलकत्ता में हो रहे हिन्दी के सर्जनशील साहित्य का आकलन कर सकते हैं।

संकलन की उपादेयता को स्पष्ट करती 'संपादकीय' की कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं— "कलकत्ते जैसे प्रबुद्ध नगर में सर्जनारत हिन्दी साहित्यकारों की एक वर्ष विशेष की रचनाओं को एकत्र प्रकाशित करना, साहित्य के विशेष देशगत एवं कालगत आस्वाद का सहृदयों को सुयोग देना है। एक ही नगर में, एक ही वर्ष में वैविध्य के बावजूद कुछ समानधर्मिता है कि नहीं, इसकी तलाश अपने में महत्त्वपूर्ण है। .....हमारा दृढ़ विश्वास है कि इस संकलन की कई रचनाएँ अखिल भारतीय स्तर के संकलन में भी ससम्मान संकलित की जा सकती हैं।"[७]

१४५ पृष्ठों वाला यह संकलन स्व० मदन मोहन अग्रवाल को रचनात्मक श्रद्धांजलि तो है ही, कलकत्ता की रागात्मक ऊर्जा का प्रकटीकरण भी है।

कलकत्ता १९९३

कलकत्ता महानगर के कुछ वरेण्य एवं नवोदित हिन्दी रचनाकारों की श्रेष्ठ रचनाओं का संकलन है— 'कलकत्ता १९९३'। 'प्रतिध्वनि' कलकत्ता द्वारा प्रकाशित इस कृति का सम्पादन आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ने किया है। १९८५ से १९९३ तक लगातार श्री मदन मोहन अग्रवाल की पावन स्मृति में निकाले गये इन वार्षिक रचना संकलनों की सार्थकता एवं उपादेयता को कलकत्ते के साहित्य समाज के साथ-साथ बाहर के साहित्यकारों ने भी स्वीकारा, सराहा था। पाठकों के अलावा स्वयं रचनाकारों को यह कृति कैसे आह्लादित, उत्साहित करती थी इस पर सम्पादक विष्णुकान्त जी की टिप्पणी ध्यातव्य है— 'कलकत्ते के साहित्यिक कृतित्व का वार्षिक संकलन कृतिकारों को उस दर्पण के सदृश प्रतीत होता रहा है जिसमें वे अपना सामूहिक प्रतिबिम्ब देख-देखकर अपने को पहचानने का समझने का और विनम्रतापूर्वक कहूँ तो सुधारने का भी उपकरण उपलब्ध करते रहे हैं।"[८]

कृति का प्रथम भाग महानगर की विदुषी कवयित्री, कहानीकार सुकीर्ति गुप्ता पर केन्द्रित है एवं दूसरे भाग में कविता, गज़ल, कहानी, नाटक, पत्रात्मक निबन्ध, निबन्ध एवं संस्मरण आदि भिन्न-भिन्न विधाओं पर आधारित रचनाएँ संगृहीत हैं।

रचना वैविध्य के साथ-साथ विविध जीवन-दृष्टियों पर आधारित रचनाओं को सम्पादक शास्त्री जी ने अत्यन्त कुशलता पूर्वक चयन कर इस पुस्तक में समाहित कर कृति को न केवल एकांगी होने से बचाया है अपितु अपने हृदय की विशालता का भी पाठक को अहसास कराया है।

अमर आग है

"मैं अखिल विश्व का गुरु महान, देता विद्या का अमरदान,
मैंने दिखलाया मुक्ति मार्ग, मैंने सिखलाया ब्रह्मज्ञान।

सौजन्य : Dhanwantary, 48A/1, Diamond Harbour Road, Kolkata

मेरे वेदों का ज्ञान अमर, मेरे वेदों की ज्योति प्रखर,
मानव के मन का अंधकार, क्या कभी सामने सका ठहर।।
मेरा स्वर नभ में घहर-घहर, सागर के जल में छहर-छहर,
इस कोने से उस कोने तक, कर सकता जगती सौरभमय।
हिन्दू तनमन, हिन्दू जीवन, रग-रग हिन्दू मेरा परिचय।।"[१२]

भारत माँ की महिमा एवं गरिमा का वर्णन करने वाली ये पंक्तियाँ हैं प्रख्यात राजनेता एवं कवि श्री अटल बिहारी वाजपेयी की। ओजस्वी वक्ता, लोकप्रिय जननेता तथा प्रभावी सांसद अटल बिहारी वाजपेयी के कवि रूप से लोगों को परिचित कराने वाली प्रथम कृति 'अमर आग है' का सम्पादन आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ने किया है।

१९१४ में श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय की कौस्तुभ जयन्ती पर प्रकाशित इस कृति को सम्पादित करने का लक्ष्य जहाँ श्री अटल बिहारी वाजपेयी के दुर्लभ एकल काव्यपाठ की स्मृतियों को स्थायित्व देना था वहीं उनके उपेक्षित कवि व्यक्तित्व को उद्दीप्त कर उनसे नए-नए जीवन्त एवं प्रेरक सृजन को प्राप्त करना भी था। वाजपेयी जी की हृदयस्पर्शी कविताओं के बारे में प्रकाशकीय में स्वयं कवि-हृदय विष्णुकान्त जी लिखते हैं— 'वज्र से भी कठोर, अडिग संकल्प सम्पन्न राजनेता श्री अटल बिहारी वाजपेयी जी के कुसुम कोमल हृदय से उमड़ पड़ने वाली कविताएँ, गिरि हृदय से फूट निकलने वाली निर्झरियों के सदृश एक ओर जहाँ अपने दुर्दान्त आवेग से किसी भी अवगाहनकर्त्ता को बहा ले जाने में समर्थ हैं वहीं दूसरी ओर वे अपनी निर्मलता, शीतलता और प्राणवत्ता से जीवन के दुर्गम पथ के राहियों की प्यास और थकान को हर कर नयी प्रेरणा की संजीवनी प्रदान करने की क्षमता से भी सम्पन्न हैं।'[१३] ●

संदर्भ संकेत :

१. संकल्प संत्रास संकल्प/अनुवाद-विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : ५
२. महात्मा गाँधी का समाज दर्शन/अनुवाद-विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : २५०
३. दर्शक और आज का हिन्दी रंगमंच/संपादक-विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : ९
४. वही – पृष्ठ ८६
५. बालमुकुन्द गुप्त एक मूल्यांकन/संपादक-आचार्य कल्याणमल लोढ़ा एवं विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : १
६. तुलसीदास : आधुनिक संदर्भ में/संपादक-प्रो० जगन्नाथ सेठ एवं विष्णुकान्त शास्त्री – सम्पादकीय से
७. वही – सम्पादकीय से
८. बांग्लादेश संस्कृति और साहित्य/संपादक : विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : ८६
९. वही – सम्पादकीय से
१०. कलकत्ता – १९८६/सम्पादक : विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : ४
११. कलकत्ता – १९९३/सम्पादक : विष्णुकान्त शास्त्री – सम्पादकीय
१२. अमर आग है/सम्पादक : विष्णुकान्त शास्त्री – पृष्ठ : ११
१३. वही – प्रकाशकीय से

सौजन्य : कन्हैयालाल निर्मलकुमार, २०१/ए, महात्मा गांधी रोड, कोलकाता-७

प्रो० गोपाल राय

रचनात्मक प्रतिभा के बहु-आयामी व्यक्तित्व : विष्णुकान्त शास्त्री

विष्णुकान्त शास्त्री के समग्र साहित्य का अनुशीलन करने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि वे बहुमुखी आयाम के साहित्यकार हैं। जहाँ तक मेरी जानकारी है, उनकी लेखन-यात्रा अपनी बिटिया भारती पर लिखित रेखाचित्र से आरम्भ होकर आलोचना, संस्मरण, यात्रावृत्त, रिपोर्ताज, कविता, वैचारिक लेख आदि विभिन्न सोपानों पर आरोहण करती हुई आज भी लगातार जारी है। यह एक रोचक तथ्य है कि लेखक के रूप में हिन्दी साहित्य के आँगन में शास्त्री जी का प्रवेश बँगला के दरवाजे से हुआ। अपने प्राध्यापकीय जीवन के आरम्भ में ही उन्होंने बँगला सीखने के प्रयास में अपनी पाँच-छह वर्ष की बिटिया भारती पर छह-सात पृष्ठों का एक 'लेख' लिखा जो सहकर्मी बाँग्ला प्राध्यापक प्रणवरंजन घोष द्वारा प्रशंसित होकर सर्वप्रथम 'मेरी बिटिया भारती' शीर्षक से हिन्दी में अनूदित और पृथ्वीनाथ शास्त्री द्वारा संपादित पत्रिका 'सुप्रभात' में प्रकाशित हुआ। इतना ही नहीं, वह महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की एक पाठ्य पुस्तक के लिए भी चुन लिया गया।[1] इस अप्रत्याशित सफलता से विष्णुकान्त जी को आत्मविश्वासपूर्ण बोध हुआ कि वे संस्मरण लिख सकते हैं और इस प्रकार वे भारती (भारती शास्त्री) से भारती (धर्मवीर भारती) तक की संस्मरण-यात्रा के पड़ाव पर पहुँचने में समर्थ हुए।

'मेरी बिटिया भारती' यदि शास्त्री जी की पहली रचना है तो 'कवि निराला की वेदना तथा अन्य निबंध' (१९६३) उनकी पहली प्रकाशित पुस्तक है। विष्णुकान्त जी १९५३ में पहले कलकत्ता के एक कॉलेज में और चार महीने बाद कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक नियुक्त हुए। एक निष्ठावान अध्यापक के लिए अपने विषय का गम्भीर अध्ययन अपरिहार्य होता है, पर लिखना उतना जरूरी नहीं होता। अच्छा वक्ता होने से भी उसका काम अच्छी तरह चल जाता है। शास्त्री जी अपने छात्र जीवन में ही एक अच्छे वक्ता के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे।[2] अतः केवल अपने विषय के अध्ययन से ही उनकी अध्यापकीय आवश्यकता पूरी हो जाती थी। प्रारम्भ में ही अध्यापक के रूप में उनकी सफलता का यही राज था।[3] पर लिखना उनका बाद में ही आरंभ हुआ।[4] संभवतः डॉ. रामविलास शर्मा की प्रेरणा से लिखित उनके दो निबन्ध १९५४ में, शर्मा जी द्वारा संपादित 'समालोचक' के दो अंकों में, प्रकाशित हुए।[5] कुछ लेख उन्होंने प्रो० कल्याणमल लोढ़ा के आग्रह से भी लिखे, जो कहाँ प्रकाशित हुए इसकी सूचना मुझे नहीं है।[6] पर शास्त्री जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि उन्होंने १९६१ तक बहुत कम लिखा था।[7] जब धर्मवीर भारती 'धर्मयुग' के सम्पादक हुए तब शास्त्री जी उनके आग्रह पर 'साहित्यिक विषयों पर' 'लोकप्रिय शैली में' लेख लिखने लगे।[8] संभवतः इन्हीं निबंधों का संग्रह शास्त्री जी की पहली किताब 'कवि निराला की वेदना तथा अन्य निबंध' है[9] जिसमें उनके निराला, सुभद्राकुमारी चौहान, रामचंद्र शुक्ल, रीतिकालीन हिन्दी कविता, असमिया में राम साहित्य, रवीन्द्रनाथ की काव्य चेतना, शरत के नारी पात्र और बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय सम्बन्धी लेख तथा मोहन राकेश रचित 'आषाढ़ का एक दिन' की समीक्षा प्रकाशित हुई थी।

लगभग इसी समय प्राध्यापकीय आवश्यकता के तहत शास्त्री जी ने 'तुलसी साहित्य में विनय काव्य' विषय पर शोधकार्य आरम्भ किया, जिसे वे कभी पूरा न कर सके। शास्त्री जी ने इसके कारणों का खुलासा अपने

'आत्मकथ्य' में किया है। कारण कुछ और भी हो सकते हैं, पर उनके निर्देश का यहाँ कोई औचित्य नहीं है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के परामर्श पर उन्होंने तुलसी के 'विनय काव्य' के विविध पक्षों पर 'छोटे छोटे निबन्ध' लिखने शुरू किए। इसी बीच मानस चतुश्शती ('७४) का पर्व भी आ पहुँचा जिसमें शास्त्री जी के व्याख्यानों की माँग बढ़ गई और उन्होंने 'संगोष्ठियों' के दबाव में कई लेख लिखे जो अन्ततः 'तुलसी के हिय हेरि' में ('९०) में संकलित हुए।

पर इसके पूर्व १९७३ में ही शास्त्री जी की 'कुछ चन्दन की कुछ कपूर की' शीर्षक पुस्तक प्रकाशित हुई[२] जिसमें उन्हीं के अनुसार अक्टूबर १९६३ से जुलाई १९६९ के मध्य लिखित लेख संकलित हुए।[३] इस संकलन के कुछ लेख 'शोधपरक' हैं, कुछ 'विवेचनात्मक' हैं और कुछ 'समीक्षात्मक'। इनमें से कतिपय लेख गंभीर साहित्यिक पत्रिकाओं के लिए लिखे गए थे और कुछ रेडियो द्वारा प्रसारण के निमित्त।[४] जिन पत्रिकाओं में ये छोटे बड़े लेख प्रकाशित हुए थे वे थीं 'आलोचना' (दिल्ली), 'परिषद पत्रिका' (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना), 'नटरंग' (दिल्ली), 'मानस मयूख', 'शीराज़ा' (श्रीनगर), 'धर्मयुग' (बम्बई), 'ज्ञानोदय' (कलकत्ता) आदि, जिनमें प्रथम चार का अकादमीय महत्त्व निर्विवाद है। इस पुस्तक में संकलित कई आलेख 'रेडियो वार्ता' के रूप में आकाशवाणी, कलकत्ता से प्रकाशित हुए थे। यह पुस्तक दो खंडों में विभक्त है। 'कुछ चन्दन की' शीर्षक खंड में कबीर, विनयपत्रिका और महात्मा गाँधी से सम्बन्धित निबन्ध हैं, जबकि 'कुछ कपूर की' में छोटे बड़े उन्नीस निबन्ध हैं, जिनमें से दो हिन्दी के दो बड़े आलोचकों से, दो प्रसाद रचित 'कामायनी' से, पाँच नाटकों से, एक नवगीत से और कुछ आधुनिक कविता, कहानी तथा काव्य-प्रवृत्तियों से सम्बन्धित हैं। कुछ पुस्तक समीक्षाएँ भी शामिल हैं। आलोचना सम्बन्धी दो लेखों में श्री बालमुकुन्द गुप्त और नन्ददुलारे वाजपेयी के आलोचना-कर्म पर बहुत विस्तार से, गम्भीरता के साथ, विचार किया गया है। वस्तुतः 'हिन्दी आलोचना को श्री बालमुकुन्द गुप्त की देन' शीर्षक लेख लगभग साठ पृष्ठों का शोधनिबन्ध ही है। नन्ददुलारे वाजपेयी विषयक निबन्ध १९७३ में नामवर सिंह द्वारा सम्पादित 'आलोचना' में प्रकाशित हो चुका था।[५] 'कामायनी' विषयक निबंधों में कामायनी में प्रकृतिचित्रण तथा प्रतीक और चरित्र के रूप में कामायनी के पात्र इड़ा का विवेचन किया गया है। नाटक सम्बन्धी लेखों में हिन्दी नाट्य साहित्य की समस्याओं पर दर्शक, समीक्षक और रंगमंच की दृष्टि से विचार किया गया है। विष्णुकान्त जी कलकत्ता की प्रसिद्ध नाट्य संस्था 'अनामिका' से उसके जन्म के समय से ही जुड़े रहे और न केवल कोलकाता में बल्कि देश के अन्य बड़े नगरों में भी 'अनामिका' के तत्त्वावधान में सम्पन्न नाट्य कर्म में सक्रिय भूमिका निभाते रहे। इसके परिणाम स्वरूप नाटक के लिखित और मंचित दोनों रूपों से उनका गहरा और निकट का परिचय स्थापित हो गया जो नाटक की आलोचना की मूलभूत शर्त है। शास्त्री जी उन नाट्यालोचकों से भिन्न हैं जो केवल नाटक पढ़कर उनकी आलोचना लिख मारते हैं। 'अनामिका' के माध्यम से रंगमंच से जुड़ने के कारण उनका नाट्यालोचन अत्यन्त प्रामाणिक और विश्वसनीय हो गया है।

इस किताब का 'गीत और नवगीत' शीर्षक निबन्ध शास्त्री जी के समकालीन साहित्य से जुड़ाव का प्रमाण है। इस निबन्ध में उन्होंने जिस गम्भीरता से, तथ्य, तर्क और विवेचन-विवेक के साथ 'गीत' और 'नवगीत' की विशेषताओं, उनके विभेदक तत्त्वों और सामान्य काव्य-परिदृश्य में उनकी भूमिका का निर्देश किया है, वह आश्वस्त करनेवाला है। आधुनिक हिन्दी कविता तथा प्रसाद और दिनकर सम्बन्धी उनके निबन्ध भी स्पष्ट चिन्तन और आलोचनात्मक विवेक के परिचायक हैं। उर्दू के प्रसिद्ध कवि मिर्ज़ा ग़ालिब पर शास्त्री जी का आलेख उनकी व्यापक काव्यरुचि का परिचायक है। यद्यपि कथा-साहित्य में शास्त्री जी की अधिक रुचि नहीं है, पर इस पुस्तक में संकलित उनके जैनेन्द्र और शिवानी सम्बन्धी आलेख इस विधा में भी उनके अभिनिवेश के साक्षी हैं।

इस पुस्तक में शास्त्री जी की दो पुस्तक-समीक्षाएँ भी संकलित हैं : इनमें से एक रामविलास शर्मा की 'निराला की साहित्य साधना : भाग-१' की और दूसरी शिवप्रसाद सिंह की 'शिखरों का सेतु' की है।

शास्त्री जी के आलोचनात्मक निबन्धों का तीसरा संकलन 'चिंतन मुद्रा' १९७७ ई. में प्रकाशित हुआ।[४] इस पुस्तक में गोस्वामी तुलसीदास सम्बन्धी चार निबन्ध हैं जो मानस चतुश्शती समारोह के क्रम में आयोजित संगोष्ठियों के लिए लिखे गए थे। इन निबन्धों में शास्त्री जी की शोधदृष्टि, तुलसी साहित्य के प्रति निष्ठा और विश्लेषण-क्षमता गम्भीर पाठक को भी आश्वस्त करती है। इन निबन्धों में तुलसी के राम, तुलसी की तेजस्विता, राम के 'नाम' और 'काम' के महत्त्व तथा आधुनिकता की कसौटी पर तुलसी को खरा सिद्ध करने का तर्क और प्रमाणपुष्ट विवेचन अभूतपूर्व है। इसी पुस्तक में संकलित 'भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य की उपधाराओं का नामकरण' शीर्षक निबन्ध विवादास्पद होते हुए भी हिन्दी साहित्येतिहास में रुचि रखनेवाले पाठकों के लिए एक चुनौती है।

इस संकलन में हिन्दी के दो प्रसिद्ध आलोचकों—पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र और शान्तिप्रिय द्विवेदी—के आलोचना-कर्म का दो अलग अलग लेखों में विवेचन किया गया है।[५] इसके साथ ही, रामधारी सिंह दिनकर और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के कवि-कर्म पर भी दो लेख हैं। ये लेख हिन्दी साहित्य के पाठकों के लिए कितने उपयोगी हैं, यह इन्हें पढ़कर ही जाना जा सकता है।

शास्त्री जी के आलोचनात्मक निबन्धों का चौथा संकलन 'अनुचिन्तन' १९८६ ई. में प्रकाशित हुआ[६], जिसमें 'लोकमंगल और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल', 'आधुनिक हिन्दी कविता और छन्द', 'काव्य का वाचिक सम्प्रेषण', 'महाराणा प्रताप : आधुनिक हिन्दी साहित्यकारों की दृष्टि में', 'मोतियों का हार और चिनगारियों का एक मेला : महादेवी', 'नई हिन्दी कविता में समसामयिक जीवन की झलक' आदि लेख संगृहीत हुए। इस लेख सूची से स्पष्ट है कि विष्णुकान्त जी का साहित्य-सरोकार बहुमुखी रहा है। इसका एक कारण तो स्नातकोत्तर वर्गों में अध्यापन माना जा सकता है, जहाँ किसी योग्य शिक्षक को वर्ष के दौरान कई कई विषयों पर व्याख्यान देने पड़ते हैं। दूसरा कारण देश के विभिन्न भागों में विभिन्न विषयों पर आयोजित संगोष्ठियाँ होती हैं जिनमें सुयोग्य विद्वानों को प्रायः ही निबन्ध पाठ के लिए बुलाया जाता है। शास्त्री जी जैसे विद्वानों की विशेषता यह होती है कि वे संगोष्ठियों में बहुत तैयारी के साथ भाग लेते हैं और प्रायः ही उनके आलेख गम्भीर साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशन के योग्य होते हैं। मुझे निश्चित सूचना तो नहीं है कि उपरिसूचित लेखों का वाचन किन संगोष्ठियों में हुआ था, पर उनके संगोष्ठियों के लिए लिखित होने का मेरा अनुमान लगभग सही है। यह एक सुखद सच है कि इन निबन्धों में एक निष्ठावान शोधकर्ता, सजग आलोचक और सहृदय अध्यापक की त्रिवेणी लहराती दिखाई देती है।

१९९० ई. में शास्त्री जी का पाँचवाँ आलोचनात्मक निबन्ध-संकलन 'तुलसी के हिय हेरि' प्रकाशित हुआ, जिसमें संकलित सत्रह निबन्धों में नौ पूर्व प्रकाशित और आठ नये थे। यह शास्त्री जी की पहली आलोचनात्मक पुस्तक है जिसमें किसी कवि को केन्द्र में रखकर उसके काव्य के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं में 'रामचरित मानस' और 'विनय पत्रिका' शीर्षस्थ हैं और उनके भक्त और कवि रूप को समझने के लिए इनका अनुशीलन अपरिहार्य है। शास्त्री जी गोस्वामी तुलसीदास को मूलतः भक्त कवि मानते हैं और भक्ति के विभिन्न आयामों से सन्दर्भित ये लेख तुलसी के भक्त कवि रूप को बड़ी स्पष्टता और प्रामाणिकता के साथ उद्घाटित करते हैं। तुलसी के 'राम', राम के 'नाम', 'काम' और 'आश्वासन', गोस्वामी जी के 'दैन्य' और 'मनोरथ', उनकी 'विचारणा', विनयपत्रिका में 'मनोविज्ञान की साधना', 'क्रिया और कृपा', 'भक्तिमूला प्रपत्ति', 'तुलसी की तेजस्विता' और 'स्वान्तःसुख', गोस्वामी की दृष्टि में 'विप्र और सन्त', चित्रकूट में तुलसीदास की साधना और

उपलब्धि, राम कथा की गूढ़ता आदि विषयों पर शास्त्री जी का चिन्तन अत्यन्त गम्भीर और आश्वस्तकारी है। पुस्तक के पहले ही निबन्ध में शास्त्री जी ने तुलसीदास को 'आधुनिकता की कसौटी' पर कसने और उन्हें सर्वथा 'खरा' सिद्ध करने का प्रयास किया है, और कोई नहीं कह सकता कि इस प्रयास में उन्हें सफलता नहीं मिली है। एक निबन्ध में उन्होंने कबीरदास और तुलसीदास की भक्ति-साधना और सामाजिक विचारों में 'आन्तरिक साम्य' होने का दावा पेश किया है और उन तथाकथित आधुनिक आलोचकों के अन्तर्विरोधों को उजागर किया है जो कबीर और तुलसी को विभिन्न खेमों का कवि सिद्ध करने के लिए आकाश पाताल एक कर रहे हैं। इसी प्रकार एक अन्य निबन्ध में शास्त्री जी ने तुलसी और रवीन्द्र की 'विनय भावना' में साम्य का प्रतिपादन किया है।

मेरी सुचिन्तित धारणा है कि गोस्वामी तुलसीदास की भावधारा और विचारधारा को सम्यक् रूप से समझने के लिए 'तुलसी के हिय हेरि' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'गोस्वामी तुलसीदास' के बाद की दूसरी कालजयी रचना है। इसका एक कारण यह भी है कि विष्णुकान्त शास्त्री बौद्धिक स्तर पर ही नहीं, भाव के स्तर पर भी गोस्वामी जी से तादात्म्य स्थापित किए हुए हैं। एक रामभक्त की अनन्यता, दार्शनिक चिन्तन की प्रौढ़ि, शोधकर्ता की निष्ठा और अध्यापक की आवर्जन क्षमता के योग से 'तुलसी के हिय हेरि' एक कालजयी रचना प्रमाणित होगी, इसका मुझे विश्वास है।

आलोचनात्मक लेखों के संकलन क्रम में 'भक्ति और शरणागति' शास्त्री जी की छठी और अद्यावधि अन्तिम पुस्तक है, जो १९९१ ई. में प्रकाशित हुई।[१७] इस संकलन के अधिकतर निबन्ध 'रस वृन्दावन' नामक मासिक पत्रिका के, जिसके सम्पादक स्वयं शास्त्री जी थे, लघु सम्पादकीयों के रूप में अप्रैल १९७९ से फरवरी १९८४ के बीच प्रकाशित हुए थे।[१८] अपनी 'स्वीकृति' शीर्षक भूमिका में शास्त्री जी यह सफाई देना नहीं भूलते कि "रस वृन्दावन का प्रकाशन भावुक भक्तों को दृष्टिगत रखकर किया गया था, विद्वानों को दृष्टिगत रख कर नहीं।"[१९] इसमें संकलित 'मन वृन्दावन' शीर्षक लेख स्वतन्त्र लेख के रूप में लिखा गया था जो 'रस वृन्दावन' के अतिरिक्त 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में भी प्रकाशित हुआ था। इसके अतिरिक्त पुस्तक में संकलित प्रसंगों में सरल भागवत धर्म (जिसमें प्रभु के 'नाम', 'रूप', 'लीला' और 'धाम' का स्वरूप स्पष्ट किया गया है), 'प्रभु की कृपा', 'सकाम भक्ति', 'नवधा भक्ति', 'रागानुगा भक्ति', 'हित भक्ति', 'परा भक्ति' (गीता के अनुसार), 'निर्गुण भक्ति', 'शरणागति की भूमिका', 'शरणागति की निरपेक्षता और अंग सापेक्षता', 'शरणागति के भेद', 'शरणागति की रहनी', 'जयति श्रीराधिके, सकल-सुख साधिके', 'जन्माष्टमी', 'प्रेम अवनि श्री राधिका प्रेम वरन नंद-नंद', 'चिन्तन कुंज' आदि शामिल हैं। इन निबन्धों के पाठ से स्पष्ट हो जाता है कि ये किसी भावुक भक्त के उद्गार मात्र नहीं वरन् भक्ति के विभिन्न अंगों पर सुस्पष्ट चिन्तन से भी सम्पन्न हैं। हिन्दी भक्ति काव्य को समझने के लिए ये निबन्ध ठोस पृष्ठभूमि प्रदान करते हैं। इस विवेचन में 'श्रीमद्भगवत् गीता' और 'रामचरित मानस' को मुख्य आधार बनाकर 'भक्ति' पद की व्युत्पत्ति और व्याख्या, भक्ति के उद्भव और विकास तथा भक्ति के प्रकारों की सरल और सरस व्याख्या की गयी है। यद्यपि कालक्रम से यह पुस्तक 'तुलसी के हिय हेरि' के बाद प्रकाशित हुई है पर इसमें प्रतिपादित भक्ति सम्बन्धी सारे विचार 'तुलसी के हिय हेरि' में संकलित लेखों में विनियुक्त हो गये हैं। 'मन वृन्दावन' वृन्दावन पर लिखित अद्भुत निबन्ध है, जो ललित निबन्ध से प्रतिस्पर्धा करता दिखाई पड़ता है। इसकी कुछ उद्धरणीय पंक्तियाँ हैं : "आराधना की राधा और प्रेम विग्रह श्रीकृष्ण की नित्य लीलाभूमि है वृन्दावन। व्रज के हृतप्रदेश में तो वह विराजमान है ही, जीव के हृतप्रदेश में भी उसका अवतरण हो सकता है; होना चाहिए। .....वास्तव में जीवन की धन्यता मन को वृन्दावन बना देने में ही है। फिर राधाकृष्ण स्वयं उसमें निरन्तर रमें रहेंगे और मन वृन्दावन बन

सकता है। आपका और मेरा मन भी बन सकता है वृन्दावन। यदि हम अपने मन को काम की जन्मभूमि न बने रहने देकर उसे प्रेम की, भगवत् प्रेम की जन्मभूमि बना दें।"

अलग अलग भूमिकाओं में 'भक्ति' और 'शरणागति' पद की जो व्याख्या शास्त्री जी ने की है, वह अपनी आवर्जकता और प्रामाणिकता में अद्वितीय है। इसके साथ ही प्रभु के नाम, रूप, लीला आदि का विवेचन भी बहुत प्रामाणिकता के साथ, विषय में डूब कर किया गया है। वस्तुतः भक्ति साहित्य के सम्यक् बोध के लिए इन अवधारणाओं का स्पष्ट बोध बहुत आवश्यक है, जिसे उपलब्ध कराकर शास्त्री जी ने भक्ति साहित्य के अध्येताओं का काम बहुत आसान कर दिया है।

यों तो शास्त्री जी के आलोचनात्मक निबन्धों में भी उनका संवेदनसिक्त हृदय अमुखर नहीं रहा है, पर उसे भरपूर वाणी मिली है उनके संस्मरणों और यात्रावृत्तों में। इस बात का जिक्र किया जा चुका है कि विष्णुकान्त जी के लेखन की शुरुआत पाँच-छह साल की उनकी दुलारी बिटिया भारती के रेखांकन से हुई थी। 'मेरी बिटिया भारती' शीर्षक रेखांकन में जो 'स्मरण को पाथेय बनने दो'[७] शीर्षक पुस्तक में संकलित है, लेखक का वात्सल्य से लबालब पिता का हृदय निर्झर की तरह फूट पड़ा है। यदि यह भावपूर्ण रेखांकन कुछ सघन और मुक्त छंद में होता तो वह सूरदास, निराला और रवीन्द्रनाथ की एतादृश्य कविताओं के समकक्ष होता। प्रमाण के लिए उसका एक अंश देखें—

भारती—
मेरी बिटिया
मेरे बाल रूप का नवीन संस्करण,
मेरे वृथा हृदय का इन्द्रधनुषी स्वप्न,
मेरे प्रौढ़ सुलभ वात्सल्य का आलम्बन—
केवल पांच बरस की छोटी सी नटखट,
बातों में पुरखिन
व्यवहार में पटु,
किन्तु देखने में भोली-भाली बालिका है।

मैंने इस अंश को, बिना विरामचिह्नों में भी कोई परिवर्तन किए, केवल कविता की तरह प्रस्तुत कर दिया है। मैं मानता हूँ कि बहुत थोड़े से परिवर्तन से इसे एक श्रेष्ठ कविता में बदला जा सकता है। इसके बाद की पंक्तियाँ हैं— "आप यदि किसी दिन मेरे घर आएँ और दरवाजे के सामने ही खेलती हुई एक प्यारी सी लड़की देखें—जिसका रंग चम्पाकली की तरह, सुन्दर, सुडौल मुख, बड़ी बड़ी आँखें, पतले अधरों पर सदा खेलने वाली हँसी, कुछ चौड़ा माथा, एक जरा सी मोटी नाक—(ये पिछले अंग ही उसे मेरी तरह प्राप्त हुए हैं और सब तो माँ जैसे मिले हैं; अतः जम्मू कश्मीरी सौन्दर्य के अनुरूप ही हैं।) —तो समझ लीजिएगा कि वही भारती है।" शब्दों के द्वारा भावों की सघन व्यंजना के साथ साथ स्मरणीय के चित्र को सजीव कर देने की कला में विष्णुकान्त जी माहिर हैं। इसका परिचय पेरिस से कलकत्ता आई कु. जां ब्यूरो (मीलू), हिन्दी के जानेमाने कवि सुमित्रानन्दन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला; सुज्ञात आलोचक और विद्वान आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, ललिताप्रसाद सुकुल, पं० बलदेवप्रसाद मिश्र, परवेज शाहिदी, प्रो० चन्द्रहासन, उपन्यासकार अमृतलाल नागर, नाटककार मोहन राकेश, प्रबुद्ध ज्ञानी, सिद्ध साधक और भावुक भक्त स्वामी अखंडानन्द जी सरस्वती, परम आत्मीय सीताराम सेक्सरिया आदि पर आधारित संस्मरणों में मिलता है। इनमें सघन आत्मीयता की दृष्टि से कुमारी जां ब्यूरो का संस्मरण मन को छूनेवाला है जो

अपने कलकत्ता प्रवास में लेखक के परिवार की आत्मीय सदस्य और 'जां व्यूरो' से 'मीलू' बन गई थी। 'मेरी बिटिया भारती' के समान ही यह संस्मरण भी गहरी मानवीय संवेदना से सराबोर है।

कवियों और लेखकों के संस्मरण दो प्रकार के हैं। पंत, निराला, हजारीप्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, लक्ष्मीप्रसाद सुकुल, बलदेवप्रसाद मिश्र, चन्द्रहासन, परवेज शाहिदी, अमृतलाल नागर आदि वरिष्ठ लेखकों के प्रति लेखक का श्रद्धा भाव छलकता दिखाई पड़ता है। लेखक उनके चरित्र की विशेषताओं का तो उद्घाटन करता ही है, उनके संवेदनशील मन की झाँकी भी विह्वल भाव से प्रस्तुत करता है। इसके साथ साथ बड़ी कुशलता से वह स्मरणीय व्यक्तियों को साहित्यिक उपलब्धियों का परिचय भी पाठकों को कराता चलता है। समवयस्क लेखकों, जैसे नाटककार मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, नारायण गंगोपाध्याय आदि के संस्मरणों में सख्य संवेदना और पितृव्यतुल्य सीताराम सेकसरिया के संस्मरण में आदर भाव अपने समस्त गाढ़ेपन और कोमलता के साथ विद्यमान है। जैसा स्वाभाविक है, अपने दीक्षागुरु स्वामी अखंडानन्द जी सरस्वती के संस्मरण में लेखक का विगलित समर्पण और सेवाभाव समस्त निश्छलता के साथ व्यंजित हुआ है। इन संस्मरणों में एक रोचक रेखांकन 'प्रो० शशांक' का है, जो स्वयं विष्णुकान्त शास्त्री ही हैं, जिसमें लेखक ने स्वयं से अलग होकर 'देखने' का प्रयास किया है। यह रेखांकन हमें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का स्मरण कराता है जो स्वयं को 'व्योमकेश शास्त्री' के रूप में बिलकुल अजनबी की तरह प्रस्तुत करते हैं।

इन संस्मरणों के सम्बन्ध में स्वयं शास्त्री जी ने लिखा है : "जिस व्यक्ति या परिवेश से अन्तर समृद्ध हुआ हो, उसे रह रहकर मन याद करता ही है, करने के लिए विवश है। जब चारों तरफ के कुहरे से व्यक्ति अवसन्न होने लगता है तब ऐसी यादें मन को ताजगी दे जाती हैं। ऐसी मनःस्थितियों में मेरी कलम उन स्मृतियों को लिपिबद्ध करती रही है, जिनसे मुझे बल मिला है, रागात्मक ऐश्वर्य मिला है। ये संस्मरण हारकर बैठ गये की मानसिक उधेड़बुन नहीं हैं, चलते चलते थकावट को झाड़ देने के लिए किए गए स्मृति मंथन के परिणाम हैं।"

इस मानदंड पर शास्त्री जी के संस्मरण खरे उतरते हैं, यह मानने में मुझे कोई द्विधा नहीं है।

'स्मरण को पाथेय बनने दो' में कुछ ऐसे संस्मरण भी संगृहीत हैं जिनका आलम्बन कोई व्यक्ति न होकर स्थानविशेष अथवा मनुष्येतर सत्ता है। इस प्रकार के संस्मरणों में कश्मीर, जम्मू, मसूरी, नैनीताल, रानीखेत, दार्जिलिंग, नक्सलबाड़ी, उत्कल, कामरूप, कामाख्या देवी, भगवती वैष्णवी देवी, जगन्नाथपुरी और एन.सी.सी. शिविर कल्याणी की यात्रा और प्रवास से सम्बद्ध वृत्त प्रमुख हैं। यद्यपि ये मुख्यतः यात्रावृत्त हैं पर लेखक ने विवरणों के साथ भावना और चिन्तन का ऐसा मिश्रण कर दिया है कि उनमें प्रकृति, परिवेश और जनसमूह जीवन्त हो उठे हैं। लेखक की यात्रा मात्र बाहरी न होकर आन्तरिक भी है। पाठक केवल बाह्य दृश्यों का ही आनन्द नहीं उठाता बल्कि लेखक की संवेदना, मानसिक प्रतिक्रिया और चिन्तन का भी सहभोक्ता बनता है। डॉ० रामचन्द्र तिवारी की यह टिप्पणी बिलकुल सटीक है कि "इन यात्रावृत्तों के लेखन में शास्त्री जी के कवि, द्रष्टा, विचारक, अध्येता, व्याख्याता आदि सभी रूप एक साथ सक्रिय हैं।" पर इसके साथ मैं यह भी जोड़ना चाहूँगा कि इनमें लेखक की बुद्धि उसके हृदय पर हावी नहीं हुई है। इन संस्मरणों में जहाँ भी प्रकृति आती है, लेखक का कवि हृदय द्रवित होकर निर्झर की तरह फूट पड़ता है। एक उदाहरण देखा जा सकता है। प्रसंग कश्मीर की प्राकृतिक सुषमा का है। वर्णन की पंक्तियाँ हैं : "चीड़ के जंगलों में झाँकते हुए रजत शिखर, माँ की गोद से छिटक कर दौड़ जानेवाली नटखट बालिका की हँसी के समान उल्लसित लिद्दर की कल-कल ध्वनि, गुदगुदी सी सुनहली धूप, प्राणों को स्निग्ध कर देनेवाली हवा। दिन से भी अधिक सुन्दर वहाँ की रातें होती हैं।"[२] अथवा

"कवियों के अनुसार प्रकृति कश्मीर में बैठकर अपना श्रृंगार करती है। हिमधवल श्रृंगों से घिरी यह रमणीय उपत्यका मुझे तो प्रकृति के रंगमहल की क्रीड़ा-वाटिका सी लगती है। वसन्त या शरद् में यदि आप पीरपंजाल के अनन्त शिखर को माथा नवाकर बनिहाल की जवाहर सुरंग से कश्मीर में प्रवेश करें तो आपको लगेगा कि आप सुषमा की जादूपुरी में आ गये हैं।"[२३] यह वर्णन बहुत दूर तक चलता है, पर पाठक को ऊब नहीं महसूस होती, क्योंकि वह प्रकृति को एक संवेदनशील हृदय की आँखों से देखता है। अपने सुदूर उज्ज्वल अतीत के प्रति लेखक का विह्वल भाव अवसर पाते ही उमड़ पड़ता है। कश्मीर यात्रा में ही अवन्तिपुर के विशाल मन्दिर के ध्वंसावशेष को देखकर उसका मन वहाँ के गौरवोन्नत अतीत में, जो आज 'धूलि लुंठित' है, पहुँच जाता है। ".....मेरा मन शताब्दियों का व्यवधान चीर कर आठवीं शताब्दी के कश्मीर केसरी ललितादित्य के समय में चला गया। .....उन खंडहरों के बीच खड़े-खड़े मेरा मन व्यथा, करुणा, क्षोभ, क्रोध और घृणा से भर उठा। कैसे उठे होंगे उन बर्बर आततायियों के हाथ धर्म और कला के इन प्रतीकों को तोड़ने के लिए।" और उसकी प्रतिक्रिया होती है : "सच है, 'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचर्चा प्रवर्त्तते'—शस्त्ररक्षित राष्ट्र में ही शास्त्र और कला आदि की चर्चा संभव है।"[२४]

इस प्रकार की उक्तियों और कवि मन की प्रतिक्रियाओं से शास्त्री जी के यात्रा संस्मरण भरे हुए हैं।

'सुधियाँ उस चन्दन के वन की' शास्त्री जी के संस्मरणों की दूसरी पुस्तक है जो १९९५ ई. में प्रकाशित हुई।[२५] इसमें भी दो प्रकार के संस्मरण शामिल हैं: एक वे जो व्यक्तियों पर आधारित हैं और दूसरे वे, जिनके अवलम्बन स्थान विशेष हैं। व्यक्ति आधारित संस्मरणों में विभिन्न शीर्षकों से अज्ञेय, महादेवी वर्मा, नामवर सिंह, हजारीप्रसाद द्विवेदी, देवेन्द्रनाथ शर्मा, उमाशंकर जोशी, स्वामी अखंडानन्द जी सरस्वती और लेखक के पिताश्री श्री गोपेय नरोत्तम शास्त्री के संस्मरण हैं। प्रकृतितः ये संस्मरण 'स्मरण को पाथेय बनने दो' में संकलित संस्मरणों से भिन्न नहीं हैं। स्मृत के साथ गहरी निजी संसक्ति, उससे जुड़े संवेदनासिक्त प्रसंगों, प्रामाणिक सूचनाओं और तटस्थ, पर सहानुभूतिपूर्ण टिप्पणियों से सम्पन्न ये संस्मरण स्मृत व्यक्ति के व्यक्तित्व को एक नया आलोक प्रदान कर देते हैं, जिसमें उनके रचना-कर्म को समझने की भी एक नयी दृष्टि प्राप्त हो जाती है। अज्ञेय, महादेवी वर्मा, उमाशंकर जोशी, देवेन्द्रनाथ शर्मा, नामवर सिंह आदि के साहित्य को समझने के लिए ये संस्मरण एक जरूरी चश्मा प्रदान करते हैं। आजकल कुछ लोग साहित्यकारों के ऐसे संस्मरण लिखने में लगे हुए हैं जिनमें उनके वास्तविक या कल्पित स्खलनों की ही प्रमुखता होती है। शास्त्री जी ऐसा नहीं करते। उनकी दृष्टि स्मृत व्यक्तियों के गुणों पर ही केन्द्रित होती है, दोषों पर नहीं। यह शास्त्री जी के स्वभाव की विशेषता है : 'सन्त हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार।'

इस पुस्तक में संकलित 'विधायक की यातना' शीर्षक संस्मरण लेखक की आत्मकथा के रूप में आधुनिक लोकतंत्र का एक प्रामाणिक दस्तावेज है, जिसमें लेखक आश्चर्य व्यक्त करता है कि "कैसा अद्भुत है अपना यह देश, कैसी-कैसी अपेक्षाएँ लोग विधायकों से रखते हैं। नौकरी, कोटा, परमिट, सरकारी प्लाट, स्कूल-कॉलेज में प्रवेश, सच्चरित्रता का प्रमाणपत्र, रेल, हवाई जहाज में आरक्षण, राशनकार्ड, पासपोर्ट, सरकारी अस्पतालों में इलाज, पुलिस की वैध-अवैध सहायता और राम जाने किस किस समस्या का समाधान पाने की इच्छा से लोग विधायकों, सांसदों को घेरे रहते हैं।"[२६] इसके आगे वे कहते है : "मैं सोचा करता था कि विधायक का मुख्य कार्य विधानसभा में प्रस्तुत विधेयकों या लोकहित के विषयों पर युक्तियुक्त प्रभावशाली व्याख्यान देना है किन्तु अनुभव ने बताया कि लोकदृष्टि में ही नहीं, बहुत से प्रवीण माने जानेवाले विधायकों की दृष्टि में भी वह कार्य नितान्त गौण है, मुख्य है लोगों के गलत काम करवाते रहना या सही कामों में अड़ंगे डालते रहना।"[२७] यह सन् १९८० के आसपास की बात है; बीसवीं शताब्दी के अन्त तक पहुँचते पहुँचते तो सुर्खियों में आनेवाला वह विधायक हो गया है जो विधानसभा में सार्थक

वक्तव्य देने के स्थान पर हंगामा करने में माहिर हो। शास्त्री जी का यह संस्मरण उनके अनुभव पर आधारित होने के कारण भविष्य में ऐतिहासिक दस्तावेज का काम देगा।

इस पुस्तक में विश्व हिन्दी परिषद के सन्दर्भ में भारत सरकार के प्रतिनिधि के रूप में सूरीनाम, गयाना और त्रिनिदाद की विदेश यात्रा तथा एक स्वयंसेवक के रूप में अयोध्या की यात्रा के वृत्त भी लेखक के इस कोटि के यात्रावृत्तों के पूरक ही हैं। सूरीनाम, गयाना और त्रिनिदाद के यात्रा प्रसंगों में विवरणों की प्रमुखता है, जो पाठक का ज्ञानवर्धन तो करते हैं पर लेखक के भावलोक में यात्रा करने का कोई उल्लेखनीय अवसर नहीं देते।

हिन्दी साहित्य की एक उपेक्षित विधा 'रिपोर्ताज' है, जिस दृष्टि से हमारा साहित्य समृद्ध नहीं कहा जा सकता। इसका प्रमुख कारण हिन्दी के लेखकों और पत्रकारों का युद्धक्षेत्र की वास्तविकताओं से अपरिचय है। अंगरेजों के जमाने में हुए युद्धों की रपटें प्रायः अंगरेजी के पत्रकार ही देते थे। भारत-चीन युद्ध के सन्दर्भ में भी हिन्दी पत्रकार अधिक सक्रिय नहीं रहे। पर १९७१ के भारत-पाकिस्तान युद्ध और बांगला मुक्ति संग्राम को विष्णुकान्त शास्त्री और धर्मवीर भारती के रूप में दो ऐसे प्रबुद्ध और संवेदनशील लेखक-पत्रकार मिल गए जिन्होंने उसे शब्दों के माध्यम से सजीव साहित्य का रूप दे दिया। 'बांगला देश के संदर्भ में'[२७] में संकलित 'बांगला देश की क्रांति में निहित सांस्कृतिक चेतना', 'बांगला देश की संग्रामी कविता', 'बांगला देश की क्रांति और बांगला देश के उर्दूभाषी अबंगाली', 'बांगला देश की धर्म निरपेक्ष नीति में अल्पसंख्यक सुरक्षित' आदि निबन्ध बांगला देश की क्रान्ति की पृष्ठभूमि में निहित सांस्कृतिक चेतना से लेकर उसकी मुक्ति के दौरान रचित युद्ध-कविता, उस क्रान्ति की सफलता में भारत के योगदान, साहित्यकारों की प्रतिक्रिया, वहाँ के उर्दूभाषी गैर-बंगालियों की मानसिकता और नवनिर्मित बांगला देश की धर्म निरपेक्ष नीति आदि का बहुत स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करते हैं। मुक्ति-संग्राम के दौरान धर्मवीर भारती के साथ बांगला देश की रोमांचपूर्ण यात्रा को लेखक 'अन्धकार में ज्योति की तलाश' की संज्ञा देता है। ये यात्राएँ दो बार होती हैं। पहली बार मुक्ति संग्राम के दौरान और दूसरी बार बांगला देश के मुक्त हो जाने के बाद। पहली यात्रा में युद्धक्षेत्र में सनसनाते गोलों के नीचे बिताए हुए १३-१४ सितम्बर, १९७१ के दिन तो सचमुच रोंगटे खड़े कर देनेवाले हैं। लेखक के शब्दों में, "१३ और १४ सितम्बर, १९७१ की याद करता हूँ तो आज भी रोमांचित हो उठता हूँ। एक के बाद एक कितने ही दृश्य आँखों के सामने उभरने लगते हैं। बांगला देश के मंदभा रेलवे स्टेशन की ऊँची टेकरी में बने प्रशस्त बंकर में कैप्टेन पाशा के साथ हम सबलोग बैठे हुए हैं। कैप्टेन दूरबीन लगाए दुश्मन की चौकियों पर नजर गड़ाए हुए हैं। उन्हें वहाँ कुछ हलचल महसूस होती है। मेरे हाथ में दूरबीन देते हुए वे कहते है, 'देखिए उन झाड़ियों के बीच, जो छाजन सी दिखाई पड़ती है, वहीं दुश्मन की चौकी है। मैं उस पर अभी बमबारी करूँगा....."[२८] इसके आगे का जो वर्णन है, वह युद्ध के वातावरण को बिलकुल सजीव रूप में प्रस्तुत कर देता है : ".....पीछे से 'गुडुम' की गंभीर आवाज आती है। गोला छूटता है। सनसनाता हुआ हमलोगों के सिर के ऊपर से गुजरता है। हम सब आँखे गड़ाए अभीष्ट दिशा की ओर देख रहे हैं। अचानक एक जगह धूल-धुएँ का स्तम्भ सा उठता है और कुछ ही सेकेंडों के बाद गोले के फटने का नाद सुनाई पड़ता है।"[२९] यह सारा प्रसंग इसी प्रकार के रोमांचक वर्णनों से भरा हुआ है। बांगला देश की मुक्ति के बाद वहाँ की, भारती जी के साथ, लेखक की दूसरी यात्रा सम्पन्न होती है जिसका वर्णन बहुत संक्षिप्त और सामान्य है।

मुक्ति के लिए संघर्षरत बांगला देश की रोमांचक यात्रा का विवरण प्रस्तुत करते हुए भी शास्त्री जी का संवेदनशील मन अपनी अभिव्यक्ति के लिए अवसर निकाल ही लेता है। कलकत्ता से सिलीगुड़ी की हवाई यात्रा का शब्द चित्र प्रस्तुत करते हुए लेखक कहता है : "९ सितम्बर। सिलीगुड़ी की हवाई यात्रा का मौसम बहुत ही अच्छा

था। धूप निकली हुई थी। चार-पाँच दिनों की लगातार वर्षा के बाद आकाश खुला था। बादल बरस बरसकर हल्के हो गए थे। जगह जगह गुच्छों के रूप में फैले सफेद बादलों को देखकर लगता था कि बृहदाकार नील ताल में श्वेत कमलवन हो। नीचे धान के खेत बहुत प्यारे लग रहे थे। पिछले दो दिनों के प्रेरक अनुभवों के कारण मन प्रसन्न था, अतः बीच बीच में भारती जी फुलझड़ियाँ छोड़ते जाते थे। विमान परिचारिका अर्थात् अंबर-सखी यानी गगन गुइयों के बारे में उन्होंने काफी किस्से सुनाए जिनमें सबसे जोरदार था, 'प्रे. ह्वाट ड् यू वांट, कॉफी ऑर मी' वाला।"[३४] युद्ध प्रसंग के वर्णन में लेखक धर्मवीर भारती के रोचक संस्मरण भी प्रस्तुत करता चलता है। आरम्भ में ही वह भारती जी के सम्बन्ध में बताता है : "मैं भारती जी को दिसम्बर, १९५८ से व्यक्तिगत रूप से जानता हूँ। बीसियों बार उनसे बहस की है, गपशप की है, एक दूसरे के लतीफों पर साथ साथ ठहाके लगाए हैं। उनका 'अंदाजे बयां' कुछ और ही है। आधुनिक साहित्य एवं जीवन की सारी बौद्धिकता, बड़ी से बड़ी पीड़ा और भारी जिम्मेदारी भी उनके स्वभाव को 'छुहारा' नहीं बना सकी है। अब भी वे दूसरे को गुदगुदा सकते हैं, बिना चिढ़ाए 'बना' सकते हैं और अरदब में पड़ जाने पर बिना कुढ़े 'बन' भी सकते हैं।" .....आदि[३५]। इसके अतिरिक्त अन्य कई स्थलों पर शास्त्री जी भारती जी के स्नेहिल, विनोदी, कर्तव्यनिष्ठ, जिन्दादिल, साहसी, स्पष्टवादी व्यक्तित्व को उभारने में कोताही नहीं करते।

'विष्णुकान्त शास्त्री : चुनी हुई रचनाएँ, खंड-२' में संकलित निबन्ध 'ये सतत संघर्ष की घड़ियाँ अमर होंगी' में स्वतंत्र बांगला देश की विषम परिस्थितियों का प्रामाणिक और जीवन्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस रिपोर्ताज की आरंभिक पंक्तियाँ ही बांगला देश के युवकों के आक्रोश को मूर्त कर देती हैं : "शेख मुजीबेर मुक्ति चाई.....रक्तेर बदले रक्त चाई।' अग्निवर्षी नारे। कठोर संकल्प से सख्त हो गए चेहरे। बँधी मुट्ठियाँ, आँखों में उन्माद। धड़कते दिलों में आशंका.....अपने लिए नहीं, शेख मुजीब के प्राणों के लिए।[३६]" १९७१ ई. में जब पाकिस्तान के हुक्मरानों ने शेख मुजीब पर फौजी अदालत में मुकदमा चलाने की घोषणा की तो भावी बांगला देश की जनता क्षोभ और गुस्से से बिफर उठी थी। शास्त्री जी ने इस मनोदशा को न केवल मूर्त कर दिया है, बल्कि इसका राजनीतिक विवेक के साथ विश्लेषण भी किया है। बांगला देश मिशन के प्रधान हुसेन अली साहब से लेखक और 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के प्रतिनिधि गोविन्द प्रसाद केजरीवाल की बातचीत के माध्यम से बांगला देश मुक्ति संघर्ष की एक साफ तस्वीर पेश कर दी गई है।[३७] इसके तुरत बाद लेखक गोविन्द जी के साथ स्वतंत्रता दिवस (१५ अगस्त, १९७१) पर बांगला देश के स्वतंत्रता युद्ध का साक्षी बनने का निश्चय करता है। इस यात्रा प्रसंग में उस समय पूर्वी पाकिस्तान से भारत आए शरणार्थियों का अत्यन्त प्रामाणिक और संवेदनापूर्ण वर्णन किया गया है। इसके बाद बांगला देश के मुक्त क्षेत्र का वर्णन आरम्भ होता है, जो किसी युद्ध क्षेत्र की रोमांचकता और कठिनाइयों का सजीव दृश्य उपस्थित करता है : ".....कीचड़ भरी पगडंडी पर पैदल अभियान। रास्ते में पड़ी सोनाई नदी। .....मुक्तिवाहिनी के पास सिर्फ एक डोंगी थी। छह-सात तो हमीं लोग थे, कैप्टेन के साथ चार सैनिक भी थे। नाव बहुत हल्की थी और जरा सा हिलते डुलते ही डगमगा उठती थी। दो खेवे में हमलोग पार हुए। घाट न इस ओर था, न उस ओर। फिसलनदार कगार पर चढ़ना छरहरे शरीरवालों के लिए मुश्किल न था किन्तु गोविन्द जी के बनारसी संस्कारों को क्या कहिए कि एक हाथ में कलकत्ते से लाए पानों से भरा ठोंगा लिए वे अपने दुहरे शरीर को किसी प्रकार संतुलित कर फिसलते-फिसलते भी ऊपर चढ़े जा रहे थे। बिना पान जमाए और घुलाए बनारसी को स्वर्ग में भी रस नहीं आ सकता, यह तो बांगला देश ही था।"[३८]

इस उद्धरण की अन्तिम पंक्तियों में छलकता हास्य और व्यंग्य युद्ध-क्षेत्र के रोमांचक वर्णन को एक अद्भुत

सन्तुलन प्रदान करता है। इसी क्रम में मुक्ति संग्राम के दौरान शहीद हो गए जवानों की कब्रें देखकर लेखक भावुकता से भींग उठता है : ".....हरा भरा उन्मुक्त शस्यश्यामल अंचल शहीदों के रक्त से रंग उठा है। मुझे भाई कालीचरण गुप्त की पंक्ति याद हो आई — 'धानी चूनरवाली धरती, जवा कुसुम सी लाल हो गई।' दस लाख से ऊपर बांगला देशवासियों की हत्या पाकिस्तानी कर चुके हैं .....इतना खून बहाकर पाकिस्तानी बर्बरों ने बांगला देश की धरती को लाल कर दिया है। किन्तु बंजर भी बना देना चाहा है। मुक्ति वाहिनी के सैनिकों का रक्त उसे उर्वर बना रहा है, उसमें जवाकुसुम और गंधराज खिला रहा है। यह बलिदान व्यर्थ नहीं जा सकता।[३५]

इस भावुकता से भरे वर्णन के तुरंत बाद मशीनगन से छूटनेवाली गोलियों की 'तड़तड़ तड़ तड़ तड़ तड़' का वर्णन पुनः दो परस्परविरोधी भावों का अद्‌भुत सामंजस्य प्रस्तुत करता है। युद्ध विषयक सूक्ष्म विवरणों और मुक्तिवाहिनी के सैनिकों की कठिनाइयों के वर्णन के लिए 'कैप्टेन' की सहायता ली गई है। पर ज्योंही वर्णन समाप्त होता है, लेखक की संवेदना उमड़ पड़ती है : "लौटते समय मन पुलकित भी था और भारी भी। स्वतंत्रता के संघर्ष की झलक देखकर हमलोग लौट रहे थे। सैनिकों का साथ था। पर उनमें से कितने इस संग्राम की सफलता देखने के लिए जीवित बचेंगे, यह विचार मन को उदास किए दे रहा था।"[३६] और अन्त में — "सोनाई नदी की धारा में छपाछप डाँड़ चलने की आवाज निस्तब्धता को गहरा ही बना रही थी। गनर हमीद, पूर्व बंगाल का नाविक ऐसे में चुप नहीं रह सका। भटियाली की स्वरलहरी गूँजी —'ओ के कादे रे नदीर किनाराय/आउला चूल बातासे ओड़े, घोमटा नेइ माथाय।' तो जीवन इस विषम परिस्थिति में भी बिलकुल रसहीन नहीं हो गया है। हमीद गा रहा है, नदी के किनारे वह कौन रो रही है ? उसके खुले हुए बाल हवा में उड़ रहे हैं, मुँह पर घूँघट भी नहीं रह गया है। यह गीत तो शायद किसी वियोगी ने अपनी विरहणी प्रिया को लक्ष्य कर लिखा होगा किन्तु आज की परिस्थिति में प्रतीकात्मक रूप से यह 'बांगला माता' के ऊपर कितना लागू होता है।"[३७]

'कलकत्ता विश्वविद्यालय बांगला देश सहायक समिति' की कार्य-समिति के सदस्य के नाते शास्त्री जी को बांगला देश के मुक्त क्षेत्रों में जाने का अवसर कई बार प्राप्त हो चुका था। उनका 'मुक्ति योद्धाओं के शिविर में' शीर्षक एक लेख भी 'धर्मयुग' के ६ जून, १९७१ के अंक में प्रकाशित हुआ था। इसके लगभग दो महीने बाद १३ अगस्त को पाकिस्तानी फौजी शासक याहिया खाँ द्वारा बंगबंधु शेख मुजीब रहमान पर फौजी अदालत में मुकदमा चलाने के आदेश के विरोध में बांगला देश के प्रवासी बुद्धिजीवियों द्वारा बांगला देश मिशन के सामने प्रदर्शन किया गया था। इसके बाद १५ अगस्त को गोविन्द प्रसाद केजरीवाल के साथ शास्त्री जी की बांगला देश के मुक्त क्षेत्रों की एक और यात्रा आरंभ हुई थी, जिससे वापस लौट कर शास्त्री जी ने 'ये सतत संघर्ष की घड़ियाँ अमर होंगी' शीर्षक रिपोर्ताज लिखा था जो 'विष्णुकान्त शास्त्री : चुनी हुई रचनाएँ, खंड-२' में संकलित है। इसके बाद शास्त्री जी ने धर्मवीर भारती के साथ बांगला देश के संघर्षरत मुक्त क्षेत्र की यात्रा ९ सितम्बर से १५ सितम्बर के बीच की और पर इस पर लिखित रिपोर्ताज 'अन्धकार में ज्योति की तलाश' शीर्षक से 'चुनी हुई रचनाएँ, भाग-२' में संकलित हैं।

'अनन्त पथ के यात्री : धर्मवीर भारती' शास्त्री जी की किसी लेखक विशेष पर केन्द्रित एकमात्र पुस्तक है। शास्त्री जी, साहित्य और व्यक्तित्व दोनों स्तरों पर भारती जी से बहुत गहरे रूप से जुड़े रहे हैं। स्वयं उन्हीं के अनुसार भारती जी के साहित्य से उनका परिचय १९५२-५३ से ही हो गया था जो उत्तरोत्तर घनिष्ठ होता गया। दिसम्बर, १९५८ से नवम्बर, १९५९ के बीच हुई मुलाकातों और साहित्यिक संगोष्ठियों ने इस परिचय को व्यक्तिगत सम्बन्ध का रूप दे दिया। १९६० के पूर्वार्ध में भारती जी के 'धर्मयुग' का संपादक बनने के बाद यह सम्बन्ध प्रगाढ़ होता गया और भारती जी के अन्तिम साँस लेने तक इस प्रगाढ़ता में निरंतर वृद्धि ही होती गई।[३८] इस लगभग चार दशकों की विस्तृत

सम्बन्ध-यात्रा में शास्त्री जी ने न केवल भारती जी के साहित्य का, बल्कि उनके व्यक्तित्व का भी सूक्ष्म और विवेक सम्पन्न अध्ययन किया जो 'अनन्तपथ के यात्री' के रूप में हमारे सामने है।[१]

'अनन्तपथ के यात्री' में भारती जी से सम्बन्धित सात आलेख संकलित हैं। इनमें कुछ आलेख भारती जी के संस्मरण और व्यक्तित्व निरूपण के रूप में हैं। भारती जी और शास्त्री जी बांगला देश की आजादी की लड़ाई के दौरान और उसके स्वतंत्र देश बन जाने के बाद साथ साथ बांगला देश गये थे। इस यात्रा में शास्त्री जी को भारती जी के व्यक्तित्व के अनेक पक्षों को सूक्ष्मतापूर्वक देखने और परखने का अवसर मिला था। 'बांगला देश में भारती जी के साथ' निबन्ध इसका प्रमाण है। भारती जी के निधन के पश्चात् आयोजित आलेख 'क्योंकि है सपना अभी भी : धर्मवीर भारती' भी इस पुस्तक में संकलित है। इन दोनों निबन्धों में भारती जी का साहित्य और मानवता के प्रति समर्पित, निर्भीक, सन्तुलित, स्नेहिल, खतरा उठाने वाला रूप उजागर हुआ है। भारती जी के साहित्य को समझने के लिए ये दोनों ही आलेख अत्यन्त उपयोगी हैं। इस पुस्तक में संकलित दो लेखों में शास्त्रीजी ने भारती जी की दो रचनाओं, 'अंधा युग' और 'कनुप्रिया' पर लेखक के प्रति गहरी सहानुभूति पर विवेकपूर्ण ताटस्थ्य के साथ विचार किया है। पुस्तक में भारती जी का भाषण तथा उनके द्वारा शास्त्री जी को लिखे गए अठारह पत्र भी संकलित हैं। यह भाषण तथा ये पत्र भारती जी के साहित्य की परख और मूल्यांकन के लिए आधार सामग्री हैं।

शास्त्री जी की एक उल्लेखनीय पुस्तक है 'ज्ञान और कर्म', जिसका पहला संस्करण १९९७ ई. में और दूसरा संस्करण २००१ ई. में प्रकाशित हुआ।[२] यह पुस्तक श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय, कलकत्ता के तत्वावधान में 'ईशावास्योपनिषद्' पर दिए गए अठारह प्रवचनों का स्वयं लेखक द्वारा संशोधित सम्पादित रूप है। प्रामाणिक रूप से स्वीकृत ग्यारह उपनिषदों में 'ईशावास्योपनिषद्' का विशेष महत्त्व इसलिए है कि इसमें "परमार्थ और व्यवहार को, ब्रह्म और जगत् को, त्याग और भोग को, नैष्कर्म्य और कर्म को, विद्या और अविद्या को, संभूति और असंभूति को अलग अलग नहीं देखा गया। कहीं न कहीं इनके परस्परावलम्बन पर बल दिया गया है। ये युग्म परस्पर अवलंबित होकर मनुष्य को चरितार्थता प्रदान करते हैं— एकांगी दृष्टि ईशावास्योपनिषद् की नहीं है।"[३]

ईशावास्योपनिषद् में कुल अठारह मंत्र हैं और इनमें भी केवल दो ही मूलमंत्र हैं। सोलह मंत्र उन दो मंत्रों की व्याख्या करते है। पहले दो मंत्रों में ईशावास्योपनिषद् का सार अवस्थित है जिनमें तत्वज्ञान को, परमार्थ को कैसे व्यवहार में सार्थक किया जाए, इसका संकेत दिया गया है। शास्त्री जी की विशेषता यह है कि उन्होंने इन संकेतधर्मी अत्यन्त गूढ़ प्रतीत होनेवाले मंत्रों की व्याख्या अत्यन्त सहज प्रवचन शैली में प्रस्तुत की है और इन्हें सामान्य पाठकों के लिए भी बोधगम्य बना दिया है। भक्तिकालीन कवियों की आलोचना के सन्दर्भ में यह व्याख्या इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि कबीर से लेकर तुलसी तक के काव्य में प्रवेश करने के लिए यह अंजन का काम दे सकती है।

आलोचना, संस्मरण, यात्रावृत्त और रिपोर्ताज लेखक के रूप में विष्णुकान्त शास्त्री का स्थान हिन्दी साहित्य के इतिहास में सुनिश्चित है। अध्यात्म के व्याख्याकार के रूप में भी वे समादरणीय हैं। पर कवि के रूप में वे केवल सुहृद्गोष्ठी और सीमित मंच तक सीमित रचनाकार हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है : "कविता मेरे लिए ऊर्जा का स्रोत रही है। कठिन परिस्थितियों में भी कविताओं की कुछ पंक्तियाँ कौंधती रही हैं, मुझे कष्ट झेलकर कार्य करने की प्रेरणा देती रही हैं।"[४] वे यह भी स्वीकार करते हैं कि "मैं कवि नहीं हूँ लेकिन मेरी भावुकता कविता के रूप में समय समय पर मूर्त होती रही है; मेरे उस रूप का भी थोड़ा परिचय देने का प्रयास मित्रों ने किया है।"[५]

शास्त्री जी की इतस्ततः बिखरी कविताओं का संकलन डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी ने 'जीवन पथ पर चलते चलते' शीर्षक से किया है।[६] इन कविताओं को उनके कथ्य के अनुसार पाँच खंडों में प्रस्तुत किया गया है। प्रथम

और द्वितीय खंड में वे कविताएँ रखी गयी हैं, जो राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत और नवयुवकों को राष्ट्र के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर देने को उत्प्रेरित करती हैं। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

जूझ काल से अमर हो गये जो बलिदानी,
आजादी की नींव बनी जिनकी कुर्बानी
उन्हीं मस्त सिंहों की फौलादी हिम्मत को,
शत प्रणाम करती भारत की नयी जवानी।

तीसरे खंड की कविताएँ प्रेम और सौन्दर्य के बोध से जुड़ी हैं। हर आदमी के जीवन में कभी न कभी प्रेम का वसन्त अपनी मनमोहक छटा बिखेरता है, भले ही वह कविता का रूप ले या न ले। शास्त्री जी की प्रेम विषयक कविताओं से इसकी पुष्टि होती है :—

बात सच है क्यों करूँ इनकार,
प्रेरणा देता किसी का प्यार।
जो बनाती धूल को भी फूल,
पीर वह इन मुक्तकों की धार।

विष्णुकान्त जी आधुनिक संवेदना से युक्त होने पर भी एक भावुक रामभक्त हैं, जो कुछ लोगों की दृष्टि में विरोधाभासी प्रतीत हो सकता है। पर शास्त्री जी के व्यक्तित्व में यह विरोधाभास इस प्रकार घुल गया है कि उन्हें जाननेवाले को यह बिलकुल सहज प्रतीत होता है। निम्न पंक्तियों में राम के प्रति कवि का अकुंठ समर्पण भाव पाठक को भी अभिभूत किए बिना नहीं रहता :—

साँस-साँस में रटूँ राम मैं नाम तुम्हारा,
साँस-साँस में बुनूँ रूप मैं राम तुम्हारा।
साँस-साँस में झलकाओ तुम अपनी लीला,
साँस-साँस में रमो बने यह धाम तुम्हारा।

विष्णुकान्त शास्त्री की कविता जटिल भाव बोध की नहीं, उद्‌बोधन, उल्लास और समर्पण की कविता है। उन पर दिनकर का प्रभाव अधिक मुखर दिखाई देता है। कविता उनके साहित्य व्यक्तित्व का गौण पक्ष है, पर वह भीनी गंध के रूप में उनके समस्त लेखन में विद्यमान है।

शास्त्री जी के लेखन का एक और भी गौण पर उल्लेखनीय पक्ष है अन्य भाषाओं की रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद/रूपान्तरण। उन्होंने बांगला से 'उपमाकालिदासस्य' और अंगरेजी से 'महात्मा गाँधी का समाज दर्शन' शीर्षक से दो पुस्तकों के अनुवाद तो किए ही हैं, साथ ही बांगला देश के कवियों की कविताओं का अनुवाद और संकलन भी 'संकल्प संत्रास संकल्प' शीर्षक से प्रकाशित कराया है। इस कविता-संग्रह में बांगला देश के मुक्ति संग्राम को चेतना को जगाने वाली छप्पन संग्रामी कविताएँ देवनागरी लिपि में, उनके काव्यानुवाद के साथ संकलित हैं। 'बांगला देश : संस्कृति और साहित्य' शीर्षक संपादित पुस्तक में भी उन्होंने बांगला देश के प्रतिष्ठित लेखकों द्वारा रचित कहानियों, एकांकी नाटकों एवं लेखों का संकलन प्रस्तुत किया है। शास्त्री जी द्वारा अटल बिहारी वाजपेयी की कविताओं का संकलन 'अमर आग है' भी उनकी उपलब्धियों में से एक है। शास्त्री जी द्वारा अन्य संपादित पुस्तकों में 'दर्शक और आज का हिन्दी रंगमंच,' 'बालमुकुन्द गुप्त : एक मूल्यांकन,' 'कलकत्ता-१९९५' आदि उल्लेखनीय हैं।

साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा 'डायरी' भी है। डायरी लिखते समय आदमी केवल अपनी चेतना के साथ होता है जिसमें बाहर की दुनिया भी उसकी संवेदना और सोच के रूप में ही अभिव्यक्त होती है। सबसे बड़ी बात यह है कि डायरी लिखते वक्त समय शब्दों में कैद हो जाता है। डायरी में लेखक की संवेदना और सोच अपने मौलिक, सहज रूप में व्यक्त होती है जो काल के लम्बे अन्तराल के बाद ऐतिहासिक महत्त्व से भी सम्पन्न हो जाती है। हिन्दी में डायरी साहित्य का बहुत अभाव है। डायरी लिखने का स्वभाव हिन्दी लेखकों का नहीं बन सका है और यदि कुछ लेखक डायरी लिखते भी हैं तो उसे सुरक्षित नहीं रखते। कभी कभी डायरी में व्यक्त होनेवाला सच इतना कड़वा और समाज विरोधी होता है कि उसे सुरक्षित रखने का साहस भी बहुत कम व्यक्तियों में होता है। शास्त्री जी के 'आत्मकथ्य' से ज्ञात होता है कि १८ अक्टूबर, १९५३ से आज तक वे लगातार डायरी लिखते आ रहे हैं।[९] वे यह भी स्वीकार करते हैं कि "मेरी डायरियाँ मेरे लेखक के लिए हीरे की खान सिद्ध हुई हैं।"[१०] यदि ये डायरियाँ कभी अविकल रूप में प्रकाशित हो सकीं तो वे हिन्दी साहित्य के जिज्ञासुओं के लिए भी 'हीरे की खान' सिद्ध होंगी। यही बात शास्त्री जी द्वारा लिखे पत्रों के लिए भी कही जा सकती है।

हिन्दी पत्र साहित्य बहुत समृद्ध नहीं है, पर जो है उसमें शास्त्री जी के, विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों को लिखे, पत्रों का अपना महत्त्व है। शास्त्री जी पत्र-लेखन में कदाचित् बेमिसाल हैं। मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि वे अपनी सारी व्यस्तताओं के बीच दूसरों से प्राप्त पत्रों के उत्तर अवश्य देते हैं। अपने यहाँ पत्रों को सुरक्षित रखने की परम्परा नहीं है; थोड़ा मुश्किल और धैर्य का काम भी है यह। पर यदि शास्त्री जी के अन्यों को लिखित सारे पत्र किसी तरह उपलब्ध हो जाएँ तो वे पत्र-साहित्य के अनूठे उदाहरण सिद्ध होंगे। डॉ० विश्वनाथप्रसाद तिवारी ने 'दस्तावेज' के हाल ही के एक अंक में शास्त्री जी के कुछ पत्र प्रकाशित किए हैं। 'विष्णुकान्त शास्त्री : चुनी हुई रचनाएँ' (खंड-२) में भी उनके तीन बड़े आकार के पत्र संकलित हैं जिनमें से एक पत्नी के नाम, दूसरा भाभी के नाम और तीसरा शिवस्वरूप जी के नाम है।

इन पत्रों में व्यक्तिगत भावनाओं के साथ समाज और राष्ट्र की भावनाओं का ऐसा सम्मिश्रण है जो सहज ही साधारणीकृत होकर पाठक को भी भाव और विचारमग्न कर देता है। पत्नी को सम्बोधित पत्र की कुछ पंक्तियाँ हैं— "इन्दु, तुम इतनी भोली और सरल हो, इतने कोमल और नरम हृदय की हो कि इतना हृदयहीन पति तुम्हारे योग्य नहीं है। जिस दिन तुम यहाँ आई थी, उस दिन का तुम्हारा सहमा सूखा चेहरा भुलाए नहीं भूलता, थोड़ी देर के लिए जरूर तुम्हारे छलिया पति ने तुम्हें बातों में बहला लिया था लेकिन लौटते समय तुम फिर उदास हो गई थी।"[११] इन संवेदना विगलित पंक्तियों की पृष्ठभूमि में एन.सी.सी. शिविर के अनुशासनबद्ध कठोर प्रशिक्षण का विवरण और उससे 'शास्त्रैरपि शरैरपि' के ऋषि वचन की पुष्टि कितनी रमणीय हो उठी है यह बिना पत्र को पढ़े नहीं समझा जा सकता।

भाभी को लिखे पत्र की विचारभूमि तो वही है, पर उसकी भावभूमि भिन्न है। इसमें माँ तुल्य भाभी के समक्ष देवर का दुबकना साफ साफ सुनाई देता है। भाभी को अपनी परेशानी का विवरण सुनाकर देवर प्रच्छन्न रूप से उनकी खुशामद भी करता प्रतीत होता है। पर मुख्य है, प्रशिक्षण शिविर का विवरण प्रस्तुत करना ही। शिवस्वरूप जी के पत्र में श्रद्धाभाव का संकेत भर है, शेष तो शिविर के वातावरण और देश को अपनी सुरक्षा के लिए सजग रहने की भावना का आख्यान है। इस प्रकार तीन व्यक्तियों को लिखे पत्रों में, सम्बोध्य के अनुसार, एक ही विषय तीन रंगों में उपस्थित हुआ है। अपनी दार्जिलिंग यात्रा में भी शास्त्री जी ने पत्नी को एक लम्बा पत्र लिखा था, जो थोड़े परिवर्तित रूप में 'धर्मयुग' में यात्रा-वृतांत के रूप में छपा। वह लेख शास्त्री जी की 'चुनी हुई रचनाएँ', खंड-२ में

संकलित है। इसकी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ..... "इस समय प्राकृतिक वातावरण इतना मोहक और सुन्दर है कि बरबस तुम्हारी याद आ गई और याद आ गई मानस की चौपाई, 'घन घमंड गरजत नभ घोरा, प्रियाहीन डरपत मन मोरा।' तीन तरफ ऊँचे हरे भरे पहाड़, सामने दूर तक फैला हुआ जंगल (जिसके बीच से मैदानी इलाकों की झलक भी मिल जाती है) बादलों से छाया हुआ आकाश, रिमझिम का मधुर संगीत, जिसमें तबले की थाप के सामने मेघगर्जन, ठंडी ठंडी गुदगुदा देनेवाली हवा और पूरे बंगले में अकेला मैं। किताबें (जिन्हें तुम अपनी सौत समझती हो) जरूर साथ हैं, किन्तु वे भला कितना सहारा दे सकती हैं।"[४]

शास्त्री जी की रचना-यात्रा अभी जारी है। यह भी उल्लेखनीय है कि शास्त्री जी की सभी रचनाएँ अभी ग्रंथबद्ध नहीं हुई हैं। समकालीन पत्र-पत्रिकाओं में उनके आलोचनात्मक निबन्ध, संस्मरण और समीक्षाएँ लगातार प्रकाशित हो रही हैं। साहित्यिक संगोष्ठियों में भी वे विभिन्न विषयों पर अपने विचार व्यक्त करते आ रहे हैं। यदि यह सब संकलित हो जाए तो एक साथ कई पुस्तकें प्रकाशित हो जायेंगी। उनके संस्मरणों के तीन संकलन प्रकाशित हो चुके हैं और चौथा शीघ्र प्रकाशित होनेवाला है। संस्मरण लेखन का क्रम इसके बाद भी जारी है। 'हिन्दी अनुशीलन', इलाहाबाद के दिसम्बर, २००३ अंक में रामस्वरूप चतुर्वेदी पर उनका एक भावपूर्ण संस्मरण प्रकाशित हुआ है। 'साहित्य अमृत' के मार्च २००४ अंक में भी हिन्दी के अविस्मरणीय आलोचक डॉ० नगेन्द्र पर 'कर्मठ वैदुष्य, सुदृढ़ अनुशासन : डॉ० नगेन्द्र' शीर्षक संस्मरण छपा है। कुछ दिनों में ये संस्मरण भी पुस्तक का आकार ग्रहण कर लेंगे। श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय, कलकत्ता के तत्त्वावधान में दिए गए श्रीमद्भगवद्गीता पर उनके प्रवचन भी प्रकाशन के क्रम में हैं। शास्त्री जी की अनेक समीक्षाएँ भी अप्रकाशित हैं। उनकी केवल दो समीक्षाएँ ही—रामविलास शर्मा कृत 'निराला की साहित्य साधना-भाग : एक' और शिवप्रसाद सिंह कृत 'शिखरों का सेतु' की समीक्षाएँ 'कुछ चन्दन की कुछ कपूर की' में संकलित हैं। अन्य समीक्षाएँ विभिन्न पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी हैं। अकेले 'समीक्षा' में १९६९ से लेकर २००२ तक उनकी दर्जनों समीक्षाएँ प्रकाशित हुई हैं, जो संकलित होकर पुस्तक का रूप धारण कर सकती हैं।

विष्णुकान्त शास्त्री के हिन्दी साहित्य को अवदान को अब तक पूरी तरह से पहचाना नहीं गया है। इसका एक कारण तो विश्वविद्यालयों में अध्यापन करनेवालों का सजग पाठक न होना और दूसरा तथाकथित मार्क्सवादी या प्रगतिशील आलोचकों की संकीर्ण गुटबंदी की दृष्टि है, जिसमें कोशिश यह की जाती है कि उनके गुट के बाहर का लेखक जहाँ तक हो सके, स्वीकृति न पा सके। पर आलोचक और संस्मरण-यात्रावृत्त-रिपोर्ताज लेखक के रूप में शास्त्री जी का योगदान इतना ठोस है कि उसकी बहुत दिनों तक उपेक्षा नहीं की जा सकती। अब जो भी हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखेगा, शास्त्री जी के उक्त क्षेत्रों में योगदान की उपेक्षा नहीं कर सकता। भक्ति साहित्य, विशेष कर तुलसीदास पर लिखे उनके आलोचनात्मक निबन्ध भक्ति साहित्य को समझने के लिए अपरिहार्य हैं। निराला, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत, महादेवी वर्मा, रामधारी सिंह दिनकर, हरिवंश राय बच्चन, सुभद्रा कुमारी चौहान, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, धर्मवीर भारती आदि कवियों, मोहन राकेश जैसे नाटककार, जैनेन्द्र कुमार जैसे कथाकार, बालमुकुन्द गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, शांतिप्रिय द्विवेदी जैसे आलोचकों तथा गीत और नवगीत, आधुनिक हिन्दी कविता और छन्द, काव्य का वाचिक सम्प्रेषण, महाराणा प्रताप : आधुनिक हिन्दी साहित्यकारों की दृष्टि में, नई हिन्दी कविता में समसामयिक जीवन की झलक आदि विषयों पर आधारित उनके लेख आधुनिक हिन्दी साहित्य को समझने में बहुत सहायक हैं।

विष्णुकान्त शास्त्री एक सतत जागरूक, प्रयत्नरत, लेखक हैं। उनकी यह लेखन-यात्रा उन्हें हिन्दी साहित्य के इतिहास में कभी न मंद होनेवाली मंजिल पर पहुँचाएगी, इसका मुझे पूरा विश्वास है। ●

संदर्भ संकेत :

१. प्रकाश त्रिपाठी (सं), 'विष्णुकान्त शास्त्री : सृजन के आयाम' में संकलित शास्त्री जी का आत्मकथ्य 'रचना की अन्तर्यात्रा', वचन पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, २००३, पृ. ४२.
२. उपरिवत्, पृ. ३५
३. उपरिवत्
४. इसका कारण शास्त्री जी ने अपने 'आत्मकथ्य' में बहुत रोचक रूप में प्रस्तुत किया है। उपरिवत् पृ. ३७.
५. उपरिवत्, पृ. ३८.
६. उपरिवत्
७. उपरिवत्, पृ. ३९.
८. उपरिवत्, पृ. ४०.
९. प्र. हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, १९६३.
१०. प्र. हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, १९७३.
११. इस सूचना में एक असंगति यह दिखाई देती है कि इस किताब में संकलित एक निबन्ध 'स्वच्छन्दतावादी समीक्षक नन्ददुलारे वाजपेयी' नामवर सिंह द्वारा सम्पादित 'आलोचना' में १९७३ ई. में प्रकाशित हुआ था। (विष्णुकान्त शास्त्री, 'कर्मठ वैदुष्य, सुदृढ़ अनुशासन : डॉ. नगेन्द्र) साहित्य अमृत, मार्च २००४, पृ. १२.
१२. कुछ चन्दन की कुछ कपूर की विवृति
१३. विष्णुकान्त शास्त्री 'कर्मठ वैदुष्य, सुदृढ़ अनुशासन : डॉ. नगेन्द्र, साहित्य अमृत, मार्च २००४ पृ. १२.
१४. प्र. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९७७.
१५. इनमें से दूसरा निबन्ध 'भावुक समीक्षक शान्तिप्रिय द्विवेदी' शीर्षक से 'आलोचना' में १९७३ में प्रकाशित हुआ था। (साहित्य अमृत, मार्च, २००४, पृ. १२).
१६. प्र. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९८६.
१७. प्र. लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, २००१ की 'स्वीकृति' शीर्षक भूमिका में मुद्रित लेखन-तिथि।
१८. भक्ति और शरणागति, द्वि. सं. २००१, 'स्वीकृति', पृ. ७.
१९. उपरिवत्,
२०. प्र. हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, १९७७.
२१. जुगलकिशोर जैथलिया (सं.), विष्णुकान्त शास्त्री : चुनी हुई रचनाएँ, पृ. १३१.
२२. उपरिवत् पृ० १२३.
२३. उपरिवत्, पृ. १३०-१३१.
२४. प्र. भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ, १९९५.
२५. जुगलकिशोर जैथलिया (सं.), विष्णुकान्त शास्त्री : चुनी हुई रचनाएँ, पृ. ११५.
२६. उपरिवत्, पृ. ११६-११७.
२७. प्र. हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, १९७३.
२८. जुगलकिशोर जैथलिया (सं.), विष्णुकान्त शास्त्री : चुनी हुई रचनाएँ, पृ. १७९.
२९. उपरिवत् पृ. १७९.
३०. उपरिवत्, पृ. १७६.
३१. उपरिवत्, पृ. १७३.
३२. उपरिवत्, पृ. १८५.
३३. उपरिवत्, पृ. १८७-१९०.
३४. उपरिवत्, पृ. १९३.
३५. उपरिवत्, पृ. १९३-१९४.
३६. उपरिवत्, पृ. १९५.
३७. उपरिवत्, पृ. १९६.
३८. 'क्योंकि है सपना अभी भी : धर्मवीर भारती', जुगलकिशोर जैथलिया (सं.), विष्णुकान्त शास्त्री : चुनी हुई रचनाएँ, पृ. ४९-७४.
३९. प्र. प्रभात प्रकाशन, नयी दिल्ली, १९९९.
४०. प्र. लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वि. सं. २००१, (प्रथम संस्करण के प्रकाशन-काल की सूचना लेखक से प्राप्त).
४१. जुगलकिशोर जैथलिया (सं.), विष्णुकान्त शास्त्री : चुनी हुई रचनाएँ, खंड-२, पृ. २०६.
४२. उपरिवत्, खंड-१, पृ. xxiii.
४३. उपरिवत्, खंड-१, पृ. x.
४४. प्र. श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय, कलकत्ता, १९९९.
४५. प्रकाश त्रिपाठी (सं.) सृजन के आयाम, पृ. ३४.
४६. उपरिवत्
४७. जुगलकिशोर जैथलिया (सं.), विष्णुकान्त शास्त्री : चुनी हुई रचनाएँ, खंड-२, पृ. १५३.
४८. उपरिवत्, पृ. १४३

डॉ० युगेश्वर

राष्ट्रवादी रचनाकार आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

पं० विष्णुकान्त शास्त्री की चुनी हुई रचनाओं को दो खंडों में प्रकाशित कर कुमारसभा ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। दोनों खंडों के संपादक श्री जुगलकिशोर जैथलिया जी हैं। जैथलिया जी ही सब हैं। प्रथम खंड आलोचनापरक निबंधों का है। दूसरे खंड में संस्मरण, यात्रावृत्त, रिपोर्ताज, अध्यात्मचिंतन, विविध विषयक रचनाएँ तथा कविताएँ हैं। इस से स्पष्ट है, विष्णुकान्त जी का अध्ययन, लेखन क्षेत्र विस्तृत है। इसी प्रकार उन्हें आधुनिक और प्राचीन दोनों में रुचि है। शास्त्र, साहित्य एवं जीवन व्यवहार उनके आयाम हैं। वे एक राजनीतिक दल के नेता हैं। इस लोक से जुड़कर अपने को सदा नया रखते हैं। शैली की सरलता के बावजूद अपनी बात को कह देते हैं। कबीर के अध्ययन में कुछ खटका। कुछ क्या बहुत खटका। इसलिये उन्होंने आचार्य शुक्ल से लेकर आजतक के सभी विद्वानों की खबर ली। इस काम को वे बड़े धीरज से करते हैं। अनाक्रमण आक्रमण द्वारा 'कबीरदास' के मूल स्वरूप पर पड़े आवरण' में उन्होंने उन सब का उल्लेख किया है, जिन्होंने आवरण डाला है, जिनकी बुद्धि आवरण में है। विष्णुकान्त जी का उद्देश्य उस आवरण को हटाना है। कबीर का मूल रूप दिखाना है। घूँघट हटा कर पिया का परिचय कराना है।

एक लेख है 'वल्लभ संप्रदाय में दैन्य तत्त्व : सूरदास के संदर्भ में।' यहाँ भी पर्दा कम नहीं है। इस पर्दे को हटाने के लिये वे कहते हैं— 'वल्लभ संप्रदाय में भक्त का दैन्य भाव गृहीत नहीं हुआ है यह कहना वल्लभ सम्प्रदाय से अपना नितांत अपरिचय प्रगट करना है।' 'नितांत अपरिचय' का अर्थ है 'घोर अज्ञान'। यह घोर अज्ञान पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० मुन्शीराम शर्मा आदि अनेक विद्वानों में है। विष्णुकान्त जी ने इस लेख में दैन्य तत्त्व की स्थापना भी विस्तार और प्रामाणिक ढंग से किया है। वे न केवल शास्त्र के ज्ञाता हैं बल्कि उनके सत्य को समझने का धैर्य भी है। यह भी सच है कि वल्लभ संप्रदाय में दास्य का स्थान गौण है। उनका मूल स्वर विनय नहीं लीला है। विनय आरंभ है। प्रच्छन्न है। लीला सहायक है। विनय के बिना लीला पर्दों की भक्ति संदेह में पड़ जायगी। किन्तु मुन्शीराम शर्मा जैसे विद्वानों के भ्रम का भी कारण है। उस भ्रम का कारण आचार्य वल्लभ द्वारा कहा गया 'घिघियाना' शब्द है। आचार्य को सूरदास जी का विनयपद अच्छा नहीं लगा। उन्होंने सूरदास की काव्यशक्ति की सराहना की। इस शक्ति को विनय नहीं, लीलाकथन में लगाना चाहिए। इस प्रकार आंशिक रूप से आचार्य वल्लभ स्वयं ही विनय को दूसरा स्थान देते हैं। दूसरी ओर विनय की आवश्यकता तो सर्वत्र है। विनय ही तो सामाजिक शिष्टता का आधार है। लीला और विनय परस्पर सहयोगी हैं। गो. तुलसीदास का उद्धरण देकर विष्णुकान्त जी ने इसे स्पष्ट किया है। भारत जीवन में रामलीला एवं रासलीला दोनों महत्त्वपूर्ण हैं। रामलीला लिखनेवाला विनय पत्रिका भी लिखता है। विनय के अभाव में वियोग सहना संभव है क्या ? गोपियाँ, यशोदा आदि में भरपूर विनय है। इनकी अपेक्षा श्रीकृष्ण द्वारा वियोग में विनय का अभाव सा है। महात्म्यज्ञान में विनय लिपटा है। विष्णुकान्त जी ने विनय को भलीभाँति स्थापित किया है।

प्रेम की प्रगाढ़ता में माहात्म्यज्ञान बाधक है। प्रेम प्रगाढ़ता में तत् भवन की स्थिति आती है। मैं प्रभु की हूँ।

प्रभु मेरे हैं। चरमावस्था में मैं और प्रभु में अभेद हो जाता है। प्रभु को अपना समझने में एक प्रकार का अभिमान है। मानस में सुतीक्ष्णजी कहते हैं— 'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे' (३।११)। यहाँ पति शब्द ध्यान देने योग्य है। गोपियों को भी कृष्ण पति का अभिमान हो गया था। सौभगमदं। भगवान् के विरह में वे स्वयं भगवान बन गयी। प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः। यह अभिमान लौकिक अभिमान से भिन्न है। अत्यन्त ऊँचे स्तर का है। प्रभु से मिल कर प्रभु का हो जाने का अभिमान है। संपूर्ण समर्पण का अभिमान है। कबीरदास में यह आध्यात्मिक अभिमान बार-बार आया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी अभिमान की निंदा की है। कठोपनिषद् में यम कहते हैं— हर्ष, शोक रहित उस पुरुषोत्तम को मेरे अतिरिक्त कौन जान सकता है ? कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातु महंति। यह अभिमान है। मैं यम हूँ। विषय मुक्त व्यक्ति ही यम है। कृष्ण गोपियों के शुद्ध प्रेम उत्पन्न प्रेम को प्रगाढ़ करने के लिये उन्हें विरह देते हैं। देवी पार्वती के संबंध में लेखक का कथन महत्त्वपूर्ण है– जब रूप का आकर्षण अपने को तप से पवित्र करता है, जब प्रेमी तप रूपी विरहताप या पश्चाताप से आसक्ति की समस्त श्यामता को दग्ध कर विशुद्ध कांचन के रूप में निखर उठता है तभी उसका प्रेम सार्थक होता है (पृ० १/४)। गोपी के विरह का उद्देश्य भी प्रेम को सार्थक करना है। न कि अभिमान निवारण। अभिमान (सांसारिक) तो उनमें है ही नहीं। वे तो सब का त्याग कर कृष्ण के पास आयी हैं।

'कालिदास की विरह व्यंजना' विरह स्थिति का नमूना है। इस निबंध में कालिदास के प्रेम, विरह संबंधी मान्यताओं एवं स्थितियों को सुस्पष्ट रूप से समझाया गया है। यहाँ कालिदास माध्यम भी हैं। उनके विरह ने प्रेम विरह की स्थिति, आकार को तात्त्विक रूप दिया है। विरह ही प्रेम के खरे या खोटे होने की कसौटी है (वही पृ०-१/६)। इस निबंध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के उद्धरण ने लेख को और महत्त्वपूर्ण बना दिया है। तभी लेखक कह सका 'विरह ही सौंदर्य की भी कसौटी है।' निबंध में कविवर नागार्जुन की कविता का उद्धरण निबंध को आगे नहीं बढ़ाता है। यह स्पष्ट बात है कि लेखक का निजी जीवन लेखन नहीं है। लेखन में तरह तरह के पात्र हैं। परस्पर विरोधी भी हैं। सब के साथ रहना लेखक या कवि की अनिवार्यता नहीं है। तुलसीदास ने मंथरा का भी प्रामाणिक चित्रण किया है। मंथरा या कैकेयी का कोई अंश तुलसी के जीवन का नहीं है। फिर यक्ष या अज के विरह को कालिदास के कथित विरह से जोड़कर क्यों देखा जाय? लेखक को तो परकाय और परव्यवसाय प्रवेश करना पड़ता है। राम के विरह में अपने को रखनेवाला अपराधी है। इससे पूज्यता खंडित होती है।

एक निबंध का शीर्षक है 'कबीरदास और तुलसीदास का आंतरिक साम्य।' यह निबंध भी 'आवरण' को हटाने जैसा है। अपने को प्रगतिशील देखने दिखानेवाले बहुतों ने एक धंधा उठा लिया है। वे प्रायः ही बिना समझे कबीर को प्रगतिशील और तुलसीदास को प्रतिक्रियावादी कहकर प्रसन्न होते हैं। लेखक विष्णुकान्त जी ने दोनों कवियों का विधिवत् अध्ययन किया है। अतः उनके साम्य को भलीभाँति उजागर किया है। वे मानते हैं, कबीर और तुलसी दोनों ही भक्ति धारा के वैविध्य उन्नायक हैं। लेखक ने अत्यंत योग्यता से उदाहरणों द्वारा तुलसी और कबीर के साम्य को समझाया है। किन्तु बाह्य विरोध को स्वीकार भी किया है। यहाँ कुछ अन्य बातों पर विचार करने की आवश्यकता है। उदाहरण के लिये मुसलमान शेख तकी ने कबीर को मार डालने की कोशिश की। इससे पता लगता है कि कबीर को मुसलमान स्वीकार नहीं करते हैं। कबीर हिंदू घरों में हैं। कोई भी प्रामाणिक और प्रसिद्ध मुसलमान कभी कबीर के पास नहीं आया। कबीरचौरा हो या लहरतारा कहीं भी मुसलमान नहीं हैं। मगहर में एक मस्जिद अवश्य है। वह मस्जिद मंदिर के पास है। यह मुसलमान के अधिकार में है। यहाँ शून्य सा है। यह मस्जिद प्रायः वैसे ही है जैसे विश्वनाथ मंदिर के समीप की मस्जिद। यह मस्जिद मंदिर से बिल्कुल भिन्न है। यहाँ कबीर का

क्या है कहा नहीं जा सकता है। अर्थात् कबीर से संबद्ध कुछ नहीं है। यों मूल बात यह कि कबीर मगहर गाँव में मरे थे, यह बात मान्यता भर है।

विष्णुकान्त जी पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी को उद्धृत करते हैं— कबीर सद्यः धर्मांतरित मुस्लिम जुलाहा कुल में पैदा हुए और जातिपाँति के हृदयहीन अन्याय के खुद शिकार थे। आश्चर्य है कबीर का कथित परिवार मुसलमान होकर भी हिंदू ही रह गया। तभी तो वह जाति पीड़ित है। उन पर नाथ सिद्धों का गहरा प्रभाव था। नाथ सिद्ध भी हिंदू थे। उनका खतना भी नहीं हुआ था। वे रामोपासक थे। ऐसे में मुसलमान होने की बात पंडित कल्पना है। जिन आधारों पर कबीर को मुसलमान जुलाहा कहा गया वे हैं— ईश्वर के साकार रूप, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, वर्णव्यवस्था कर्मकांड का विरोध। ये सब तो नाथों, सिद्धों आदि में भी हैं। तो नाथ सिद्धों को भी मुसलमान कहना होगा। बुद्ध में मिले तो बुद्ध मुहम्मद से तेरह सौ वर्ष पूर्व के मुसलमान हैं।

सामाजिक भेद आवश्यक नहीं कि विचार भेद करे। किसी भी विचार धारा या आन्दोलन में तरह-तरह के सामाजिक स्तर के लोग होते हैं। तुलसीदास के घनिष्ठ मित्र बैरम खाँ के पुत्र रहीम खान खाना थे। रहीम न केवल तुलसीदास के मित्र थे बल्कि श्रेष्ठ विष्णुभक्त भी थे। रहीम शब्द हटा दें तो वे किसी जन्मजात हिंदू से बड़े हिंदू हैं। तुलसीदास से मित्रता का कारण गाँव-घर या जाति आदि की दोस्ती न होकर भक्ति संबंध था। सामाजिक दृष्टि से तुलसी और रहीम बिल्कुल विपरीत थे। फिर वे विचारों में एक थे। माता हुलसी की प्रसन्नता रहीम की प्रसन्नता भी है। कबीर साहब के यहाँ मुगल, पठान रहीम, रसखान का घोर अभाव है। बिजली खाँ का इतिहास साक्ष्य नहीं है।

पं० विष्णुकान्त जी ने कबीर और तुलसी की रचनाओं को सामने रख कर विचार किया है। दोनों ही निर्गुण निराकार में विश्वास करते हैं। आरंभ एक। विस्तार में भेद होना स्वाभाविक है। तुलसीदास की रचनाओं में लोक मंगल का प्रवेश कराकर आचार्य शुक्ल ने एक नया द्वार खोला। किन्तु इससे आध्यात्मिकता का द्वार बंद भी हो गया। साहित्य से आध्यात्मिकता के पैर उखड़ गये। हिंदी का प्रत्येक भक्त कवि वेदांत के किसी न किसी रूप से प्रभावित रहा है। यह बात दृष्टि से दूर हो गयी। कबीर और तुलसी में संपूर्ण विपरीत मानने का बड़ा कारण वेदांत दृष्टि का अभाव भी है। विष्णुकान्त जी वेदांत के विद्वान् हैं। उन्होंने 'ईशावास्य' की अच्छी व्याख्या की है। 'विनय पत्रिका' की प्रपत्ति को समझ भी अच्छी है। वे जितना समझते हैं, उतना ही अच्छा व्यक्त भी करते हैं। समझना और समझाना दोनों में सिद्धहस्त हैं। 'ईशावास्य' में भी वे आचार्यों के 'एकांगी भूमिका' का निरास करते हैं। 'अध्यात्म चिंतन' खंड में चार लेख हैं— १. ईशावास्योपनिषद्: एक सिंहावलोकन। २. योग की गीतोक्त परिभाषाएँ। ३. नवधा भक्ति। ४. शरणागति की भूमिका। इन निबंधों को भक्ति साहित्य की मनोभूमि कहना चाहिए। हिंदी भक्ति साहित्य संपूर्ण आध्यात्मिक चिंतन की सरल भाषा शैली में अभिव्यक्ति है। विष्णुकान्त जी ने इस बात को समझा है। किन्तु उनकी नम्रता उन्हें कभी-कभी छलती दीखती है। कठोर हुए बिना गलत का निरसन संभव नहीं है। सबको मित्र मत बनाइए। शत्रुओं के लिये भी स्थान छोड़े रहिए। शत्रु भी उपयोगी हैं। विष्णुकान्त जी में शत्रु बनाने की इच्छा नहीं है। मार्क्सवाद विरोधी होकर भी वे दो मार्क्सवादियों को मित्र बनाते हैं। पता नहीं, उनका क्या रुख है? विष्णुकान्त जी ने उनका नाम लेकर उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा दी है। वरना साम्यवादी लेखकों के नाम थाने के अपराध डायरी में दर्ज हैं।

विष्णुकान्त जी में पूर्व और पश्चिम दोनों की बोली है। वे हिंदी के पूर्वांचल-स्तंभ हैं। लोग पश्चिमी प्रभाव से ऊब रहे हैं। ऐसे में विष्णुकान्त जी से आशा है। वे भारतभाव को ठीक ढंग से रखने में सक्षम हैं। प्रगति के नाम पर प्रायः ही राष्ट्रीयता को भूलने का प्रयत्न हुआ है। राष्ट्र प्रतीकों, नेताओं आदि की घोर उपेक्षा होती है, अपमान

के शब्द कहे जाते हैं। जिसकी राष्ट्रता जितनी प्रखर है, वह उतना ही भुलाया जाता है। विष्णुकान्त जी ने राष्ट्रता के इस शून्य को तोड़ा है। 'महाराणा प्रताप : आधुनिक हिंदी साहित्यकारों की दृष्टि में' एक निबंध है। इस निबंध में अत्यंत विस्तार और सावधानी से महाराणा संबंधी लेखन की प्रस्तुति हुई है। इस संदर्भ में एक घटना का स्मरण होता है राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का विरोध करते उत्तर प्रदेश के एक नेता गोविंद सहाय ने शिवाजी की निंदा आरंभ की। उनकी यह निंदा आचार्य नरेन्द्रदेव को अच्छी नहीं लगी। उन्होंने कहा रा०स्वं०संघ के विरोध करते अपने पूर्व पुरुषों की निंदा अत्यंत अनुचित है। नरेन्द्रदेव जी का प्रभाव पड़ा। श्री गोविंद सहाय ने अपनी हरकत बंद कर दी। किन्तु साम्यवादियों पर इसका असर नहीं पड़ा। वे आज भी हमारी राष्ट्रता की जड़ काटने में लगे हैं। विष्णुकान्त जी के इस लेख में कई ऐसे लेखकों और उनकी कृतियों का उचित उल्लेख है, जिन्हें लोग भूल गये हैं। उदाहरण के लिए राधाकृष्ण दास, नाथूरामशंकर शर्मा, गोकुल चंद शर्मा, पांडेय लोचन प्रसाद, केसरी सिंह बारहठ, माधव शुक्ल, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, त्रिशूल, सनेही, शंभुदयाल श्रीवास्तव आदि। छायावाद काल तक सभी कवियों, लेखकों ने महाराणा, शिवाजी आदि पर लिखा। यह भारत की राष्ट्रता का उज्ज्वल समय था। १९३५-३६ से राष्ट्रधारा साम्यवादी आक्रमण से दूषित होने लगी। राष्ट्रवादी लेखकों पर सांप्रदायिकता एवं संकोच का लेबल चिपकाया जाने लगा। प्रेमचंद जैसे राष्ट्रवादी लेखक को राष्ट्रवाद से खारिज कर साम्यवादी बना दिया गया। जबकि वे साम्यवादी नहीं थे। विष्णुकान्त जी ने अत्यंत दृढ़ता और स्पष्टता से महाराणा प्रताप संबंधी रचनाओं का संग्रह किया है। इतिहास और साहित्य के अंतर को भी समझाया है। इतिहास तथ्याश्रित होता है। साहित्य तथ्य को भावना और कल्पना से रंजित कर किसी महत्तर उद्देश्य की सिद्धि करना चाहता है (२/२८७)।

और भी अनेक ऐसे निबंध हैं, जो साहित्य की संकुचित धारा को और गरिमा प्रदान करते हैं।

कुल मिला कर कहना होगा कि पं० विष्णुकान्त शास्त्री अपने ढंग के एकल राष्ट्रवादी लेखक हैं। इन्हें बंगाली राष्ट्रता का भी प्रत्यक्ष अनुभव है। अहिन्दी प्रदेश में रहकर भी वे हिंदी को नेतृत्व प्रदान करते हैं। कोलकाता कभी हिंदी पत्रकारिता का केन्द्र था। साहित्य के उग्र, निराला, इलाचंद्र जोशी, बाबू शिवपूजन सहाय आदि भी कोलकाता में रहे हैं। विष्णुकान्त जी उसी अनुक्रम में हैं। ●

डॉ० सत्यदेव मिश्र

वाग्मी रचनाकार की सृजन-प्रक्रिया : आलोचना का एक संदर्भ

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के कर्तृत्व के कई फलक हैं। वे एक साथ ही साहित्यकार हैं, सुप्रसिद्ध वाग्मी है, चिंतक-राजनीतिज्ञ हैं और अध्यात्मशास्त्री भी। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के नाना आयामों की बहुविधि झाँकियाँ, विविध परिदृश्य उनके रचना संसार में समाहित हैं। उनकी सृजनानुभूति और रचना-प्रक्रिया संश्लिष्ट है। वे सृजन और परिवेश को एक दूसरे का पूरक मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में "सृजन और परिवेश दोनों एक दूसरे के पूरक हैं"। परिवेश सृजन का मूलकारक है, कदाचित् इस सत्य से उनका साक्षात्कार हिमाचल प्रदेश में देवदारु की घाटियों को देखकर हुआ। "परिवेश किस तरह प्रभावित करता है प्रकृति के सृजन को यह मैंने अपनी आँखों से देखा"। वस्तुतः यह आधारभूत तथ्य है कि प्रकृति के रम्यरूप सृजन को न केवल आंदोलित करते हैं वरन् उपजीव्य भी प्रदान करते हैं। प्रकृति और कल्पना, साहित्य-कला के साथ ही सारी कलाओं के मूल स्रोत हैं। श्रेष्ठ रचनाओं के गर्भ में प्रकृति और कल्पना का संश्लेष विद्यमान रहता है और वही सृजन का मूलाधार बनता है। महाकवि कॉलरिज ने कल्पना को प्राथमिक चरण में 'इंद्रियगोचर पदार्थों की प्रतीतानुभूति'[1] की क्रिया माना है। यह प्रत्यक्षीकरण की क्रिया एक सहजात अंतःशक्ति है। मानवात्मा सहज ही विभिन्न पदार्थों के मिश्रित स्वरूप में से एक निश्चित रूपाकार की प्रतीति करती है। आचार्य जी ने हिमाचल में देवदारु वृक्षों के वन की जो चर्चा की है वह इसी प्रतीतानुभूति का प्रतिफल है। हिमाचल की घाटियों में विभिन्न वनस्पतियों-वृक्षों के मध्य मात्र देवदारु से प्रत्यक्षीकरण इसी अनभिप्रेत सहजात कल्पना शक्ति से हुआ। द्वितीय चरण में कल्पना नव आकार प्रदान करने वाली आत्म शक्ति है जिससे प्रकृति के दृश्यमान रूप रचनाकार की चिंतना के अनुरूप ढल जाते है।[2] इस तरह न केवल परिवेश-प्रकृति का रचना-प्रक्रिया में योगदान होता है वरन् कल्पना भी महती भूमिका अदा करती है। आचार्य जी रचना का हेतु परिवेश मानते हैं, किन्तु परिवेश से भी ऊपर मानव-संकल्प मानते हैं। "यानी परिवेश के साथ मानव का संकल्प अगर जूझे तो मानव का संकल्प हारता नहीं। मानव का संकल्प उसमें कहीं न कहीं चमक पैदा करता है। इसका भी मैं साक्षी हूँ।" परिवेश सृजन का बीज है किन्तु रचनाकार की अन्तःशक्ति (अन्तर्निहित क्षमता) परिवेशरूपी बीज के प्रस्फुटन और पल्लवन का मूल कारक है। अनुकूल परिवेश में सर्जक की अन्तर्निहित क्षमता जिसे दूसरे शब्दों में 'प्रतिभा' कहना अधिक समीचीन होगा, बेहतर सर्जन कर सकती है। किन्तु प्रतिकूल परिवेश में वह पूर्णतः तिरोहित नहीं होती, अपनी इस मान्यता को प्रतिस्थापित करने के लिए उदाहरण स्वरूप शास्त्री जी ने अंचल जी की कविता की पंक्तियाँ प्रस्तुत की हैं और प्रमाणित किया है कि मूल से कट जाने पर सुखदायी परिवेश भी सर्जना के लिए हितकर नहीं होता। वे रचना के लिए सर्जनात्मक क्षमता को निर्णायक तत्त्व मानते हैं। इस तरह स्पष्ट होता है कि शास्त्री जी प्रकारान्तर से काव्य का प्रमुख हेतु, मूलकारक प्रतिभा मानते हैं। उनकी दृष्टि में परिवेश का स्थान दूसरा है अर्थात् व्युत्पत्ति को भी अपने सृजन के मूल में स्वीकारते हैं परन्तु व्युत्पत्ति का स्थान

दूसरा है। उन्होंने लिखा है— "परिवेश एक सीमा तक सहायक हो सकता है.....लेकिन वह निर्णायक नहीं हो सकता। इसलिए परिवेश के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी निर्णायक स्थिति अन्तर्निहित क्षमता की ही है ऐसा मैं मानता हूँ।"

भारतीय काव्यशास्त्रियों में कुछ आचार्यों ने काव्य हेतुओं का निरूपण किया है। इनमें दण्डी, वामन, रुद्रट, कुन्तक, मम्मट के नाम विशेषतः उल्लेख्य हैं। दण्डी ने तीन काव्य हेतु माने हैं— नैसर्गिकी प्रतिभा, निर्मल शास्त्रज्ञान और अमन्द अभियोग (अभ्यास)[3]। रुद्रट तथा कुन्तक ने भी काव्य हेतुओं की संख्या तीन ही मानी है— शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास। वामन ने लोक, विद्या (विभिन्न शास्त्रज्ञान) और प्रकीर्ण की चर्चा की है। प्रकीर्ण के अंतर्गत उन्होंने छः भेद गिनाए हैं। सारग्राही मम्मट ने उक्त सभी को स्वसम्मत तीन काव्य हेतुओं मे अन्तर्भूत कर दिया है। उनके अनुसार शक्ति, निपुणता (लोक, काव्य, काव्यशास्त्र आदि के अवेक्षण द्वारा प्राप्त), अभ्यास (काव्य मर्मज्ञों से प्राप्त शिक्षा और अभ्यास) काव्य के हेतु हैं।

वस्तुतः मम्मट ने पूर्वाचार्यों द्वारा प्रस्तुत काव्य हेतुओं को ही प्रकारान्तर से प्रस्तुत किया है। दण्डी और वामन द्वारा सम्मत प्रतिभा का ही दूसरा नाम 'शक्ति' है। कदाचित् काव्य का प्रधान हेतु इसी शक्ति अर्थात् प्रतिभा को शास्त्री जी अन्तर्निहित क्षमता (अंतःशक्ति) कहते हैं। रुद्रट सम्मत व्युत्पत्ति और वामन सम्मत 'लोकविद्या' दण्डी सम्मत निर्मल शास्त्रज्ञान लगभग एक ही दृष्टि के अलग-अलग नाम हैं। मम्मट इसी को निपुणता कहते हैं।

आचार्य जी लेखक के अभ्यास पर विशेष बल देते हैं। उत्कृष्ट सृजन निरन्तर अभ्यास से ही संभव है। उन्होंने स्वीकारा है कि वे प्रारंभ से ही श्रेष्ठ वक्ता तो थे किन्तु लेखन और सृजन टालते रहते थे। हिन्दी के वरिष्ठ साहित्यकारों और गुरुजनों के आग्रह पर उन्होंने कलम चलाई। उन्होंने लिखा है कि— 'गम्भीर लेखन की मेरी संभावनाओं से प्रभावित होकर मुझे लिखने के लिए अपने तगादों से बाध्य कर देने वालों की लम्बी तालिका में ..... गुरुजनों का विशेष स्थान है।" वस्तुतः यह स्वीकारोक्ति वामनाचार्य द्वारा निरूपित काव्य हेतुओं में "प्रकीर्ण शीर्षकांतर्गत' वृद्धसेवा (गुरु द्वारा शिक्षा प्राप्ति) के अंतर्गत रखा जा सकता है। वे सृजन प्रक्रिया में निपुणता और अभ्यास पर समानांतर बल देते हैं। शास्त्री जी के सर्जक को उनके पिताजी ने भी भली-भाँति संस्कारित किया है। भाषा परिष्कार और लेखन परिवेश के निर्माण में उनके परिवार की महती भूमिका रही है। अंग्रेजी के महान कवि कीट्स की रचनाओं में जो गृहस्मारी तत्व (नॉस्ट्रालाजिक एलिमेन्ट) है वह उन्हें महाकवि बनाने में सहायक हुआ है, वैसा ही कुछ आचार्य जी में परिलक्षित होता है। रचना प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए शास्त्री जी बार-बार उसी में खो जाते हैं। वे अपने परिवारीजनों, गुरुजनों, मित्रों के उन संस्मरणों का बराबर उल्लेख करते हैं जो उन्हें दाय के रूप में प्राप्त हुए और उनके रचनाकार को निर्मित करते रहे।

शास्त्रज्ञान (गंभीर अध्ययन और ज्ञानार्जन, संत प्रवचन आदि) को वे श्रेष्ठ लेखक की आधारभूत आवश्यकता मानते हैं। वे शास्त्रमर्मज्ञ हैं। बहु भाषाविद् हैं— संस्कृत, हिन्दी, बंगला, अंग्रेजी आदि के तलस्पर्शी विद्वान हैं, इसीलिए मूर्धन्य लेखक और वक्ता हैं। मूर्धन्य रचनाकार कोई अनायास एक दिन में नहीं बन जाता, उसे निरन्तर पसीना बहाना होता है। वे अपने पत्र लेखन और डायरी लेखन को अपने रचना-संसार का उपजीव्य मानते हैं और निरंतर अभ्यास पर बल देते हैं। वस्तुतः जिसे हम प्रतिभा कहते हैं, स्वयं प्रकाश ज्ञान 'इन्टयूटिव नालेज' कहते हैं वह सार्थक श्रम से ही अर्जित की जाती है। सृजन आक्रांत मन को निरन्तर अभ्यास करना होता है। शेख सादी ने लिखा है कि— "प्रतिभा निन्यानवे प्रतिशत पसीना बहाकर अर्जित की जाती है। एक प्रतिशत ही ईश्वर प्रदत्त होती है।"[4] अर्थात् अधिकांश लोग (निन्यानवे प्रतिशत लोग) श्रम करके ही प्रतिभा का अर्जन करते हैं।

शास्त्री जी का निरंतर प्रयास रहा है कि वे कुछ ऐसा लिखें जिसे सर्वश्रेष्ठ और स्वतःपूर्ण माना जाय। इसके लिए उन्होंने गंभीर अध्ययन मनन का सहारा लिया है। यद्यपि पूर्णता एक आदर्श है जिसे पाया नहीं जा सकता। आदर्श एक सीमा तक ही आकार ग्रहण करता है। उसका बहुलांश आकारातीत ही रहता है। फिर भी पूर्णत्व की कामना करना मानव स्वभाव है।

बीसवीं शती के प्रारम्भिक चरण में आस्ट्रिया के महान मनोविश्लेषक, मनोवैज्ञानिक अलफ्रेड एडलर ने जिस श्रेष्ठता ग्रंथि की चर्चा की है वही आचार्य जी की पूर्णता ग्रंथि है। उन्होंने लिखा है— 'मेरी पूर्णता ग्रंथि ने मुझे बहुत सताया है।" एडलर का मत है कि मानव व्यक्तित्व की समग्र शक्ति एक ही उद्देश्य के लिए अभिप्रेरित रहती है और वह उद्देश्य है श्रेष्ठत्व (सुपीरियारिटी)। सभी मनुष्यों का जीवन पर्यन्त अनवरत प्रयास 'श्रेष्ठत्व' की प्राप्ति ही है। .....व्यक्तित्व का पूर्ण विकास मानव जीवन संबंधी सभी उपलब्धियों एवं अहं स्थापन की कोशिश श्रेष्ठत्व ग्रंथि के कारण ही होता है।[५] वस्तुतः एडलर जिसे श्रेष्ठत्व कहते हैं वह यशः कामना है। जो निष्काम कर्मयोगी और संन्यासी हैं यश उनकी भी कामना होती है। अंग्रेजी में एक कहावत है कि "यश मानव जाति की अंतिम दुर्बलता है।"[६] स्पष्टतः एडलर की जो श्रेष्ठता ग्रंथि है और आचार्य जी जिसे पूर्णता ग्रंथि कहते हैं वह एक प्रकार की निष्काम यशोलिप्सा है। आचार्य प्रवर ने इस हेतु निरंतर प्रयास किया है। और वे आज शिखर पर हैं। उन्होंने अपनी रचना प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए अंत में लिखा है— 'मैं यह भी मानता हूँ कि इस पूर्णताग्रंथि (श्रेष्ठता ग्रंथि, यशो लिप्सा) के कारण हानि ही हुई है। ..... मैं भी चेष्टा यही करता हूँ कि हल्के लेख न लिखूँ।" वस्तुतः जिस पूर्णता ग्रंथि का वे बार-बार उल्लेख करते हैं वह श्रेष्ठता ग्रंथि ही है। श्रेष्ठता की कामना है, यशोलिप्सा है जिसे मूर्त बहिराकार प्रदान करने में वे जीवन पर्यन्त जूझते रहे हैं और इसी अनवरत संघर्ष का प्रतिफल है कि वे एक साथ ही साहित्य और राजनीति में शीर्षस्थ हैं।

आचार्य जी की रचना-प्रक्रिया के मूल कारक, प्रमुख हेतु वही रहे हैं जिन्हें भारतीय काव्यशास्त्रियों ने रेखांकित किया है— प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। किन्तु अपनी रचनात्मक शक्ति का उत्स वे बार-बार अपने परिवेश में खोजते हैं और घोषित करते हैं कि— "मुझे सचमुच सृजन के अनुकूल परिवेश मिला।"

फ्रांसीसी चिन्तक, साहित्यकार एवं आलोचक हिप्पोलित एदोल्फ तेन ने रचना के समग्र एवं समुचित मूल्यांकन के लिए उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में तीन सूत्रों— "लरेस, लिमिल्यू, लिमूमेण्ट" का उल्लेख किया है। लिमिल्यू (सराउंडिंग्स) — अर्थात् परिवेश पर वे बहुत बल देते हैं। उनकी मान्यता है कि मनुष्य के आंतरिक व्यक्तित्व का निर्माण उसका 'मिल्यू' परिवेश करता है और उसी का प्रकाशन बाह्य व्यक्तित्व में होता है।[७] अर्थात् रचनाकार का आंतरिक व्यक्तित्व (जिसका नियामक उसका परिवेश रहा है) रचना का मूल कारक या हेतु है। अपनी रचना-प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए आचार्य जी जिस परिवेश की बात बार-बार उठाते रहे हैं, वह तेन के 'लिमिल्यू' संबंधी अवधारणा के बहुत निकट प्रतीत होती है। दो मनीषियों की विचारधाराओं में जो साम्य दृष्टिगोचर होता है वह साम्य अनायास है। उस पर फ्रांसीसी विचारधारा का कोई प्रभाव नहीं। दो चिंतकों की अवधारणाओं के मध्य चिंतना के धरातल पर एक विचित्र साम्य है। समग्रतः यह कहा जा सकता है कि आचार्य जी की रचना-प्रक्रिया संबंधी अवधारणा का मूलाधार संस्कृत काव्यशास्त्र रहा है। पौर्वात्य परम्परा से वे अभिभूत हैं पाश्चात्य से नहीं।

वस्तुतः रचनाकार की वेदनानुभूति और सृजन-आक्रांत मन की ज्वाला उसे लेखन के लिए विवश करती रही है। सारे महान रचनाकारों के साथ ऐसा हुआ है। आचार्य जी के साथ भी ऐसा ही है। इस संदर्भ में आचार्य जी

श्रीकान्त वर्मा की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं। मैं उन्हीं की बात को पुष्ट करने के लिए अंग्रेजी के प्रमुख स्वच्छंदतावादी कवि पी. बी. शैले की पंक्तियाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ—

We look before and after
And pine for what is not
Our sincerest laughter
With some pain is fraught
Our sweetest songs are those
That tell of saddest thought. ●

संदर्भ संकेत :

1. Power of perceiving the objects of senses. Biographia Literarea : S. T. Coleridge.
2. It's (imagination's) function is to diffuse dissolve and recreate --Ibid.
3. नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
   अमन्दश्चाऽभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः।।
4. Genius is ninety nine percent by perspiration and one percent by inspiration.
5. This final goal towards which all men strive, is superiority which comprises more complete and perfect development, accomplishment, fullfillment and realization of the self. Alfred Adler
6. "Fame is the last infirmity of mankinds."
7. Larace, le milieu, le moment (मूलतः फ्रांसीसी शब्द) ---Race, Surroundings and Epoch.
8. "An inner man is concealed beneath the outer man, the second does but reveal the first." -- Taine.

डॉ० रामेश्वर मिश्र

भक्तिकाव्य के मूल्यांकन में आचार्य शास्त्री का योगदान

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री हिन्दी के वस्तुनिष्ठ आलोचक हैं। किसी साहित्यकार या उसकी कृति के मूल्यांकन में उसकी रचनाओं को वे विशेष महत्त्व देते हैं। मूल्यांकन के संदर्भ में उनकी निजी विचार-सरणी का पता अवश्य चलता है किन्तु कहीं भी वे रचनाकार या उसकी रचना पर उसका आरोप नहीं करते। आचार्य शास्त्री की आलोचना की दूसरी विशेषता यह है कि किसी भी विषय पर लिखने के पूर्व वे पूरी तैयारी कर लेते हैं। किसी भी समस्या पर विचार करने के पूर्व उसके समस्त बिंदुओं— पक्ष-विपक्ष को स्वयं समझ लेना चाहते हैं तथा पाठकों को भी उससे पूर्णतः अवगत कराते चलते हैं, उसके बाद क्रमशः तर्क एवं प्रमाण सहित अपनी बात प्रस्तुत करते हैं। इस क्रम में भ्रमपूर्ण स्थापनाओं का वे जोरदार खंडन करते हैं। किसी अधिकारी विद्वान द्वारा कही गयी है इसलिये वे उसे आँख मूँद कर मान नहीं लेते, उसकी पूरी तरह परीक्षा करते हैं। हिन्दी के भक्तिकाव्य के मूल्यांकन में भी आचार्य शास्त्री की इन्हीं विशेषताओं के दर्शन होते हैं। आचार्य शास्त्री ने भक्तिकाल के प्रमुख कवियों— कबीरदास और तुलसीदास की विशेषताओं का यथार्थ मूल्यांकन किया है। तुलसीदास पर उनके निबंधों का स्वतंत्र संकलन है— 'तुलसी के हिय हेरि' (संवत् २०४६)। इसके अतिरिक्त उनके संग्रह ग्रंथों— 'कुछ चन्दन की कुछ कपूर की'(१९७१ ई०) तथा 'चिन्तन मुद्रा' (सम्वत् २०३४) में भक्तिकाल तथा तुलसी और कबीर विषयक उनके लेख भी संकलित हैं।

हिन्दी साहित्य के कालविभाजन और नामकरण के संदर्भ में विद्वानों में मतभेद रहा है, किन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सगुण-निर्गुण विभाजन को अधिकांश विद्वानों ने मान लिया है। इसी प्रकार कबीर, दादू, नानक आदि निर्गुणियाँ साधक कवियों के लिये 'संत' शब्द रूढ़ हो चला है। डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के शोधग्रंथ 'द निर्गुण स्कूल ऑव हिन्दी पोएट्री' (१९३६ ई०) के कारण 'निर्गुण' तथा पं० परशुराम चतुर्वेदी के बृहत् ग्रंथ 'उत्तरी भारत की संत परंपरा' (१९५० ई०) के कारण 'संत' शब्द विशेष अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ने 'भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य की उपधाराओं के नामकरण पर पुनर्विचार' शीर्षक लेख (चिन्तन मुद्रा) में हिन्दी साहित्येतिहास में निर्गुण-सगुण तथा संत-भक्त के मान्य विशेष अर्थ के औचित्य पर व्यापक रूप से विचार किया तथा वस्तुस्थिति को सप्रमाण स्पष्ट किया। आचार्य शुक्ल के कारण भक्तिकाल को निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति में विभाजन की परंपरा चल पड़ी। शुक्ल जी ने ऐसा क्यों किया ? शास्त्री जी ने इसके कारणों की ओर ध्यान दिलाया है। उनकी दृष्टि में पहला कारण यह है कि आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते समय उसकी प्राचीन प्रवृत्तियों का निरूपण प्रायः परंपरा-प्राप्त शब्दों के आधार पर किया था। उन प्रचलित शब्दों की अलग से व्याख्या करने की जरूरत उन्होंने नहीं समझी। उदाहरण के लिए रीतिकाल, रीतिकाव्य, रीतिग्रंथ आदि का धड़ल्ले से प्रयोग करते हुए भी उन्होंने बहुधा प्रयुक्त 'रीति' शब्द के विशिष्ट अर्थ का स्पष्टीकरण नहीं किया। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० नगेन्द्र आदि विद्वानों ने बाद में यह साफ किया कि हिन्दी के उत्तर-मध्यकालीन साहित्य में 'रीति' का प्रयोग 'काव्य की रीति' अथवा 'कवित्त रीति' के संक्षिप्त पद के रूप में हुआ है, संस्कृत

साहित्य के रीति संप्रदाय या रीति के व्यापक अर्थ से इसका संबंध जोड़ना अनुचित है। आचार्य शास्त्री की दृष्टि में आचार्य शुक्ल ने निर्गुण-सगुण शब्द का प्रयोग भी इसी प्रकार प्रवृत्ति निरूपण के अर्थ में किया। दूसरी बात यह है कि निर्गुण और सगुण शब्द उस काल के साहित्य में बहुत अधिक प्रयुक्त हुए हैं, कभी-कभी उनका प्रयोग भक्ति-साधना के अंतर्गत प्रतिद्वंद्वी के रूप में उभरने वाली दो विचारधाराओं के बोधक शब्दों के रूप में भी हुआ है और कभी उनमें समन्वय स्थापित करने की भी चेष्टा की गयी है। इस संदर्भ में कबीर और तुलसी की पंक्तियों को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करते हुए शास्त्री जी कहते हैं— 'अतः इन दोनों शब्दों का आधार ग्रहण कर भक्तिकाल का उपविभाजन करना यदि शुक्ल जी को संगत प्रतीत हुआ तो इसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।'[7]

डॉ० बड़थ्वाल ने कबीर आदि संतों के लिये प्रयुक्त 'निर्गुण' शब्द की सीमा को समझते हुए भी इसी का प्रयोग किया क्योंकि इससे अधिक उपयुक्त शब्द उन्हें नहीं मिले— ".....किन्तु इससे अधिक उपयुक्त शब्द के अभाव में मुझे इसी का प्रयोग करना पड़ रहा है, क्योंकि इसके लिए परंपरागत व्यवहार का समर्थन प्राप्त हो चुका है और जान पड़ता है कि कबीर आदि ने इसे ग्राह्य समझ कर स्वीकार भी कर लिया था। फिर भी इतना स्मरण रखना चाहिए कि इन सुत्रों को भी हम सगुणोपासना के स्थूल रूपों जैसे मूर्तियों तथा अवतारों के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करने के कारण ही निर्गुण कह सकते हैं।" पं० परशुराम चतुर्वेदी ने ही सर्वप्रथम कबीर, दादू आदि के लिये 'निर्गुण' शब्द के स्थान पर 'संत' शब्द को चलाने की सलाह दी। उनकी दृष्टि में "कबीर आदि के मत के लिए 'निर्गुण पंथ' का प्रयोग करना अनुचित है क्योंकि 'निर्गुण पंथ' शब्द से व्यक्त होता है कि इसके अनुयायी परम तत्त्व को केवल 'निर्गुण' ही मानते थे, जो इस प्रसंग में वास्तविकता के विरुद्ध जाता है। ..... जान पड़ता है कि 'निर्गुण पंथ' शब्द के प्रयोग पहले सगुणोपासक भक्तों के संप्रदायों से इसकी विभिन्नता दिखलाने के लिए होने लगा था। किन्तु पीछे संत-परंपरा के कुछ दिन चल निकलने पर 'संत मत' शब्द का ही प्रयोग संभवतः विक्रम संवत् की १७वीं शताब्दी के किसी चरण में विशेष रूप से होने लगा।" पं० चतुर्वेदी ने 'उत्तर भारत की संत परंपरा' में इस प्रकार के विचार व्यक्त किये। पं० चतुर्वेदी जैसे संत साहित्य के मर्मज्ञ और अधिकारी विद्वान के इस मत का अनुसरण करते हुए हिन्दी में 'निर्गुण संप्रदाय' को 'संत साहित्य' कहने की परंपरा चल पड़ी। आचार्य शास्त्री इस परंपरा का ब्यौरा देते हुए कहते हैं— "इस क्षेत्र में हिन्दी आलोचना की वर्तमान स्थिति से उसके पाठकों के मन में केवल यही संस्कार नहीं पड़ता कि रैदास, कबीर, नानक, दादू आदि संत हैं और सूरदास, नंददास, तुलसीदास, नाभादास आदि भक्त हैं, बल्कि यह भी लगता है कि कबीर, नानक आदि को संत कहना जैसे कोई गलत काम करना है, अपना अनाड़ीपन जाहिर करना है।"[8] आचार्य शास्त्री 'निर्गुण पंथ' और 'संत मत' दोनों संज्ञाओं को ही कबीर आदि की विचारधारा के लिये उपयुक्त नहीं मानते। पं० चतुर्वेदी ने जिन कारणों से निर्गुण पंथ को संत मत कहना चाहा उसकी आचार्य शास्त्री ने पूरी तरह छानबीन की तथा उन्हें निराधार पाया। इस संबंध में पं० चतुर्वेदी ने दो तर्क दिये थे। एक तो यह कि मराठी में निर्गुणिया साधकों को संत कहने की परंपरा थी दूसरा यह कि संत तुलसी साहब के समय से 'निर्गुण' के स्थान पर 'संत' शब्द का प्रयोग होने लगा था। बाद में राधास्वामी सत्संग के महात्माओं ने भी 'संत मत' का बहुल प्रयोग किया। आचार्य शास्त्री ने प्रो० रानाडे, महामहोपाध्याय दत्तो वामन पोतदार तथा डॉ० विनयमोहन शर्मा के साक्ष्य के आधार पर यह बताया कि मराठी में संत शब्द किसी संप्रदाय के अनुयायियों के लिए रूढ़ नहीं हुआ था— "अतः मूल ही गलत होने के बाद चतुर्वेदी जी की यह स्थापना नहीं मानी जा सकती कि अनेक बातों में विट्ठल वारकरी संप्रदाय के संतों के समान होने के कारण, उत्तरी भारत के कबीर साहब तथा अन्य ऐसे लोगों

का भी पीछे वही नामकरण हो गया।' वास्तविकता यही है कि संत और भक्त को अलगाने की भ्रांतिपूर्ण चेष्टा हिन्दी में भी बहुत अर्वाचीन है। कबीर, नानक, सूर, तुलसी आदि ने संत और भक्त का प्रयोग करीब-करीब पर्यायवाची शब्दों की तरह किया है और दोनों के प्रति समान आदर व्यक्त किया है। अपने और अपने अनुयायियों के लिए इन दोनों शब्दों का प्रयोग करने में वे गौरव का बोध करते थे।"[३] पं० चतुर्वेदी द्वारा प्रस्तुत तुलसी साहब तथा राधास्वामी सत्संग के मूल प्रवर्तक शिवदयाल के साक्ष्य के संबंध में आचार्य शास्त्री का यह तर्क है कि "विक्रम की उन्नीसवीं - बीसवीं शताब्दी में पल्लवित होने वाले दो संप्रदायों द्वारा एक विशेष अर्थ में स्वीकृत नाम को विक्रम की चौदहवीं, पंद्रहवीं, सोलहवीं शताब्दी में विकसित होने वाले भक्ति आन्दोलन की एक विशेष धारा के लिए रूढ़ कर देना कहाँ तक उचित है ? यह तो वैसी ही बात है जैसे महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रवर्तित आर्य समाज का आधार ले कर मूर्तिपूजा को न मानने वाले ऋषियों को 'आर्य' (बल्कि आर्यसमाजी!) कहा जाये और मूर्तिपूजक ऋषियों को 'आर्य' बिरादरी से बहिष्कृत कर देने की घोषणा कर दी जाये।"[४]

इस प्रकार आचार्य शास्त्री ने भक्तिकालीन हिन्दी साहित्यालोचन में प्रचलित 'संत' और 'भक्त' विषयक भ्रांत धारणाओं के निराकरण का प्रयास किया तथा उन्होंने स्पष्ट रूप से अपना मत प्रस्तुत किया कि "हिन्दी साहित्येतिहास-लेखन एवं आलोचना में पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में प्रचारित भ्रांति से चिपके रह कर समग्र भारतीय परंपरा से अलग अपनी डफली बजाने की गलती दुहराते रहने का कोई युक्तिसंगत आधार मैं नहीं देख पाता। अतः मेरा प्रस्ताव है कि साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में केवल कबीर आदि को ही 'संत' कहना, उनके साहित्य को 'संत-साहित्य', उनकी परंपरा को ही 'संत-परंपरा' मानना हमें बंद करना चाहिए। संप्रदाय-विशेष के अनुयायी यदि अपने सीमित क्षेत्र में ऐसे प्रयोग करना चाहें तो खुशी से करें किन्तु व्यापक साहित्यिक क्षेत्र में इन भ्रामक प्रयोगों से समीक्षकों को विरत होना ही चाहिए।"[५] आचार्य शास्त्री की दृष्टि में मध्ययुग में सामान्यतः निर्गुण और सगुण शब्द निराकार और साकार के वाचक हो गये थे अतः हम कबीर, नानक आदि को व्यवहारतः सगुण-निराकारवादी तथा सूर, तुलसी को सगुण-साकारवादी कह सकते हैं। भक्तिकाल की निर्गुणधारा एवं सगुणधारा को क्रमशः निराकारधारा और साकारधारा कहना अधिक संगत है। आचार्य शुक्ल द्वारा किये गये निर्गुण धारा की दो शाखाओं के नामकरण 'ज्ञानाश्रयी' और 'प्रेमाश्रयी' से भी शास्त्री जी सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार निराकार भक्तिधारा को 'समन्वयी' एवं 'सूफी' इन दो शाखाओं में बाँटा जा सकता है— "सूफी भक्तिकाव्य या उसका संक्षिप्त रूप सूफी काव्य तो बहुप्रचलित प्रयोग है ही, इसलिए उसके संबंध में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। कबीर, नानक, दादू आदि को समन्वयी भक्त कहना इस तथ्य की स्वीकृति मात्र है कि अद्वैत वेदांत, सिद्धमत, नाथपंथ, वैष्णव साधना, तसव्वुफ एवं इस्लाम के सारतत्त्व को ग्रहण कर उन्होंने अपनी समन्वित भक्तिसाधना प्रवर्तित की थी।"[६]

आचार्य शास्त्री ने जिस प्रकार हिन्दी साहित्य में प्रचलित सगुण-निर्गुण तथा संत-भक्त के भेद को स्वीकार नहीं किया है उसी प्रकार कबीर और तुलसी के तथाकथित विभेदों को विशेष महत्त्व न देते हुए उनके आंतरिक साम्य की चर्चा विशेष रूप से की है। 'कबीरदास और तुलसीदास का आंतरिक साम्य' शीर्षक आलेख (तुलसी के हिय हेरि' में संकलित) में उन्होंने कबीर और तुलसी के आंतरिक साम्य की चर्चा करते हुए दोनों को सच्चे भक्त के रूप में प्रतिपादित किया है। कबीर और तुलसी के संबंध में प्रचलित धारणाओं की पड़ताल करते हुए शास्त्री जी लिखते हैं— "कबीर और तुलसी का विरोध इतना अधिक उछाला गया है कि दोनों दो विरोधी खेमों के नायक प्रतीत होते हैं, एक ही धारा के वैविध्य के उन्नायक नहीं। कुछ क्षेत्रों में कबीर-तुलसी को सराहने-कोसने में जितना

उत्साह दिखाया जाता है, उतना यदि उनको समझने में भी दिखाया जाता तो, शायद ऐसा न होता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर-तुलसी की सामाजिक दृष्टियाँ एक दूसरे से कहीं-कहीं टकराती हैं, उनकी साधनिक दृष्टियों में थोड़ा अन्तर है, किन्तु यह अपेक्षाकृत रूप से बाह्य वैषम्य उन दोनों के उस आन्तरिक साम्य के समक्ष गौण है, जिसकी समन्वित चर्चा बहुत कम की गयी है।"[३]

बहुधा कबीर को क्रांतिकारी तथा तुलसी को प्रतिक्रियावादी रूप में प्रस्तुत किया जाता है। तुलसी के समर्थक प्रगतिशील विचारक भी तुलसी की प्रशंसा उनके लोकनायकत्व, पारिवारिक आदर्श, सामाजिक मंगल विधान आदि के लिये करते हैं। तुलसी की भक्ति उनके लिए उच्चकोटि का मानवतावाद या लोकवाद ही है। इसी प्रकार कुछ आलोचकों की दृष्टि में तुलसी ने कबीर के 'राम नाम का मरम है आना' का करारा जवाब देते हुए सगुण-साकार दशरथ-सुत राम की प्रतिष्ठा की है। इस प्रकार निर्गुण-सगुण के समर्थक के रूप में कबीर और तुलसी के विरोध की चर्चा की जाती है। आचार्य शास्त्री कबीर और तुलसी के इस विरोध को ऊपरी विरोध मानते हैं। इस संबंध में आचार्य शास्त्री का स्पष्ट कथन है कि "मैं यह तो मानता हूँ कि प्राचीन कवियों और उनकी कृतियों को आधुनिक दृष्टियों की कसौटी पर भी कसना चाहिए, इससे उनके नये पहलू उजागर होते हैं; किन्तु ऐसा करते समय उनकी मूलभूत निष्ठा को विस्मृत कर देना उचित नहीं है। ऐसा हुआ तो हम अन्तरंग की उपेक्षा कर बहिरंग को ही प्राधान्य दे देंगे। आखिर इस पर तो विचार करना ही चाहिए कि कबीर और तुलसी बुनियादी तौर पर क्या थे ? क्या उनकी पहली पहचान समाजसुधारक, लोकनायक आदि हो सकती है ? सच्चाई यही है कि कबीर और तुलसी दोनों मूलतः और प्रथमतः भक्त थे, दोनों परम तत्त्व से अपना सम्बन्ध निष्काम प्रेम के द्वारा जोड़ना चाहते थे। दोनों की वास्तविक निकटता या दूरी इसी मुद्दे के ऊपर प्रकट किये गये उनके भावों, विचारों से तै की जा सकती है। मेरा नम्र निवेदन है कि इस क्षेत्र में दोनों में अस्सी प्रतिशत से भी अधिक साम्य है।"[४]

आचार्य शास्त्री कबीर और तुलसी के वैषम्य को आंशिक मानते हैं तथा उसके कारण की ओर भी उनका ध्यान जाता है— "दोनों की सामाजिक साधनिक दृष्टियों में जो आंशिक टकराव है, उसका कारण यह है कि भक्ति को स्वीकार करने के पूर्व दोनों की सामाजिक स्थिति और साधनिक पृष्ठभूमि भिन्न थीं। कबीर सद्यः धर्मान्तरित मुस्लिम जुलाहा कुल में पैदा हुए थे और जाति-पाँति के हृदयहीन अन्याय के खुद शिकार थे। उनके कुल पर और उन पर भी नाथ सिद्धों की साधना का गहरा प्रभाव था। अतः उन्हें विरासत में ईश्वर के साकार रूप, अवतार, मूर्तिपूजा, वर्ण व्यवस्था, कर्मकांड आदि का उग्र विरोध प्राप्त हुआ था, उनके अक्खड़ स्वभाव और व्यावहारिक अनुभव ने जिसे और पैना, और आक्रामक बना दिया था। तुलसी श्रुति-स्मृति-पुराण की परम्परा को मानने वाले ब्राह्मण कुल में जन्मे थे। अतः भक्ति के अविरोधी पारस्परिक तत्त्वों के प्रति सहनशील थे। हाँ, उसके जो तत्त्व भक्ति-विरोधी थे, उनका समर्थन उन्होंने नहीं किया है, जाति-पाँत की बाधा को भक्ति के क्षेत्र में उन्होंने भी कतई स्वीकार नहीं किया है।"[५]

आचार्य शास्त्री ने कबीर और तुलसी की रचनाओं से उदाहरण प्रस्तुत करते हुए विस्तारपूर्वक उनके आन्तरिक साम्य की चर्चा की है। कबीर और तुलसी में उन्हें निम्न बिंदुओं पर अभेद दिखायी पड़ता है—

१. परम तत्त्व के परात्पर निर्गुण निराकर तथा सगुण निराकार विभावन कबीर और तुलसी दोनों को मान्य हैं। २. कबीर और तुलसी दोनों मानते हैं कि प्रभु राम में असंख्य गुण हैं। ३. कबीर और तुलसी दोनों ने एक स्वर से घोषित किया है कि राम की भक्ति ही मानव जीवन का चरम साध्य है। ४. इन दोनों भक्तों ने भक्ति को किसी विशिष्ट सम्प्रदाय, दर्शन या विधि-विधान से नहीं बाँधा है। ५. भक्ति की आधारभूत विशेषताएँ भी दोनों की दृष्टि

में एक सी हैं। भक्ति राम के प्रति निष्काम अहेतुक प्रेम है, लौकिक विषयों की बात तो जाने ही दीजिए, मुक्ति या बैकुंठ की कामना भी भक्ति को मलिन करती है।

इस संबंध में शास्त्री जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "कबीर और तुलसी भक्तिरूपी एक ही मूल की दो शाखाएँ हैं। दोनों में निश्चय ही अपनी-अपनी विशिष्टताएँ हैं, जिन्हें कोई चाहे तो भिन्नताएँ कर ले, पर उनके आधार पर उनके मूलभूत साम्य को नकारना गहरी भ्रान्ति को प्रचारित करना है।"[१०]

कबीर और तुलसी के मूल्यांकन में आचार्य शास्त्री उनकी भक्ति को ही मूल आधार बनाते हैं। कबीर या तुलसी की भक्ति को केन्द्र में न रख कर उनका मूल्यांकन करने पर भ्रांति की संभावना रहती है तथा आलोचक उनके मूल्यांकन में न्याय नहीं कर पाते और अपनी दृष्टि को कबीर और तुलसी पर आरोपित करते हैं। ऐसी आलोचना में आलोचक या उसकी खास विचारधारा ही मुख्य हो जाती है, कबीर और तुलसी के विचार गौण हो जाते हैं।

कबीर-मूल्यांकन के संदर्भ में आचार्य शास्त्री के दो महत्त्वपूर्ण निबंधों की चर्चा आवश्यक है। एक है 'भारतीय संस्कृति में कबीर का योगदान' ('कुछ चन्दन की कुछ कपूर की' में संकलित) तथा दूसरा है 'कबीरदास के मूल स्वरूप पर पड़े आवरण'[११] कबीर को रहस्यवादी कवि कहने की परंपरा चल पड़ी है जिससे आचार्य शास्त्री सहमत नहीं हैं। उनकी दृष्टि में "कबीर को रहस्यवादी कह कर हिन्दी के आलोचकों ने प्रायः उन्हें सगुण भक्तिधारा के कवियों से अलगाना चाहा है। यह प्रयास हास्यास्पद है। पश्चिमी विचारकों की दृष्टि में न केवल कबीर, दादू, नानक आदि रहस्यवादी हैं, बल्कि सूर तुलसी भी रहस्यवादी हैं। अतः रहस्यवाद का एक सीमित अर्थ कर कबीर को रहस्यवादी कहने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। फिर विदेशी भावापन्न शब्दों का प्रयोग अपनी साधना पद्धतियों के लिए करना हमारी दृष्टि में मानसिक दासता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कबीर की निर्गुण कान्ता भक्ति को भावात्मक रहस्यवाद और योग साधना को साधनात्मक रहस्यवाद कहना उन्हें अपने देश में ही अपरिचित बनाना है। यह गड्डलिकाप्रवाह अब बन्द होना चाहिए।"[१२]

आचार्य शास्त्री कबीर की कान्ताभाव की भक्ति को भारतीय संस्कृति को एक विशिष्ट देन मानते हैं। 'कबीरदास के मूल स्वरूप पर पड़े आवरण' शीर्षक महत्त्वपूर्ण आलेख में आचार्य शास्त्री ने कबीरदास की मूल्यांकन परंपरा का सर्वेक्षण करते हुए उनके मूल स्वरूप– अर्थात् भक्त कबीर की विशेषताओं को रेखांकित किया है तथा उपनिषदों एवं गीता के साक्ष्य के आधार पर यह बताया है कि उनकी भक्ति पूर्णतः भारतीय परंपरा में है– "कबीर की कथन-भंगिमा उनकी अपनी प्रतिभा की देन है, उपदेश की विषय-वस्तु मुख्यतः उन्होंने अपने अनुभव से एवं वेदान्त, योग और वैष्णव साहित्य से प्राप्त की है, उन पर इस्लाम और सूफी साधना का प्रभाव हाशिये तक ही सीमित है। रचना शैली अपभ्रंश काव्यधारा से उन्हें मिली है। दोहा और पद तो अपभ्रंश की देन हैं ही, रमैनी भी बहुत कुछ पद्धड़ियाबन्ध का विकसित रूप है।"[१३]

आचार्य शास्त्री ने सूफी साहित्य की विशेषताओं का भी समुचित विवेचन किया है। 'इस्लाम भारतीय संदर्भ में : हिन्दी के सूफी कवियों द्वारा प्रदर्शित मार्ग' शीर्षक आलेख ('चिन्तन मुद्रा' में संकलित) में उन्होंने इस बात की विवेचना की है कि मध्ययुग में हिन्दी के सूफी कवियों ने इस्लाम के भारतीयकरण का ऐतिहासिक प्रयास किया है। शास्त्री जी की दृष्टि में इस्लाम के भारतीयकरण का अर्थ इस्लाम के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते हुए भारत के प्रति अकृत्रिम प्रेम, सर्वोपरि निष्ठा रखना है और इन सूफी कवियों ने इन दोनों तत्त्वों को अपनी रचनाओं में जिस सहज

भाव से समन्वित किया है वह सचमुच प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है। सूफी प्रेमकथाओं का प्रणयन सूफी भक्तों ने मुख्यतः सूफी प्रेम साधना की महिमा का प्रचार करने के लिए किया था किन्तु इसी प्रक्रिया में उन्होंने मुसलमानों के हृदयों में हिन्दू जीवन के प्रति अनुराग एवं सद्भाव भी उत्पन्न किया। शास्त्री जी सूफी कवियों की एक महत्वपूर्ण देन यह मानते हैं कि –"इन्होंने इस्लाम की धार्मिक शब्दावली को हिन्दू धर्म की प्रचलित शब्दावली के सहारे हिन्दी में रूपांतरित कर दिया। अल्लाह और खुदा के साथ-साथ करतार, अलख निरंजन, सर्वव्यापी का भी प्रयोग उन्होंने किया है, नूरूलमहम्मदिया को ज्योतिप्रकाश, विहिश्त को कैलास, कुरान शरीफ को पुराण, रसूल को बसीठ तथा इसी प्रकार अन्य बहुतेरे प्रयोगों द्वारा इस्लाम को सचमुच भारतीय वेशभूषा उन्होंने पहना दी है।"[१४]

मध्ययुगीन कवियों में तुलसीदास आचार्य शास्त्री के विशेष रूप से प्रिय कवि हैं। 'तुलसी के हिय हेरि' इनके तुलसी विषयक लेखों का संग्रह है जिसमें तुलसीदास एवं उनके साहित्य के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। इस संग्रह के पहले आलेख 'आधुनिकता की चुनौती और तुलसीदास' में शास्त्रीजी ने तुलसीदास की प्रासंगिकता का विवेचन करते हुए उन्हें भारतीय संस्कृति के सबसे बड़े सर्जनात्मक पुनर्व्याख्याकार के रूप में प्रस्तुत किया है तथा तुलसीदास को संरक्षणशील, परंपरावादी अर्थात् अपरिवर्तनवादी मानने वाले मत का तर्कपूर्ण खंडन किया है। शास्त्री जी की दृष्टि में परंपरा के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी तुलसीदास ने उसमें कितने परिवर्तन कर दिये थे, यह देखकर आश्चर्य होता है— "तुलसी की अपनी 'समुझि' ने उनके अपूर्व शील पर बल दिया जिसके फलस्वरूप वे मानव मात्र की – चरम उपेक्षित जन की भी पीड़ा का निवारण करने वाले, उनके दुःख-कष्ट से विकल हो जाने वाले, उनके लिए अपनी स्वतंत्रता तक को विसर्जित कर देने वाले उनके पराधीन 'नातेदार' बन गये। स्वाभाविक ही है कि तुलसी की रामकथा में न सीता-निर्वासन को स्थान मिल पाया, न शम्बूक-वध को । उसका माध्यम भी देववाणी न रह पायी, लोकभाषा हो गयी। इतिहास साक्षी है कि अपरिवर्तनवादी परंपरा के उस समय के ठेकेदारों ने तुलसीदास का कड़ा विरोध किया था, जाति-पाँति संबंधी उनकी उदारता के कारण, दुरूह ज्ञान-मार्ग एवं पेचीदे कर्मकांड से 'सूधे मन' और 'भोले भाव' वाली भक्ति को श्रेष्ठ ठहराने के कारण, वादमुक्त धर्म समन्वय के कारण। स्पष्ट है कि तुलसीदास का परंपरा-बोध स्थितिशील या जड़ न होकर विकासशील और संग्रह-त्यागवादी था।"[१५]

इस प्रकार हम देखते हैं आचार्य शास्त्री ने भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य के विरोधमूलक और समस्यामूलक बिंदुओं पर अत्यंत तार्किक ढंग से विचार किया है तथा इस संबंध में अपने मौलिक विचार प्रस्तुत करते हुए एक निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास किया है। ●

संदर्भ संकेत :

१. चिन्तन मुद्रा, पृष्ठ ९२, २. वही, पृष्ठ ९४, ३. वही, पृष्ठ ९७
४. वही, पृष्ठ ९८, ५. वही, पृष्ठ १०२, ६. वही, पृष्ठ १०५
७. तुलसी के हिय हेरि, पृष्ठ २५२, ८. वही, पृष्ठ २५३
९. वही, पृष्ठ २५४, १०. वही, पृष्ठ २७७
११. कबीर अनुशीलन – सम्पादक : प्रेमशंकर त्रिपाठी, कलकत्ता, २०००ई.
१२. कुछ चन्दन की कुछ कपूर को, पृष्ठ ८, १३. कबीर अनुशीलन, पृष्ठ ३२६
१४. चिन्तन मुद्रा, पृष्ठ ११४, १५. तुलसी के हिय हेरि, पृष्ठ १३

डॉ. यतीन्द्र तिवारी

'शास्त्री जी के काव्य में बिम्ब-विधान'

आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब विधान को काव्य सृजन प्रक्रिया का अतिविशिष्ट तत्त्व स्वीकारा गया है। कवि समसामयिक परिवेश से बिम्ब को अपने आत्मसत्य से सम्पृक्त कर काव्य बिम्ब के रूप में प्रस्तुत करता है। इसीलिए 'बिम्ब' कविता का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है।

हिन्दी में बिम्ब से तात्पर्य प्रायः चित्र से लिया जाता है, अस्तु बिम्बात्मक या चित्रात्मक को काव्य के लिये प्रमुख तत्त्व माना जाता है, क्योंकि जिस कवि में चित्र विधायिनी शक्ति जितनी मुखर होती है उसकी कविता उतनी ही दीप्त, मनोहारी और आकर्षक हो जाया करती है।

बिम्ब शब्द अंग्रेजी के 'Image' (इमेज) शब्द का पर्याय है। 'Image' का कोषगत अर्थ है मूर्त रूप प्रदान करना, चित्रबद्ध करना, प्रतिच्छादित करना, प्रतिबिम्ब करना आदि।

बिम्बवाद के अग्रणी कवि 'एजरा पाउण्ड' ने काव्य बिम्ब की परिभाषा इस प्रकार दी है "काव्य बिम्ब वह है जो बौद्धिकता और भावनात्मक दोनों की ही संश्लिष्ट अभिव्यक्ति एक ही समय में कर देता है।" शास्त्री जी का काव्य बौद्धिकता और भावनात्मकता की ही संश्लिष्ट अभिव्यक्ति है अतः उनके काव्य में बिम्ब-योजना सहज हुई है। डॉ० इन्द्र बहादुर सिंह ने बिम्ब को परिभाषित करते हुए लिखा है "मूलभूत पदार्थ अथवा वस्तु की अनुपस्थिति में परोक्ष रूप से एन्द्रिय तत्त्वों के आधार पर उसका जो शब्द चित्र तैयार किया जाता है उसे बिम्ब कहते हैं।" काव्य में बिम्ब के बारे में डॉ० नगेन्द्र का मत है "काव्य बिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस छवि है जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि बिम्ब में रचनाकार की कल्पनाशक्ति और प्रस्तुत की छवि का समावेश रहता है। जिसे इस प्रकार से व्याख्यायित कर सकते हैं :

१. काव्य बिम्ब एक प्रकार की मानस छवि है।

२. यह मानस छवि शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना निर्मित होती है।

३. भाव की प्रेरणा ही से मानस छवि अंकित होती है।

कवि कार्य या धर्म तभी सफल होता है जब वह पाठक के समक्ष दृश्य या विषय का ऐसा सजीव रूप उपस्थित कर दे कि पढ़ने वाले के सामने दृश्यों या विषयों का एक चित्र सा उपस्थित हो जाये और वह यह कहने के लिये बाध्य हो जाये कि कवि की सर्जना शक्ति अविकल, चित्र निर्माण में पूर्ण रूप से सक्षम और समर्थ है।

शास्त्री जी के काव्य में विभिन्न प्रकार के बिम्बों का सहज रूप में प्रयोग मिलता है।

दृश्य बिम्ब : इन्द्रियों में चक्षु का स्थान सर्वप्रथम है। दृश्य बिम्ब को चाक्षुष्य बिम्बों की संज्ञा दी गयी है। ये बिम्ब आकृत स्वरूप होते हैं इनका स्वरूप सबसे अधिक स्पष्ट होता है क्योंकि इसके आयाम अधिक मूर्त होते हैं। दृश्य बिम्ब का सजीव चित्रण शास्त्री जी की 'होली' कविता में किया जा सकता है। जिसमें होली के मौसम का वर्णन करते हुए कवि ने पाठक के समक्ष होली के उल्लास का चित्र सा खींच दिया—

"गगरी रस के छलके, होली आयी
छैल छबीली दमके होली आयी
ले प्रेम रंग निकली कान्हा की टोली
कसमस चोली मसके होली आयी"

नाद बिम्ब : वस्तुतः नाद बिम्ब का ही दूसरा नाम श्रव्य बिम्ब है। ध्वनि, छंद, लय एवं तुक आदि से सम्बन्धित व्यापारों से निर्मित बिम्ब श्रव्य बिम्ब कहलाते हैं। ध्वनि बिम्ब के निर्माण में कर्णेन्द्रियों का प्रमुख योगदान होता है। पक्षियों का कलरव, सरिताओं की कल-कल की ध्वनि, आँधी तूफानों का शोर, पशुओं की आवाज तथा मानव ध्वनि श्रव्य या नाद बिम्ब के अन्तर्गत रखे जाते हैं। नाद बिम्ब का प्रयोग शास्त्री जी के काव्य में अल्प मात्रा में किन्तु बड़े ही सुन्दर ढंग से हुआ है। श्रव्य बिम्ब की सहज और सफल अभिव्यक्ति कवि ने प्रस्तुत पंक्तियों में की है जिसमें उन्होंने ध्वनि छंद, लय, तुक सभी का यथोचित समन्वय किया है।

"जाते जाते जो लजीली दे गयी मुस्कान
गूँज सूने में उठी जैसे सुरीली तान।"

स्पृश्य बिम्ब : स्पृश्य बिम्ब में स्पृश्य जन्य संवेदना के समन्वय से बिम्ब का निर्माण होता है। पेशल या कोमल, कर्कश-कठोर आदि विशेषण इस प्रकार के स्पर्श बिम्बों के वाचक शब्द हैं जिनके बिम्बात्मक रूप अति प्रयोग के कारण जड़ बन गये हैं।

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है स्पर्श बिम्ब का सम्बन्ध त्वचा स्पर्शेन्द्रिय से होता है। सरल शब्दों में कह सकते हैं जब किसी वस्तु को स्पर्श अथवा छूने से उसके कोमलतम अथवा कठोरतम रूप का आभास होता है तब वहाँ स्पर्श बिम्ब होता है। जैसे गर्म, ठण्डा, चुम्बन, आलिंगन, खुरदरा आदि।

शास्त्री जी के काव्य में यथास्थान स्पर्श्य बिम्ब का चित्रांकन मिलता है। स्पर्श्य बिम्ब का सुन्दर और उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत पंक्तियों में देखा जा सकता है। यथा—

"आज दूर तुमसे जग ज्वाला में जलते हैं तन मन मेरे
दग्ध हृदय को शीतल कर दे ऐसा कोई पास न मेरे।"

उपर्युक्त पंक्ति में "जलते हैं तन मन मेरे" तथा 'दग्ध हृदय" शारीरिक विशेषण है जिससे स्पर्श्यजन्य संवेदना की अनुभूति स्वयं ही हो जाती है।

उपलक्षित बिम्ब : उपलक्षित बिम्ब कल्पना और स्मृति पर आधारित होता है। अप्रस्तुत विधान ही उसका आधार होता है अर्थात् लक्षित बिम्ब के विपरीत अनुपस्थित का चित्रांकन ही उपलक्षित बिम्ब होता है। प्रस्तुत पंक्ति में कवि ने अप्रस्तुत विधान का आधार लेकर कल्पना और स्मृति के माध्यम से अनुपस्थित का चित्रांकन बड़े ही मार्मिक शब्दों में किया है। यथा—

"देवि! तुम्हारी सुछवि सलोनी
आँखों के आगे छा जाती
रह-रह याद तुम्हारी आती।"

घ्राण बिम्ब : घ्राण बिम्ब को गंध बिम्ब कहते है। विभिन्न गंधों के प्रति पदार्थों के संयोजक से जो बिम्ब विधान किया जाता है, वह घ्रातव्य बिम्बान्तर्गत परिगणित किया जाता है। ये काव्य में अत्यन्त कम मात्रा में पाये जाते हैं विश्व

काव्य में ऐसे उदाहरण एकत्र करना कठिन है। शास्त्री जी ने अपने काव्य में घ्राण बिम्ब के जो प्रयोग किये हैं वे बड़े ही सजीव और स्पष्ट हैं। गंध से सम्बन्धित पदार्थों का सफल चित्रण प्रस्तुत पंक्तियों में किया गया है। यथा—

"फूल सूखा पर अभी तक बास है।"

एक अन्य उदाहरण—

"महकेगा रह-रह जीवन में इस स्मृति का सुरभित चंदन।"

उपर्युक्त दोनों पंक्तियों में 'बास है', 'सुरभित चंदन' के द्वारा घ्रातव्य बिम्ब की सफल योजना प्रस्तुत की गयी है।

सहज बिम्ब : सहज बिम्ब प्रेरक अनुभूति के आधार पर कल्पित किया जाता है। सरल अनुभूति से प्रेरित और निर्मित बिम्बों की योजना में पाठक या श्रोता को बिम्ब ग्रहण करने में किसी विशेष अनुभूति के लिये प्रयास नहीं करना पड़ता है।

शास्त्री जी की लगभग सम्पूर्ण कविताएँ और चतुष्पदियाँ सरल बिम्ब का उत्कृष्ट उदाहरण हैं। अतः शास्त्री जी के काव्य में सहज बिम्ब का प्रचुरता से प्रयोग मिलता है। अपने मन के भावों को शास्त्री जी इतनी सहजता और सरलता से कह देते हैं जैसे कि उन्हें इसके लिये कोई प्रयास ही न करना पड़ा हो। कुछ इस तरह—

तुम्हें देखकर मैंने सुन्दरता को पहचाना
तुम्हें देखकर लगा कि जीवन तो है मुस्काना।

उपर्युक्त पंक्तियों में भाव सरलता से ग्राह्य है। क्योंकि इसमें अनुभवगम्य और सकारण बिम्ब योजना लक्षित है।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् निष्कर्षता : यह कहा जा सकता है कि शास्त्री जी ने अपने काव्य में बिम्ब विधान की सफल योजना प्रस्तुत की है जिससे उनके काव्य का शिल्प विधान और प्रगाढ़ हो गया है।

वस्तुतः शास्त्री जी की कविताएँ शिल्प विधान की दृष्टि से अपना विशिष्ट कौशल रखती हैं। भावानुकूल भाषा अर्थवहन की अद्‌भुत क्षमता रखने के कारण जनग्राह्य हो जाती है। उनका काव्य उनकी सृजनात्मकता का विशिष्ट परिचय है। ●

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री – एक सारस्वत व्यक्तित्व

शास्त्रीजी के व्यक्तित्व के अनेक पक्ष हैं— पर मैं उनके सारस्वत पक्ष से ही निरन्तर सम्बद्ध रहा हूँ। अनुवंशतः उनमें काशी की पाण्डित्य-परम्परा की चेतना संक्रान्त है। परिवेश उनके इर्द-गिर्द आत्मवादी भारतीय सांस्कृतिक प्रकृति का रहा है। सामान्यतः विज्ञान व्यक्तित्व को इन्हीं का गुणनफल मानता है— पर पूर्णतावादी आत्मवाद व्यक्तित्व की सम्भावनाओं को इस गुणा-जोड़ से परे ले जाता है। वे अपने प्राचीनतम वैदिक साहित्य से लेकर देरिदा के विखण्डनवाद तक ज्ञात-अज्ञात भाव से अपने लेखन और प्रवचन के द्वारा सम्पृक्त रहने का आभास कराते रहते हैं। इसके साक्ष्य के रूप में उनकी कृति 'ज्ञान और कर्म' यदि एक तरफ विद्यमान है तो दूसरी तरफ डॉ. शशिभूषण शीतांशु की वह धारणा जो उनकी सद्यः प्रकाशित कृति 'शैली विज्ञान और भारतीय काव्यशास्त्र' में है। इस कृति में उन्होंने शास्त्रीजी की औपनिषदिक निर्वचन प्रक्रिया में शैली विज्ञान के सैद्धान्तिक ज्ञान के बिना ही शाब्दिक व्युत्पत्ति के साथ शैली वैज्ञानिक अन्तर्पाठीयता (Inter-Texuality) को भी सफलता के साथ अनुप्रयुक्त होना बताया है। इससे भी आगे बढ़कर यह कहा है कि उनके निर्वचन में 'विसंरचनावाद' की पूर्व-उत्तर पद वाली श्रेष्ठता-निकृष्टता का देरिदाई खण्डन और उनकी परस्परावलम्बी समतुल्यता तक विद्यमान है। इन सबसे शास्त्रीजी के ज्ञान के क्षितिज के विस्तार की सम्भावना का पता चलता है। इस प्रकार उनका सारस्वत रूप साहित्यिकों के बीच साहित्यिक और दार्शनिकों के बीच एक दार्शनिक का उभरकर सामने आता है।

शास्त्रीजी चिन्तक ही नहीं, सर्जक भी हैं। उनके सर्जनात्मक निबन्धों का संग्रह भी प्रकाशित और चर्चित रहा है। यहाँ मैं केवल उनके 'ज्ञान और कर्म' पर ही कुछ कहना चाहता हूँ।

'ज्ञान और कर्म' ईशावास्योपनिषद् पर दिए गए अट्ठारह प्रवचनों का संग्रह है। यह उपनिषद् यद्यपि देखने में स्वल्पकाय है — पर इसमें अर्थ की परतों की अपरिमेय सम्भावनाएं हैं। श्री अरविन्द तक स्वीकार करते हैं कि उनका सारा चिन्तन इसी उपनिषद् की प्रसूति है। शास्त्रीजी की इस मान्यता से मैं सर्वथा सहमत हूं कि इस क्षेत्र में श्री गुरु की कृपा ही सर्वस्व है। वह जिसे मिल जाय– उसकी प्राज्ञिक सम्भावनाएं प्रगुणित हो जाती हैं। इस प्रवचन में उन्होंने आचार्य शंकर के अतिरिक्त अन्य पारम्परिक वैष्णवाचार्यों तथा विनोबा प्रभृति अद्यतन सन्त विचारकों का भी सहारा लिया है। इससे उनका प्रवचन विविधायामी बन गया है। एक प्रवचनकार जब विभिन्न आचार्यों के चिन्तन का सहारा लेता है तो अन्तर्विरोध की समस्याएं भी उजागर होने लगती हैं– ऐसे में प्रवचनकार जहां एक ओर अनेक चिन्तकों के पक्षों से जिज्ञासु श्रोताओं को अवगत कराता है वहीं वह अपनी दृष्टि से पक्ष-प्रतिपक्ष भी बनाता चलता है।

स्वामिवर्य मधुसूदन सरस्वती शांकर प्रस्थान के अद्वैती ही हैं— "अद्वैत सिद्धि" नाम का उनका ग्रन्थ ही प्रमाण है– पर जब वे कहते हैं — "कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने" – तब वे ज्ञानोत्तरा साध्य-भक्ति के साधक प्रतीत होते हैं। स्वामी करपात्री जी, स्वामी अखण्डानन्द जी— ये सभी सिद्ध पुरुष शांकर प्रस्थान में आस्थावान् होते हुए भी परम भागवत हैं। शास्त्री जी इसी परम्परा में दीक्षित हैं और निष्ठा के साथ उसे जीते भी हैं। उन्होंने अपने

अन्तिम प्रवचन (प्रवचन क्रम १८) में ज्ञानोत्तरा भक्ति (पृष्ठ २६६) स्वीकार की है। उन्होंने माना है कि श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के क्रम से जब 'सोऽहमस्मि' इत्याकारक अखण्ड वृत्ति बनकर स्थिर हो जाती है तब स्वेतर अविद्या-प्रवाह को नष्ट कर अन्ततः ईंधन के अभाव में स्वयं भी 'कतकरजो न्याय' से निवृत्त हो जाती है। कतक नाम की औषधि जल में पड़े हुए मल को नष्ट करने के बाद जैसे स्वयं निवृत्त हो जाती है— फिर केवल निर्मल जल ही रह जाता है— उसी प्रकार यह अखण्ड वृत्ति अपने से भिन्न मल को नष्ट करती हुई स्वयं नष्ट हो जाती है और अन्ततः निर्मल चेतन जैसे स्वरूप-बोध प्रतिष्ठित हो जाता है। यही जीवन-मुक्ति है। कहा है—

"मोक्षोहि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः।"

शास्त्री जी आगे कहते हैं— "साक्षात्कार के बाद भी यह शरीर रहता है और इसकी आवश्यकताएँ भी रहती हैं। इस शरीर की अपनी प्रकृति भी है जो इसको खींचकर इधर-उधर ले जाती है। इस शरीर की (विषयोन्मुखी) प्रकृति मुझ पर हावी न हो जाय, इसलिए ब्रह्मज्ञानी को भी परमात्मा का आश्रय (शरण) लेना चाहिए— प्रार्थना करते रहना चाहिए। ज्ञानोत्तर भक्ति की स्वीकृति है—

"द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक्, जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतद्वैतादपि सुन्दरम्।।"

द्वैत की स्थिति बाँधने वाली होती है— मोह जननी होती है— पर तब तक जब तक ज्ञान नहीं हो जाता। ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भक्ति के निमित्त (भजनीय, भक्त और भक्ति) कल्पित द्वैत, अद्वैत से भी सुन्दर है।" ज्ञानमार्गी शांकर धारा में स्वरूप-बोध हो जाने पर भी अज्ञान के नष्ट हो जाने पर तज्जनित बहुत्व — भी निवृत्त हो जाता है तथापि प्रारब्ध भोग के अन्त तक शरीर और अन्तःकरण आदि सक्रिय रहते हैं — वृत्ति बनती रहती है — पर उस बाधित बहुत्व बोध की वृत्ति चलती रहती है। इसे जीवन्मुक्त की 'बाधितानुवृत्ति' कहा जाता है। अद्वैतवादी मधुसूदन सरस्वती जिस गोस्वामी तुलसीदास की स्तुति करते रुकते नहीं— "आनन्दकाननेऽस्मिन् तुलसी जङ्गमस्तरुः। कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता।।"

वे ही तुलसीदास श्रम-प्राप्त 'ज्ञानदीप' को वासना की बयार से बुझने की सम्भावना व्यक्त करते हुए 'भक्ति-मणि' की पक्षधरता करते हैं। इस पर माया की बयार की एक नहीं चलती— मोह न नारि नारि के रूपा। फलतः उनका पक्ष है कि ज्ञान-दीप के प्रज्वलित हो जाने के बाद भी 'मल' शेष रह जाता है— फलतः 'प्रेम-भगति-जल' से चेतन को स्नान कराना आवश्यक है। कहा गया है— 'प्रेम भगति सर बिनु अन्हवाये। अभिअन्तर मल कबहुँ न जाए।।' गोस्वामी जी का दृढ़ विश्वास है कि यह 'भक्ति' तत्त्व ही है जिससे मल का आत्यन्तिक विच्छेद होता है। इस प्रकार शांकरी धारा के अनुसार शास्त्री जी एक पक्ष प्रस्तुत करते हैं।

गोस्वामी जी इस धारा से हटकर भी कुछ कहते हैं। उनका कहना है कि 'ज्ञानमार्ग' से भिन्न एक 'भक्तिमार्ग' भी है। मधुसूदन सरस्वती ने अपने 'भगवद्भक्ति रसायन' में दोनों मार्गों का अन्तर बताते हुए कहा है कि 'ब्रह्मविद्या' और 'भक्ति' में अन्तर है और यह अन्तर चार आधारों पर है—स्वरूप, साधन, फल तथा अधिकार।[१] द्रवीभावपूर्वक मन की भगवदाकार सविकल्पक वृत्ति 'भक्ति' है।

(१) स्वरूप—जबकि द्रवीभावानुपेत अद्वितीय आत्ममात्र गोचर निर्विकल्पक मनोवृत्ति ब्रह्मविद्या है।

(२) साधन—भगवद्गुणगरिमाग्रन्थनात्मक ग्रन्थ का श्रवण भक्ति में साधन है जबकि तत्त्वमसि आदि वेदान्त महावाक्य का श्रवण ब्रह्मविद्या का साधन है।

(३) फल—भगवद् विषयक प्रेम का प्रकर्ष भक्ति का फल है जबकि सर्वानर्थ मूल अविद्या की निवृत्ति ही ब्रह्मविद्या का फल है।

(४) अधिकार—भक्ति में प्राणिमात्र का अधिकार है जबकि ब्रह्मविद्या में साधन चतुष्टय सम्पन्न परमहंस परिव्राजक का ही अधिकार है।

इन सबके साथ यह कि ज्ञानमार्गी शुष्क अन्तःकरण का होता है जबकि भक्तिमार्गी द्रवशील अन्तःकरण का। मधुसूदन सरस्वती का यह विवेचन गोस्वामी तुलसीदास को समझने में सहायता प्रदान करता है। गोस्वामी जो 'मानस' के उत्तरकाण्ड में ज्ञानमार्ग का निरूपण कर उसकी एक कमजोरी भी बताते हैं और वह यह कि अत्यन्त श्रम से प्रज्वलित ज्ञानदीप विषय-वासना की बयार से बुझ भी सकता है—पर भक्ति-मणि पर उसका कोई असर नहीं पड़ता। गोस्वामी जी कहते हैं— सुनहु भक्तिमणि कै प्रभुताई

* * *

भगति सुतंत्र अवलम्ब न आना। तेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना।।

* * * *

भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा।।

निष्कर्ष यह कि भक्तिमार्ग स्वतंत्र है—वह साधनरूपा भी है और सिद्धिरूपा भी। शास्त्री जी ने भी इस पंक्ति का स्मरण किया है— साधन सिद्धि राम पग नेहू।

अभिप्राय यह कि भक्तिमार्ग स्वतंत्र है—वह ब्रह्मविद्या वाले मार्ग से तटस्थ रहकर अविद्या नाश कर लेता है। यह सही है कि अविद्या-नाश विद्योपलब्धि से ही होगा—पर उसका मार्ग ब्रह्मविद्यामार्ग से भिन्न है। यहाँ भक्ति ही से सबकुछ हो जाता है—अविद्या-नाश के लिए अलग से प्रयत्न नहीं करना पड़ता। वह बिना प्रयास अनुषंगतः नष्ट हो जाती है। 'गीता' की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने कहा है—

भगवद्भक्तियुक्तस्य तत्प्रसादात्मबोधनः। सुखं बन्धविर्मुक्तिः स्यात् इति गीतार्थसंग्रहः।।

भगवद्भक्ति से जो युक्त रहता है उसको भगवान् के प्रसाद से आत्मबोध हो जाता है— फलतः उसे बंधविनिर्मुक्ति बड़ी सरलता से हो जाती है। यह मत श्रीधराचार्य का है। गीता के भक्तिमार्गी व्याख्याकार कहते हैं-

पुरुषः स परः पार्थ ! भक्तया लभ्यस्त्वनन्या।

* * *

भक्त्या त्वनन्या शक्यमहमेवंविधोऽर्जुन।।

यह सब भक्ति का प्रशस्तिपरक अर्थवाद माना जाय या भूतार्थवाद ? इसका निर्णय तो तत्त्वज्ञ आचार्यगण ही कर सकते हैं— पर शास्त्री जी के अन्तिम (१८ वें) प्रवचन से निष्कर्ष यही निकलता है कि मंजिल तो ब्रह्मात्मैक्यभावापन्नता या स्वरूपबोध ही है – पर कहीं कोई जीवनकाल में स्खलन न हो जाय, इसलिए भगवन्-स्मरण करते रहना आवश्यक है। स्मरण के लिए द्वैतभाव की कल्पना अवश्य करणीय है। तत्त्वतः स्मरणीय और स्मरणकर्ता एक ही है—पर ब्रह्मबोध के बाद भी सम्भावित स्खलन से बचने के लिए हरि-स्मरण या हरि-शरण अनिवार्य है। चिन्तन के इस क्रम में भक्ति साध्य भी है या साधन—यह स्पष्ट नहीं होता।

वैष्णवाचार्य भक्ति को भी ज्ञानस्वरूप ही मानते हैं— पर तदर्थ ब्रह्मबोध को आन्तरालिक व्यापार मानते हैं। ऊपर जो श्लोक गीता के (भक्तिपरक) उद्धृत किए गए हैं — उनको दृष्टिगत कर आचार्यों ने कहा है— "इत्यादौ

भगवद्भक्तिर्मोक्षं प्रति साधकतमत्वश्रवणान्तदेकान्तभक्तिरेव तत्प्रसादोत्थज्ञानावान्तरव्यापारमात्रयुक्ता मोक्षहेतुरिति स्फुटं प्रतीयते। ज्ञानस्यावान्तरव्यापारत्वमेव युक्तम्" —अर्थात् गीतोक्त श्लोकों में भगवान् ने स्वयं कहा है कि भगवद्-भक्ति से भगवान् प्रसन्न होते हैं और उनके प्रसाद के फलस्वरूप ज्ञान मिल जाता है, वही ज्ञान अविद्या का निवर्तक हो जाता है। पर यह सब भक्ति-मार्ग में इस तरह अनायास सम्पन्न हो जाता है कि भक्त उसे जानता भी नहीं। भगवान् ने गीता में कहा है— तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।

प्रीतिपूर्वक भजन करने वाले को भगवान् अनायास बुद्धियोग दे देते हैं जिससे भक्त भगवान् को जान जाता है। इस प्रकार साधनरूपा वैधी भक्ति के फलस्वरूप जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है उस भक्त को अनायास अविद्या-नाश रूप फल अनजाने ही मिल जाता है। तुलसीदास जी इसी की पुष्टि में कहते हैं—

भोजन करिय तृपित हित लागी। जिमि सो असन पचवै जठरागी।।

जैसे व्यक्ति भोजन केवल तृप्ति के लिए करता है— पर भीतर प्रज्वलित जठर अग्नि शेष शरीरोपयोगी सारी पाचन-क्रिया सम्पन्न कर देती है— भोजन करने वाले को वह सबकुछ नहीं करना पड़ता— ठीक वही स्थिति यहाँ भक्तिमार्गी भक्त की है। भक्त केवल अपनी शुद्ध वासना की तृप्ति के लिए भजन करता है पर उससे लब्ध भगवत्प्रसाद सबकुछ स्वयं सम्पन्न कर देता है— तदर्थ भक्त को अलग से कुछ नहीं करना पड़ता। इस प्रकार ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग में अन्तर है। शास्त्री जी के विवेचन से स्पष्ट है कि वे भाष्यकार शंकर-सम्मत ज्ञानमार्ग की बात कर रहे हैं जहाँ भक्ति सहायक रूप में है। उपनिषदों में सबकुछ है पर उन्हीं उपनिषदों के निचोड़ के रूप में गाई गई गीता केवल दो ही प्रकार की निष्ठा की बात करती है— ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा। शांकरी दिशा में तिलक जी का मानना है कि चाहे ज्ञान (सांख्य) मार्ग हो या कर्ममार्ग—दोनों का लक्ष्य 'ब्रह्मात्म्यैकभावापन्नता' ही है। शास्त्री जी भी यही मानते प्रतीत होते हैं— भक्ति उसमें सुकरता ला सकती है और उसे बने रहने में सहायक बन सकती है। इस क्रम में भक्ति साध्य नहीं है। ब्रह्मात्म्यैकभावापन्नता स्वरूप-बोध ही है— यह चतुर्थ पुरुषार्थ है— भक्ति के भागवत प्रस्थान में भक्ति पंचम पुरुषार्थ है— प्रेमा पुमर्थो महान् — श्रीमद्भागवत।

सात्त्वत या भागवत प्रस्थान का यह पंचम पुरुषार्थ श्रुतिसम्मत है— तभी तो भक्तिमार्गी गोस्वामी जी अपनी भक्ति को 'श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ' कहते हैं। अस्तु,

इस सन्दर्भ में 'शान्त ब्रह्मवाद' (शंकर सम्मत) के अतिरिक्त एक कश्मीरी 'ईश्वराद्वयवाद' भी है— यह भी अद्वैतवाद ही है— पर है यह 'द्वयात्मक अद्वयवाद' (Two in one) शान्त ब्रह्मवाद में शक्ति (माया) आरोपित है जो ज्ञान-निवर्त्य है, पर ईश्वराद्वयवाद में 'शक्ति' प्रकाशमय परासत्ता का विमर्शात्मक 'स्वभाव' है। निगम एवं आगम — उभयसम्मत इस पक्ष में यही चिदाह्लादमयी शक्ति साध्य-भक्ति है। ज्ञान वस्तु-तंत्र होता है पर उपासना ये भक्ति पुरुष-तंत्र है। ज्ञान तत्त्वस्वरूप के अधीन है जबकि भक्ति स्वयं अधीन तत्त्व को रखती है। रसखान की निम्नलिखित पंक्ति यही कहती है— "ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं।"

तत्त्व भक्ति के वशीभूत है —इसीलिए 'भक्ति' का दर्जा 'ज्ञान' से बड़ा है —फलतः वह पंचम पुरुषार्थ है। कहा गया है— वस्तुनिष्ठं भवेज्ज्ञानं पुरुषतन्त्रमुपासनम्' ज्ञान वस्तुतन्त्र और उपासना पुरुषतन्त्र है।

ईशावास्योपनिषद् में स्पष्ट ही परासत्ता के द्वयात्मक अद्वय रूप का संकेत विद्यमान है। वहाँ परासत्ता का स्वरूप निर्देश करते हुए कहा गया है— तदेजति तन्नैजति

यह परासत्ता 'एजनात्मा' और 'अनेजनात्मा' है — 'स्पन्दात्मा' भी है और 'स्पन्दातीत' भी है। वृषभाश्वन्याय

से समझाते हुए कहा गया है, जैसे—रेखामय एक चित्र ऐसा होता है जिसे एक तरफ से देखा जाय तो वह वृषभ के आकार का दिखाई देता है और दूसरी तरफ से देखा जाय तो अश्व के आकार का प्रतीत होता है। ठीक इसी न्याय से वह माना जाता है कि सृष्टि की दृष्टि से देखा जाय तो वह स्पन्दात्मा है —गतिमय है और प्रलय की दृष्टि से देखा जाय तो अनेजनात्मा, स्पन्दात्मा और अचल है। उसका गतिमय स्वभाव 'विमर्शात्मा शक्ति' कहा जाता है और स्थितिशील रूप प्रकाशमय शक्तिमान् कहा जाता है। परतत्त्व शक्ति और शक्तिमान् का समरस रूप है दोनों का सम्बन्ध 'प्रभा' और 'भानु' का-सा है —जो नाम से भिन्न और स्वरूपतः अभिन्न है। गोस्वामी जी ने सीता और राम को 'प्रभा' और 'भानु' से ही उपमित किया है। कहा गया है— "प्रभा जाइ किमि भानु बिहाई" —मानस।

श्री राम से कृत्रिम सीता का ही वियोग हुआ था —तात्त्विक सीता उनसे अवियुक्त ही रहती है। किसी का स्वभाव किसी से भिन्न कैसे हो सकता है ?

भगवान् भाष्यकार शंकर भाष्यकार के रूप में ज्ञानमार्गी हैं और संन्यासियों के लिए उसका उपदेश देते हैं। संन्यास संसार का त्याग है और त्याज्य को हेय रूप से निरूपित करना ही संगत है। अतः इस धारा में जीवन्मुक्त को संसार की अनुभूति बाधितानुवृत्तिमयी होती है —शास्त्री जी का झुकाव अपने प्रवचन में इसी ओर स्पष्ट है। निगम में संकेतित और आगमों में पल्लवित 'द्वयात्मक अद्वयवाद' का पक्ष स्तोत्रकार आचार्य शंकर ग्रहण करते हैं। वहाँ वे उपासकों की दृष्टि से बात करते हैं। 'प्रपञ्चसार', 'दक्षिणामूर्ति स्तोत्र' तथा 'सौन्दर्य लहरी' के प्रणेता आचार्य शंकर का अद्वयवाद द्वयात्मक ही है। वहाँ विमर्शात्मिका महात्रिपुरसुन्दरी चिदाह्लादमय स्वभाव ही मानी गई है। आचार्य शंकर हमारी संस्कृति के अन्यतम आचार्य हैं। 'प्रपंचसार' पर पद्मपादाचार्य की टीका है— अतः उसके प्रणेता आचार्य शंकर हो सकते हैं —यद्यपि वह पक्ष सर्वानुमोदित नहीं है, परन्तु 'दक्षिणामूर्ति स्तोत्र' के शंकर प्रणीत होने में कोई सन्देह नहीं है और उससे उनके 'द्वयात्मक अद्वयवाद' का प्रतिष्ठित पक्ष सिद्ध होता है। इस पर सुरेश्वराचार्य का 'मानसोल्लास वार्तिक' है। इसके पर्यालोचन से यह स्पष्ट है कि वह षट्त्रिंशतत्त्ववादी आगम के अनुसार ही लिखा गया था। शैवागम के कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी मूल स्तोत्र तथा वार्त्तिक में मिलता है। 'सौन्दर्य लहरी' के विषय में भी यह मत बन चुका है कि वह आद्य शंकराचार्य प्रणीत ही है। 'श्री विद्यार्णव' नामक तन्त्र-ग्रन्थ में आचार्य शंकर तान्त्रिक-मत के प्रवर्तक कहे गए हैं और उसमें तान्त्रिक गुरु परम्परा का उल्लेख भी है। शंकर के परमगुरु गौड़पाद की 'सुभगोदय' नामक तान्त्रिक स्तुति प्रसिद्ध है ही। इस सम्बन्ध में मैं यह कहना चाहता हूँ कि परम्परा में पंचम पुरुषार्थ स्वरूपा जिस साध्य-भक्ति की प्रसिद्धि है —उसका सम्बन्ध इसी द्वयात्मक अद्वयवादी धारा से ही प्रतिपादित है। इस धारा में चिदंश ज्ञानभाव है और (शक्ति) आनन्दांश भक्ति है।

भाष्यकार शंकर द्वारा प्रवर्तित अद्वयवाद की चरमावस्था में भक्ति का स्थान नहीं है। इनके मत से भक्ति द्वैतमूलक है —इसी कारण अद्वैतावस्था में ज्ञानाविर्भाव में इसकी सत्ता नहीं रहती। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह साधनरूपा भक्ति अज्ञानमूलक है। शास्त्री जी ने स्वरूप-बोध के बाद स्खलन की सम्भावना से बचने के लिए जिस शरणागति या भक्ति की बात कही है —वह साध्य-भक्ति नहीं है —पर वह अज्ञानमूलक भी नहीं है —वह भक्ति कल्पित द्वैत की भूमि पर है। पर उसे 'अद्वैतादपि सुन्दरम्' कैसे कहा जाय ? यह तो साध्य-भक्ति ही हो सकती है जिसका उपपादन निगमागम सम्मत द्वयात्मक अद्वयवादी दृष्टि से ही सम्भव हो सकता है। इसी चिन्तधारा में वस्तुतः ज्ञानोत्तरा साध्य-भक्ति बन पाती है। यह अद्वैत भक्ति रूप पदार्थ नित्य है। साधारणतः जिसे हम मोक्ष कहते हैं, वह वस्तुतः इस नित्य-सिद्ध ज्ञान-भक्ति का ही आवरण-भंग जनित समुन्मेष मात्र है। त्रिकदर्शन में इसी को चिदानन्द लाभ अथवा पूर्णाहन्ता चमत्कार रूप में अभिहित किया गया है। भगवान् शंकराचार्य जब उपासना-मार्ग में उतरते

हैं तब परासत्ता के समरस रूप की बात करते हैं —स्वातन्त्र्यात्मा शक्ति को स्वीकार करते हैं —वही आह्लादमयी विमर्शात्मक स्वभाव है —वही साध्य-भक्ति है —कल्पित द्वैत की भूमि में आस्वादयिता, आस्वाद्य और आस्वाद की स्थिति सम्भव है। वहाँ तत्त्वतः अभेद ही है इसीलिए उसे अभेद-भक्ति कहा जाता है। गोस्वामी जी ने भी 'अभेद-भगति' को सर्वोच्च माना है। स्वभाव-बोध के बाद ही 'भाव' और 'प्रेम-भगति' फूट पड़ती है। फिर भी त्रिक्दर्शन के अनुसार शंकराचार्य ने 'षट्पञ्जरिका स्तोत्र' में कहा है—

"सत्यपि भेदापगमे नाथ ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः।।"

अभिप्राय यह कि अभेदावस्था में भी 'मैं तुम्हारा हूँ' — यह भाव रह सकता है। यह धारा दास्य भावात्मक भक्ति के मूल में सदा स्थिति रखती है —पर केवल मूल को ही मानता हो —सो बात नहीं, भक्ति के चरम फल माधुर्य-प्रेम को भी आभास रूप में मानता है —स्वीकार करता है।

निष्कर्ष रूप में यह कि आचार्य शंकर का एक रूप संन्यासियों के लिए ज्ञानमार्ग का है और दूसरा रूप द्रवशील अन्तःकरण वाले शुद्ध वासनामण्डित उपासकों का है। एक का प्रतिपादन उनके भाष्य में है और दूसरे का उनके द्वारा लिखित स्तोत्र ग्रन्थों में है। भक्ति 'ज्ञान' मार्ग में स्खलन से बचने के लिए जीवन्मुक्त को भी साधन रूप में ही करनी पड़ती है परन्तु दूसरी धारा में जीवनमुक्त कल्पित द्वैत की भूमि पर साध्य-भक्ति का आस्वाद पाता है। जैसे अंगुली से अक्षि निकोच करने पर दो चाँद दिखाई पड़ते हैं—चाँद का दो होना बाधित है, पर अनुवृत्ति तो चलती रहती है।

इसी प्रकार ज्ञानमार्ग में संसार, जो अज्ञानजनित है —बाधित होता रहता है —पर बाधित की प्रतीति अनुवृत्त होती रहती है। उपासना मार्ग में —त्रिक्धारा में ऐसा नहीं होता। वहाँ विश्व आत्मशक्ति का ही विस्फार होने से शक्ति-स्वभाव वाला है —चिदाह्लादमय है —पर स्वेच्छया स्वरूप-गोपन करने पर दृष्टि में ही दोष आ जाता है --चेतना पर आणवादि मल छा जाता है —फलतः संसार अन्यथा दृष्टिगोचर होने लगता है। इस धारा में जीवन्मुक्त में अविद्या की आवरण शक्ति हट जाती है पर विक्षेप प्रारब्ध-भोग तक रहती है। शक्तिपात, दीक्षा और उपाय से जब यह मल छँट जाता है तब जीवन्मुक्त को लगता है— "सर्वो ममायं विभवः"

यह सारा प्रसार तो हमारी शक्ति का ही प्रसार है —यह सब हमारे ही अंग हैं —हमसे भिन्न नहीं। 'प्रसाद' जी ने इसीलिए कहा है— कौन कहता है जगत् यह दुःखमय, यह सरस संसार सुख का सिन्धु है।

संसार महाचिति का ही व्यक्त रूप है। इस प्रकार दोनों मार्गों में जीवन्मुक्त का अनुभव अलग-अलग है।

शास्त्री जी भाष्यकार शंकर के ज्ञानमार्ग को दृष्टिगत कर ईशावास्य पर अपना प्रवचन बड़े वैदुष्यपूर्ण ढंग से करते हैं। शीतांशु जी ने तो उनकी व्याख्या या निर्वचन प्रक्रिया में शैली विज्ञान की ही तकनीक नहीं, अपितु देरिदा के विखण्डनवाद का भी आभास पाया है और युक्ति तथा प्रमाण के साथ अपना पक्ष प्रस्तुत किया है। इस प्रकार शास्त्री जी अपनी इस प्रकृति में सर्वथा अभिनन्दनीय हैं। ●

डॉ० रामचंद्र तिवारी

विष्णुकान्त शास्त्री की आलोचना-यात्रा

जीवन के अनेक मोर्चों—सांस्कृतिक-सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक–पर एक साथ सक्रिय विष्णुकान्त शास्त्री हिंदी के एक जाने-माने रचनाकार हैं। यों तो वे कवि भी हैं और उनकी कविताओं का एक संग्रह प्रकाशित हो चुका है किंतु गद्य-लेखन उनकी सर्जनात्मक प्रवृत्ति के अधिक अनुकूल प्रतीत होता है। शास्त्री जी की गद्य-रचनाओं का फलक विस्तृत और वैविध्य-पूर्ण है। उन्होंने आलोचना, संस्मरण, यात्रावृत्त, रिपोर्ताज, डायरी, पत्र आदि के अतिरिक्त अध्यात्म, शिक्षा एवं संस्कृति से सम्बद्ध चिंतनपरक स्फुट लेखन भी किया है। प्रथम खंड में आलोचनात्मक निबंध संगृहीत हैं। द्वितीय खंड में संस्मरण, यात्रावृत्त, रिपोर्ताज, अध्यात्म-चिंतन तथा स्फुट गद्य रचनाओं के साथ ही कुछ कविताओं का भी संचयन किया गया है।

१९५३ से लेकर आज तक लगभग पचास वर्षों की अवधि में, अनेक मोर्चों पर सक्रिय रहते हुए, एक विज्ञ आलोचक के रूप में शास्त्री जी ने जो कुछ और जितना कुछ लिखा है, वह परिमाण में भले ही कम लगता हो, गुणवत्ता की दृष्टि से उसकी उत्कृष्टता संदेह से परे है। लेखक के अनुसार— "मेरे लेखों से भले ही कुछ विद्वान असहमत हों, पर उन्हें हंसकर उड़ाया नहीं जा सकता। निराला की दो पंक्तियां भी मेरे मन में बराबर कौंधती रही हैं— *'भाव जो छलकें पदों पर। न हों हल्के न हों नश्वर।'* मैं भी चेष्टा यही करता हूँ कि हल्के लेख न लिखूँ। कितना सफल हो पाया हूँ, इसका फैसला तो आप ही लोग कर सकते हैं। कहना न होगा कि लेखक के अहसास में दम है और उसके विरोधी भी उसकी विद्वत्ता की कद्र करते हैं।

शास्त्री जी की चुनी हुई रचनाओं के प्रथम खंड में संगृहीत आलोचनात्मक निबंधों में से अठारह में क्रमशः कालिदास, कबीर, सूर, तुलसी, भारतेंदु, प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, दिनकर और सर्वेश्वर का मूल्यांकन किया गया है। चार निबंधों के विवेच्य विषय हैं— 'काव्य का वाचिक संप्रेषण', 'आधुनिक हिंदी कविता और छंद', 'गीत और नवगीत' तथा 'बांग्लादेश की संग्रामी कविता'। दो निबंधों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के आलोचक-व्यक्तित्व का आकलन किया गया है।

शास्त्री जी की आलोचना के दो स्तर हैं। एक स्तर उन सामान्य विशेषताओं का है, जो उनके पूरे आलोचना-कर्म में लक्षित की जा सकती हैं। दूसरा स्तर वह है, जहां वे आलोच्य विषय— कवि हो या काव्य-प्रवृत्ति— में डूबकर उसमें अन्तर्निहित विशिष्ट और व्यतिरेकी मनोदशाओं, जीवन-मूल्यों, वैचारिक मनोभूमियों, मर्मछवियों एवं शिल्पगत बारीकियों का निदर्शन करते हैं। उनके आलोचना-कर्म में प्रवृत्त होने पर ये दोनों स्वर साथ-साथ एक-दूसरे के पूरक बनकर निरंतर सक्रिय रहते हैं।

शास्त्री जी के आलोचना-कर्म की पहली सामान्य विशेषता यह है कि वे आलोच्य विषय से सम्बद्ध समस्त ज्ञातव्य तथ्यों को सामने रखकर पूरी तैयारी के साथ आलोचना-कर्म में प्रवृत्त होते हैं। इसे उन्होंने अपनी पूर्णता-ग्रंथि कहा है। इस ग्रंथि के चलते उनकी आलोचना में अनुशीलन के तत्त्व भी संश्लिष्ट हो गए हैं। पंत, दिनकर, महादेवी और सर्वेश्वर की आलोचनाएं अपवाद हैं। संदर्भ-गर्भत्व इन आलोचनाओं में भी है किंतु वह विविध संदर्भ-

स्रोतों से नीत न होकर लेखक के आलोचक व्यक्तित्व में रचा-बसा और उसका सहज अविभाज्य अंग बनकर सामने आया है। दूसरी विशेषता यह है कि शास्त्री जी का पूरा लेखन संतुलित है। न तो उन्होंने किसी को एकतरफा खारिज किया है, न किसी को आसमान पर चढ़ाया है। आलोच्य कवि या आलोचक की सीमाओं का उल्लेख भी बड़ी विनम्रता और सदाशयता के साथ किया है। उनके वैष्णव संस्कार आलोचना में ज्ञात-अज्ञात रूप में सक्रिय रहे हैं किंतु विशेष बात यह कि निर्णय के स्तर पर उनकी विनम्रता ने कहीं कोई समझौता नहीं किया है। 'निराला' की भक्ति-काव्य संबंधी रामविलास शर्मा, नामवर सिंह और नंदकिशोर नवल की आलोचनाओं को उद्धृत करने के बाद लेखक ने अपना निर्णय इन शब्दों में दिया है— "मैं इन मतों को मार्क्सवादी आलोचना की स्थूलता और विफलता का उदाहरण मानता हूँ।" इससे लेखक की आस्थामूलक दृढ़ता का अनुमान लगाया जा सकता है। शास्त्री जी की आलोचना की तीसरी विशेषता है, निरंतर सक्रिय बुद्धि और हृदय की सहभागिता। यदि बुद्धि आलोच्य विषय के चयन, विश्लेषण, तुलनात्मक परीक्षण और निष्कर्ष-बिंदु तक पहुँचने की दिशा में सक्रिय रहती है तो हृदय उसके साथ सह भाव बनाए रखकर आलोच्य विषय में अंतर्भूत कोमल-कठोर भाव-स्थितियों को धारण करने वाले मर्मक्षणों के उद्घाटन में प्रवृत्त। कहा जा सकता है कि शास्त्री जी की आलोचना में पुरुष और प्रकृति दोनों का स्वर समान भाव से मुखरित है। उनमें समरसता है, प्रतिद्वंद्विता नहीं। हृदय से अनुप्रेरित होकर ही उनकी बुद्धि आलोचना-क्रम में प्रवृत्त हुई है। यह और बात है कि वह भी उनके अंतरतम में संचित संस्कारों से अनुशासित है। शास्त्री जी की आलोचना की चौथी विशेषता यह है कि परंपरा और शास्त्र का आधार लेते हुए भी न तो वह परंपराग्रस्त है, न शास्त्रबद्ध। उनका विश्वास परंपरा की पुनर्व्याख्या में है। इसलिए पुराने कवियों की आलोचना करते समय भी उन्होंने आधुनिक मानसिकता वाले पाठकों का ध्यान रखा है। उन्होंने स्वीकार किया है कि "व्यक्ति को (और देश को भी) सचेत रूप से कुछ नवीन मूल्यों का सहभागी बनकर और उनके प्रतिकूल पड़ने वाली रूढ़ियों का परित्याग कर स्वयं आधुनिक होना पड़ता है, बल्कि होते रहना पड़ता है। आधुनिकता के पीछे वैज्ञानिक-औद्योगिक उपलब्धियों की शक्ति है, उनके बिना कोई राष्ट्र आज के संसार में सम्मानपूर्वक जीवित नहीं रह सकता। अतः पारंपरिक समाजों को भी परंपरा और आधुनिकता के टकराव को एक बड़ी हद तक आधुनिकता के पथ में समंजित करना पड़ता है।" इस प्रकार परंपरा और आधुनिकता में सामंजस्य बनाए रखना शास्त्री जी की आलोचना की एक सामान्य विशेषता है। इसी क्रम में पांचवीं महत्त्वपूर्ण विशेषता है, आलोच्य कवियों के परिवेश, समसामयिक जीवन और निजी जीवन के अंतर्विरोधों का उनकी रचनाओं में होने वाले अनुभूत्यात्मक रूपांतरण की समझ और पहचान की क्षमता। यह क्षमता 'दिनकर' की 'उर्वशी' की आलोचना में बहुत साफ उभरकर सामने आयी है। 'उर्वशी' के संबंध में वे अपना मत व्यक्त करते हुए कहते हैं— "यह स्मरण रखना चाहिए कि 'उर्वशी' का रचयिता न शिव-शक्ति के सामरस्य का साधक था, न वज्रयानी युगनद्ध साधना का, न सहजिया वैष्णव संप्रदाय में ही वह दीक्षित था। वह बीसवीं शती के भारत का संवेदनशील समाधीत कवि था और अपने समसामयिक जीवन का ही रूपांतरण कर अप्सरा लोक की सृष्टि कर रहा था।" अपनी बात समाप्त करते हुए वे कहते हैं— "इस अधिरचना की नींव किसी धर्म-साधना पर नहीं, स्वाधीन भारत के उच्चवर्गीय समाज के कामाचार पर स्थित है।" शास्त्री जी के आलोचक की इस क्षमता को हम कमोवेश उनकी सभी आलोचनाओं में लक्षित कर सकते हैं।

शास्त्री जी की आलोचना का फलक विस्तृत है। इसमें संस्कृत के अन्यतम कवि कालिदास हैं, हिंदी के कबीर, सूर और तुलसी जैसे महान भक्त कवि हैं, आधुनिक काल के निराला, पंत, प्रसाद, महादेवी और दिनकर

जैसे प्रख्यात महाकवि तथा आचार्य रामचंद्र शुक्ल और आचार्य नंददुलारे वाजपेयी जैसे दिग्गज आलोचक हैं और इन सबसे अलग आधुनिक कविता से जुड़े हुए कुछ विचारणीय मुद्दे भी हैं।

शास्त्री जी तुलसीदास के काव्यादर्श से बहुत दूर तक प्रेरित और प्रभावित हैं। 'तुलसी के हिय हेरि' पुस्तक की अपनी संक्षिप्त भूमिका में उन्होंने लिखा है— "मेरा अनुभव यही है कि तुलसी साहित्य के अनुशीलन और विवेचन की प्रक्रिया में मेरी मति, रति और कृति पवित्र होती रही है। मुझे लगता है कि आज की सबसे बड़ी सांस्कृतिक व्याधि.... भीतरी खोखलेपन को बाहरी पदार्थों से भरने की निरर्थक चेष्टा.... का निराकरण तुलसी साहित्य में निरूपित जीवन-दृष्टि को अपनाकर किया जा सकता है।" जाहिर है कि श्री शास्त्री की जीवन-दृष्टि और इसीलिए आलोचना-दृष्टि भी, बहुत कुछ तुलसी की जीवनदृष्टि और काव्यादर्श से प्रेरित और प्रभावित है। यह अकारण नहीं है कि शास्त्री जी के आलोचनात्मक निबंधों के इस संग्रह में सात निबंध अकेले तुलसीदास पर हैं। तुलसी की विवेकनिष्ठ सामंजस्यमयी मांगलिक जीवन-दृष्टि की अनुगूंज उनकी आलोचना में जगह-जगह सुनी जा सकती है। आचार्य शुक्ल के 'लोकमंगल' की विस्तृत और वैदुष्यपूर्ण विवेचना करते हुए शास्त्री जी यह कहना नहीं भूलते कि "ऐसा लगता है कि शुक्ल जी इस दिशा में सबसे अधिक ऋणी तुलसीदास के हैं।" कृत्तिवास और निराला की 'राम की शक्तिपूजा' का विस्तृत तुलनात्मक विवेचन करते हुए भी वे तुलसी को नहीं भूलते; महाशक्ति के राम के मुख में लीन होने के संदर्भ पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं— "तुलसीदास ने कुंभकर्ण और रावण के वध के अनंतर उनके तेज का प्रभु आनन में समाना वर्णित किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसी से प्रेरणा प्राप्त कर निराला ने राम के मुख में महाशक्ति का लीन होना दिखाया है।" 'निराला' के उत्तरवर्ती शरणागति काव्य पर विचार करते हुए शास्त्री जी अनुभव करते हैं— "तुलसीदास के माध्यम से निराला ने अपने आदर्श कवि-रूप का अंकन किया है।" 'प्रसाद' की 'कामायनी' का मूल्यांकन करते हुए उनका कहना है— "नारी को श्रद्धा और पुरुष को विश्वास कहना तुलसी की उक्ति 'भवानीशंकरौ बंदे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ' की अनुगूंज है, जो शिव-शक्ति के प्रतीक मनु-श्रद्धा के लिए प्रयोज्य है। इन स्पष्ट कथनों के अतिरिक्त तुलसी-भावित होने के कारण ही उन्होंने पंत पर तुलसी का प्रभाव देखा है और महादेवी की कविता में सामाजिक मंगल के प्रति उनकी आस्था की पहचान की है। शास्त्री जी तुलसी की 'विनयपत्रिका' के गंभीर और तत्त्वदर्शी पाठकों में से एक हैं। उनकी दृष्टि के निर्माण में 'विनयपत्रिका' का योगदान कम नहीं है। संभवतः इसी कारण सूरदास का मूल्यांकन करते हुए उनका ध्यान 'वात्सल्य' और 'श्रृंगार' की ओर न जाकर इस बात की ओर गया है कि वल्लभ संप्रदाय में दैन्य-भाव गृहीत है अथवा नहीं? और उन्होंने सुबोधिनी टीका का हवाला देकर प्रमाणित किया है कि भगवान को तुष्ट करने के लिए एकमात्र साधन भक्तों का दैन्य— 'दीनता' ही है। दैन्य से 'अहंकार' का निरसन होता है और वल्लभ संप्रदाय में दैन्य स्वीकार्य है। इसलिए सूरदास ने दीक्षा-ग्रहण के बाद भी दैन्य के पद अवश्य लिखे होंगे।

शास्त्री जी के आलोचक व्यक्तित्व की दूसरी विशेषता है उनकी मौलिकता की विशिष्ट व्याख्या और उसकी अद्‌भुत परख। तुलसी की 'मौलिकता' की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं— "तुलसी की मौलिकता उनकी इसी समन्वित दृष्टि में है। 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' राम-कथा लिखते समय उनकी मौलिकता उस मकड़ी की तरह नहीं हो सकती थी जो अपने ही पेट से जाला निकालती है। वह उस मधुकर की मौलिकता की तरह है जो विविध पुष्पों से संचित किए गए रस को मधु में बदल देता है।" तुलसी ने यही किया है। उन्होंने परंपरा से प्राप्त राम के 'सर्वगुणोपेत' चरित्र को दीन-दुखियों, निर्बलों, गरीबों, पतितों के अनुकूल उनका सहायक, उद्धारक, करुणाकातर

और मानवीय बनाकर तथा उनके शील को सर्वोपरि महत्त्व देकर नितांत मौलिक बना दिया है। तुलसी के राम की मौलिकता का विस्तृत विवेचन करने के बाद निष्कर्ष रूप में आप कहते हैं— "सच तो यह है कि गरीबों से नाता जोड़ने वाले, ठुकराये हुओं को अपनाने वाले, पतितों को पावन करने वाले राम को जिस प्रकार तुलसी ने उजागर किया, उस प्रकार उनके पहले या बाद किसी दूसरे ने नहीं किया।" पंत काव्य के मूल्यांकन के संदर्भ में उन्होंने पुनः अपने इसी मत को दुहराया है— "कुछ लोग समझते हैं कि जैसे मकड़ी अपने पेट से जाला निकालकर मकड़जाल रचती है, वैसे ही अपने मन से, मस्तिष्क से नई बात निकालने वाला व्यक्ति ही मौलिक है। यह ठीक दृष्टि नहीं है। असंख्य पुष्पों से रस का आहरण करने वाली मधुमक्खी उन समस्त पुष्प-रसों को समाहित कर मधु में परिवर्तित कर देती है। यह मधु उसकी मौलिक सर्जना है कि नहीं?" इस स्थापना के बाद आप निर्णय देते हैं— "मैं मानता हूँ कि सुमित्रानंदन पंत की भूमिका भी मधु मक्षिका की भूमिका है।" आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के समीक्षा-कर्म पर विचार करते हुए शास्त्री जी ने प्रसंगतः आचार्य शुक्ल की मौलिकता की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है— "पूर्ववर्ती समीक्षा के प्रतिमानों की सीमाओं का निर्देश कर पाना अधिक कठिन कार्य था क्योंकि उसके नियंता थे आचार्य रामचंद्र शुक्ल जो न केवल हिंदी के क्षेत्र में बल्कि अखिल भारतीय क्षेत्र में साहित्य-समीक्षा की दृष्टि से अत्यंत मौलिक एवं प्रशस्त कार्य कर गए हैं।" यहाँ आपने 'मधुमक्खी' का उल्लेख तो नहीं किया है किन्तु आगे जो कुछ कहा है उससे ध्वनि मधुमक्खी वाली मौलिकता की ही निकलती है। शास्त्री जी ने कहा है— "काव्य-समीक्षा के उनके प्रतिमान न केवल वाल्मीकि, कालिदास, सूर, तुलसी, जायसी की कृतियों के आधार पर निर्मित हुए थे बल्कि उन पर शेली, कीट्स आदि की कृतियों के अनुशीलन की भी गहरी छाप थी। केवल भरत, मम्मट, विश्वनाथ आदि ही नहीं, मैथ्यू अर्नल्ड एवं रिचर्ड्स आदि भी उनकी दृष्टि के समक्ष थे।" इस कथन का भी निहितार्थ यही है कि आचार्य शुक्ल ने भी अनेक स्रोतों से रस-संचित करके मधुमक्खी की भांति अपने प्रतिमान निर्मित किए थे। जाहिर है कि स्वयं शास्त्री जी की मौलिकता को भी हम इस व्याख्या के आधार पर परख सकते हैं।

शास्त्री जी के आलोचक-व्यक्तित्व की तीसरी विशेषता है, उसकी काव्योन्मुखता। यह सही है कि उन्होंने बहुत कुछ पढ़ा और पचाया है और उनकी आलोचना को उनका वैदुष्य वैचारिक सघनता प्रदान करता है किंतु यह और सही है कि उनके आलोचक को ऊर्जा कविता से ही प्राप्त होती है। उनकी प्रवृत्ति भी कवियों के मूल्यांकन में रमी है। वे सहज मन से स्वीकार करते हैं— "कविता मेरे लिए ऊर्जा का स्रोत रही है। कठिन स्थितियों में भी कविताओं की कुछ पंक्तियाँ कौंधती रही हैं। मुझे कष्ट झेलकर कार्य करने की प्रेरणा देती रहीं हैं। लिखूँ न लिखूँ की मनःस्थिति में श्रीकांत वर्मा की कुछ पंक्तियों ने मुझे बहुत सहारा दिया है। वे मुझे अनायास याद आ रही हैं-

चाहता तो बच सकता था,
मगर कैसे बच सकता था!
जो बचेगा, कैसे रचेगा!!
पहले मैं झुलसा, फिर धधका,
चिटखने लगा,
कराह सकता था,
मगर कैसे कराह सकता था,
जो कराहेगा, कैसे निबाहेगा!!!

जाहिर है कि सृजन-पथ पर अविचलित भाव से निरंतर गतिशील रहने की शक्ति शास्त्री जी ने कविता से ही प्राप्त की है। कविता किसी काल की हो, किसी कवि की हो, उन्हें अपनी ओर खींचती है। यह दूसरी बात है कि उनका पथ स्वतः उस कवि की ओर मुड़ जाता है, जिसकी कविता में प्रेय के साथ श्रेय का समुचित सामंजस्य होता है। कविता से शक्ति प्राप्त कर जीवन और रचना दोनों में सक्रिय होने के कारण शास्त्री जी अपने आलोचना-कर्म में शास्त्र से चलकर काव्य की ओर नहीं आते, काव्य के भीतर ही उन तत्त्वों या आदर्शों का अनुसंधान करते हैं, जिनमें काव्य को अनुशासित करने की शक्ति होती है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है उनकी कालिदास की आलोचना। कालिदास की विरह-व्यंजना पर विचार करते हुए शास्त्री जी अनुभव करते हैं कि विरह ही प्रेम और सौंदर्य की कसौटी है। विरह में प्रेम बढ़ जाता है। वह सौंदर्य, सौंदर्य नहीं है जो प्रिय या प्रिया की अनुपस्थिति में भी प्रिया या प्रिय के मन में प्रगाढ़ स्मृति के रूप में विद्यमान न हो। अज, दुष्यंत, पुरुरवा, यक्ष, रति आदि की प्रेम और वियोग दशाओं का गहरा अनुशीलन करने के बाद शास्त्री जी कहते हैं कि कालिदास का प्रेम 'भाव-निबंधना रति' है। भाव निबंधना रति शरीर के धरातल का अतिक्रमण कर जाती है। शारीरिक सौंदर्य या रूप के सामने न होने पर भी उसकी प्रगाढ़ता में कोई कमी नहीं आती। वस्तुतः कालिदास की दृष्टि में तो शरीर का सौंदर्य, सौंदर्य है ही नहीं। कामदेव को शिव द्वारा भस्म किया जाता हुआ देखकर पार्वती ने अपने रूप की निंदा करते हुए कहा था— *'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता।'* शरीरिक सौंदर्य की व्यर्थता का बोध होने पर ही पार्वती ने तपस्या से शिव को प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय किया था। 'पार्वती' और 'शकुंतला' दोनों के प्रेम पर टिप्पणी करते हुए शास्त्री जी कहते हैं— तपस्या से प्राप्त प्रेम ही मंगलमय होता है। और जब 'प्रेम' कर्त्तव्यबोध में बाधक बनता है, तब वह ऋषि के द्वारा अभिशप्त और स्वामी द्वारा दंडित होता है। शास्त्री जी का पार्वती के संबंध में किया गया निर्णय तो सर्वमान्य है किंतु शकुंतला को जिन परिस्थितियों में जिस प्रकार ऋषि द्वारा शापित और स्वामी द्वारा दंडित किया गया है, वह आधुनिक पाठक को ज्यादती प्रतीत होता है। इस पूरे संदर्भ में शकुंतला पति द्वारा दंडित ही नहीं, कण्व के शिष्य शाङ्गरव द्वारा उपेक्षित और अपमानित भी हुई है। उसने दुष्यंत की राजसभा में शकुंतला से कहा था—

यदि यथा वदति क्षितिपः तथा त्वमसि किं पितुरुत्कुलया।
अथ तु वेत्सि शुचि व्रतमात्मनः पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम्।।

मान लिया कि ऋषि के शाप के कारण राजा दुष्यंत शकुंतला को नहीं पहचान पा रहे थे, किंतु शाङ्गरव तो उसे बचपन से जानता था। उसे शकुंतला पर विश्वास क्यों नहीं था? ऋषि द्वारा अभिशप्त और पति द्वारा दंडित शकुंतला को पिता के घर में भी आश्रय न मिलने की बात आधुनिक पाठक की समझ में नहीं आती। कुछ भी हो, इससे हमारे प्रतिपाद्य में कोई फर्क नहीं पड़ता। हमने इतना ही कहना चाहा है कि शास्त्री जी कविता के भीतर ही प्रतिमानों का अनुसंधान करते हैं। ऐसा उन्होंने कालिदास के संदर्भ में ही नहीं अन्य कवियों के संदर्भ में भी किया है। यह आकस्मिक नहीं है कि उनकी आलोचना की पहली पंक्ति आलोच्य कवि की कविताओं के वैशिष्ट्य-निरूपण से आरंभ होती है और अनेक अवसरों पर वे आलोच्य कवियों की कविताओं को उद्धृत करते हुए अपनी बात आरंभ करते हैं। यह दूसरी बात है कि शास्त्री जी अच्छी और बड़ी कविता में बड़े सांस्कृतिक मूल्यों का होना आवश्यक मानते हैं। बड़े सांस्कृतिक मूल्यों का सृजन एक दिन में नहीं होता। वे किसी जाति या राष्ट्र की दीर्घकालीन तपस्या से निखरकर निरंतर गतिशील रहते हुए उसके उदात्त नैतिक बोध और सौंदर्य-चेतना के अविभाज्य अंग बनकर उसके आचार-विचार में रच-बस जाते हैं। इन्हीं बड़े सांस्कृतिक मूल्यों को दृष्टि में रखकर

जब शास्त्री जी ने कबीर और तुलसी का आकलन किया है तब उन्हें यह अनुभव हुआ है कि दोनों में समानता अधिक और विरोध कम है। कबीर की क्रांतिधर्मिता को बहुत दूर तक स्वीकार करते हुए भी उन्होंने घोषित किया है कि इन दोनों भक्त-कवियों में अस्सी प्रतिशत समानता है। इन्हीं मूल्यों से समृद्ध होने के कारण तुलसीदास शास्त्री जी के सर्वाधिक प्रिय कवि बन गए हैं।

संभवतः शास्त्री जी अकेले आलोचक हैं जो आधुनिकता को एक सीमा तक स्वीकार करते हुए भी परंपरा की ओर से (परंपरावाद की ओर से नहीं) उसे चुनौती देने का साहस भी रखते हैं। तुलसी के स्वर में स्वर मिलाकर वे कहते हैं— "आज तुलसी होते तो जरूर पूछते कि भाई, मानव को सुखी बनाने के लिए वैज्ञानिक उपलब्धियों द्वारा परिवेश को मानव प्रकृति के अनुकूल बनाने चले थे न तुम, अब वैज्ञानिक उपलब्धियों के परिवर्तित और विजित परिवेश के अनुकूल मानव प्रकृति को ढलने के लिए विवश कर उसे क्यों अधिकाधिक दुखी बनाते चले जा रहे हो? *'लिखत सुधाकर गा लिखि राहू'* की भूल क्यों दुहरा रहे हो? मनुष्य की आवश्यकताएं और प्रौद्योगिकी (सुपर टेक्नोलॉजी) की आवश्यकताएँ परस्पर-विरोधी भी हो सकती हैं— असमाधेय होने की सीमा तक, यह तुम क्यों नहीं समझ पाते? तुम हम पर आरोप लगाते हो न कि हम लोगों ने परलोक की चिंता के कारण इहलोक की और अतीत भक्ति के कारण वर्तमान की उपेक्षा की थी, अब तुम लोग अंतरिक्ष-विजय की आतुरता में धरती की और स्वर्णिम भविष्य की रम्य कल्पना के मोह में वर्तमान की उपेक्षा क्यों कर रहे हो ? जिन्होंने ईश्वर को मानने से इनकार किया उन्होंने क्या अपनी पूजा-भावना को भी समाप्त कर दिया? ऐसा नहीं हुआ, ईश्वर के स्थान पर मानव, राष्ट्र, विचारधारा, नेता आदि को पूज्य मानकर उन्होंने व्यावहारिक जीवन-दर्शन गढ़े। क्या उनके परिणाम शुभ रहे? क्या बाहरी हजार परिवर्तनों के बावजूद मूलभूत मानवीय प्रकृति भीतर से करीब-करीब अपरिवर्तित ही नहीं है, और क्या 'अमृतत्व' उसकी तलाश को खारिज कर उसकी पूर्णता का विधान दिया जा सकता है ?"

उपर्युक्त पंक्तियों के साक्ष्य पर कहा जा सकता कि शास्त्री जी की आलोचना-यात्रा मनुष्य की पूर्णता, दिव्यता और अमृतत्व की तलाश में रचे गए साहित्य के महत्त्व और मूल्य के विनम्र स्वीकार की यात्रा है। ●

राम कमल राय

आलोचक आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

प्रस्तुत आलेख में आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के व्यक्तित्व की शालीनता, उसकी सांस्कृतिक सुगन्ध, उसमें निहित चुम्बकीय आत्मीयता, उनके उच्छल हास्य तथा उनकी निपट पारदर्शिता पर लिखने का प्रयास मैं नहीं करने जा रहा हूँ। यद्यपि उनके व्यक्तित्व के इन गुणों से मैं गहराई से परिचित एवम् अभिभूत हूँ। यहाँ मैं उनकी राजनीति की संस्कृति की भी चर्चा नहीं करने जा रहा हूँ, हालाँकि मैं उनके व्यक्तित्व के उस पक्ष से भी गहराई से परिचित हूँ। प्रस्तुत आलेख में मेरा ध्यान साहित्यकार, चिन्तक और मनीषी आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री पर ही केन्द्रित है। एक आलोचक के रूप में, एक संस्मरणकार के रूप में और तत्ववेत्ता मनीषी के रूप में आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री को पहचानना अधिक जरूरी मानता हूँ।

शास्त्री जी कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के आचार्य, पश्चिम बंगाल विधान सभा के प्रखर विधायक, राज्यसभा के भाजपा सांसद और फिर हिमाचल प्रदेश और उ.प्र. के राज्यपाल के रूप में ही अधिक जाने, माने और पहचाने जाते रहे हैं। किन्तु ये सारी पहचान उनके व्यक्तित्व की ऊपरी पर्तें हैं। उनका वास्तविक व्यक्तित्व एक सर्जनात्मक आलोचक, एक संस्पर्शी और संवेदनशील संस्मरणकार और एक तत्त्व-चिंतक का व्यक्तित्व है। एक साहित्यकार के रूप में आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री को जानना, उनसे रू-ब-रू होना, उनकी रचना धर्मिता में अवगाहन करना एक अलग प्रकार का अनुभव है। उस अनुभव में उनके व्यक्तित्व का आन्तरिक रस सहज ही प्रवाहित है।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का आलोचना-संसार विस्तृत है। कालिदास से लेकर सर्वेश्वर तक उनकी आलोचना दृष्टि फैली हुई है। कालिदास की विरह-व्यंजना को रेखांकित करते हुए वे नागार्जुन की एक मर्मस्पर्शी कविता को उद्धृत करते हैं —

"कालिदास, सच-सच बतलाना !/ इन्दुमती के मृत्युशोक से/ अज रोया या तुम रोये थे?/ कालिदास, सच-सच बतलाना/ .....रति का क्रन्दन सुन आंसू से/ तुमने ही तो दृग धोये थे?/ कालिदास, सच-सच बतलाना !/ रति रोयी या तुम रोये थे?/ कालिदास, सच-सच बतलाना !/ पर पीड़ा से पूर-पूर हो/ थक-थक कर औ' चूर-चूर हो/ अमल-धवल गिरि के शिखरों पर/ प्रियवर, तुम कब तक रोये थे?/ रोया यक्ष कि तुम रोये थे?/ ...../ कालिदास, सच-सच बतलाना !"

कालिदास से नागार्जुन तक का यह सेतु और नागार्जुन की पंक्तियों से कालिदास की संवेदना को पहचानने का यह उपक्रम विष्णुकान्त शास्त्री जी के लिए ही सम्भव था। सामान्य आलोचक के लिए तो ये रचना के दो ध्रुवान्त ही बने रहेंगे। किन्तु इससे भी आगे जाँय तो रचना में रचयिता का आत्मरस कितना घुला होता है, इसकी ओर भी इन पंक्तियों में गहरा इशारा है। कालिदास को पूरमपूर पढ़ने वाले, उसमें डूबने वाले आलोचक के रूप में शास्त्री जी को इस दृष्टि से रेखांकित किया जा सकता है कि उन्होंने कालिदास की विरह-व्यथा को पहचानने की अपनी कसौटियाँ प्रस्तुत की हैं। उनका कहना है— "जिस प्रेम को तपस्या के द्वारा प्राप्त नहीं किया जाता वह प्रेम मंगलमय

नहीं होता। वह रूप भी मंगलमय नहीं होता जो तपस्या से परिशोधित न हो। कालिदास के मतानुसार वास्तविक उदात्त प्रिय अरूपाहार्य होता है, रूप के द्वारा उसे भुलाया नहीं जा सकता।"

(विष्णुकान्त शास्त्री चुनी हुई रचनाएँ, खण्ड-१, कालिदास की विरह वेदना, पृष्ठ-३, ४)

इसी प्रकार कालिदास की विरह व्यंजना को समझने की प्रक्रिया में ही आलोचक की दृष्टि सुमित्रानन्दन पंत की निम्न पंक्तियों पर जाती है —

"यह विदेह प्राणों का बन्धन,
अन्तर्ज्वाला से तपता तन।
मुग्ध हृदय सौन्दर्य ज्योति को,
दग्ध कामना करता अर्पण।
नहीं चाहता जो कुछ भी आदान प्राणों से।"

यहाँ फिर यह बात महत्त्वपूर्ण है कि आलोचक का दृष्टि-प्रसार काल की बंधी बंधाई सीमाओं को तोड़ता है और मानवीय संवेदना की शाश्वत् पहचान की ओर अग्रसर रहता है। पन्त ने प्रेम की जिस विदेह सत्ता को इन पंक्तियों में स्वीकारा है, आलोचक की दृष्टि में कालिदास ने भी अज-विलाप के सन्दर्भ में और रति-विलाप के सन्दर्भ में भी देहातीत विरह-व्यंजना को ही रेखांकित किया है। कालिदास के प्रेम की संवेदना में विरह की केन्द्रीय स्थिति को आलोचक ने गहराई से व्यंजित किया 'विक्रमोर्वशीयम्', 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' एवं 'रघुवंशम्' सभी का अच्छी प्रकार अनुशीलन करते हुए आलोचक ने प्रेम और विरह के कोमल और मार्मिक सम्बन्धों का निदर्शन किया है। इस क्रम में वे नागार्जुन, सुमित्रानन्दन पंत और महादेवी वर्मा की काव्य पंक्तियों से सटीक उद्धरण देते हैं। पूरे लेख की मूल प्रतिपत्ति शास्त्री जी के शब्दों में यह है "जिसकी सिद्धि के लिए कोई बड़ी चीज दांव पर नहीं लगायी जाय, वह वृत्ति आन्तरिक है, गम्भीर है, मंगलमयी है, कालिदास सम्भवतः इसे नहीं मानते थे।" आगे वे लिखते हैं "इस दृष्टि से विरह की वास्तविक महिमा यही है कि वह तापाग्नि से आसक्ति को भस्म कर मंगलमय प्रेम को उद्‌बुद्ध करता है।"

इस विरह के तप को ही केन्द्र में रखकर शास्त्री जी ने कालिदास के पूरे रचना-संसार का मंथन किया है और इस निष्कर्ष पर वे पहुँचे हैं कि "पर यह तो निर्विवाद है ही कि कालिदास ने विरह वेदना के मार्मिक अनुभवों की जो कलादीप्त, समर्थ व्यंजना की है, वह सम्पूर्ण मानव जाति की अमूल्य निधि है। मिलन जन्य सुख कभी-कभी ऐसा हो सकता है कि दूसरे को ईर्ष्यान्वित करे, किन्तु विरह जन्य दुःख? वह यदि सच्चा है और उसे यदि सही ढंग से व्यक्त किया गया है तो कभी ऐसा नहीं होता कि वह दूसरे के हृदय को उर्वर न कर दे।"

(विष्णुकान्त शास्त्री चुनी हुई रचनाएँ : खण्ड-एक, पृ०-१६)

शास्त्री जी ने अपनी रचना प्रक्रिया पर लिखते हुए यह स्वीकार किया है कि उनमें एक परिपूर्णता ग्रन्थि रही है। वे किसी भी विषय पर तभी कलम उठाना चाहते थे, जब उन्हें यह आश्वस्ति हो जाय कि विषय का सम्यक् ज्ञान उन्होंने अर्जित कर लिया है। इस संकोच के कारण उन्होंने झटके से किसी भी लेखक पर या उसके कृतित्व पर कलम नहीं उठाई। गोस्वामी तुलसीदास उनके प्रिय कवि रहे हैं। तुलसीदास पर उन्होंने विस्तार से लिखा है। इसके अतिरिक्त जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी', निराला की प्रणति-संवेदना और महादेवी वर्मा की काव्य-संवेदना पर भी गहराई से अपनी लेखनी चलाई है। जैसा प्रारम्भ में ही संकेत किया गया, उनकी पाठकीय और आलोचकीय

संवेदना मध्यकालीन कवियों से चलकर छायावादी काव्य से होते हुए नयी कविता तक पहुँचती है। उन्होंने दिनकर और सर्वेश्वर पर भी अपनी लेखनी चलाई है। कुछ बड़े आलोचकों की आलोचना दृष्टि का भी उन्होंने मूल्यांकन किया है। उदाहरण के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की लोकमंगल की अवधारणा और आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की स्वच्छन्दता दृष्टि पर। विवेचना के इन सारे सन्दर्भों में आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की दृष्टि बड़ी ही बोधक और मर्मस्पर्शी है। साथ ही उसमें एक गहरी सहानुभूति का भी तत्त्व है।

तुलसी शास्त्री जी के विवेचन के केन्द्र में हैं। उनकी पुस्तक 'तुलसी के हिय हेरि' एक प्रकार से उनके जीवन की महत्त्वपूर्ण रचना है। तुलसीदास पर विचार करते हुए वे उन्हें आधुनिकता की चुनौती पर भी कसने का प्रयास करते हैं। वे कहते हैं "आधुनिकता की प्रवृत्ति ही है कि जो कुछ पुराना है, परम्परा प्राप्त है, उस पर प्रश्न चिन्ह लगाना, उसे बदले हुए परिवेश और जीवन मूल्यों में अपने अस्तित्व की सार्थकता को प्रमाणित करने की चुनौती देना।" आधुनिकता का यह अर्थ स्वीकार करते हुए शास्त्री जी ने तुलसी साहित्य को गहराई से विवेचित किया है। आधुनिकता की एक खास पहचान उसकी बुद्धिवादिता में निहित है। शास्त्री जी लिखते हैं "तुलसीदास ने बुद्धि की भी उपेक्षा नहीं की। बुद्धि जानने, समझने और विचारने की शक्ति है, उसकी उपेक्षा कर कोई भी बड़ा काम कैसे किया जा सकता है। भारतीय चिन्तन, मनन, दर्शन में ही नहीं, धर्म साधना में भी बुद्धि को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है।" आगे वे कहते हैं "आधुनिक दृष्टि परलोक की चिन्ता न कर इहलोक में, इसी जीवन को सुखी बनाने के लिए सतत् संघर्ष की प्रेरणा देती है। मनुष्य के दुःख, कष्ट के लिए वह भाग्य को नहीं, अज्ञान एवम् सामाजिक दुर्व्यवस्था को जिम्मेदार मानती है। तुलसी ने भाग्य और परलोक को स्वीकारते हुए भी उद्योग और इहलोक के महत्त्व को भली भाँति प्रतिपादित किया है। *(विष्णुकान्त शास्त्री चुनी हुई रचनाएँ, खण्ड-एक, पृ०-६८)*

शास्त्री जी ने तुलसीदास की भाग्य और परलोक की धारणाओं की एक सेवामूलक व्याख्या की है जिससे कोई असहमत हो सकता है, किन्तु शास्त्री जी के इस निष्कर्ष से असहमत होना कठिन है "आधुनिक दृष्टि से श्रेष्ठ माने जाने वाले कुछ प्रमुख लक्षणों के सन्दर्भ में तुलसी की मान्यताओं के इस संक्षिप्त परीक्षण से यह स्पष्ट है कि दोनों में कुछ बातों में समानता और कुछ बातों में पर्याप्त अन्तर होते हुए भी, ऐसा मौलिक विरोध नहीं है कि दोनों में संवाद ही न हो सके। *(वहीं, पृ०-७३)*

शास्त्री जी ने 'विनय पत्रिका' पर लिखे 'मनोविजय की साधना' शीर्षक अपने लेख के द्वारा तुलसीदास की विनय साधना पर गहराई से विवेचन किया है। प्रार्थना द्वारा मन को शोधित करना और उसे अपने आराध्य की ओर ले जाने की अद्‌भुत क्षमता का दर्शन तुलसीदास के 'विनय पत्रिका' के पदों में होता है। शास्त्री जी लिखते हैं "तुलसीदास की यह बड़ी अद्‌भुत विशेषता है कि प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति में भी उनकी श्रद्धा विचलित नहीं होती है। दैहिक, दैविक, भौतिक तापों से दग्ध होते रहने पर भी वे टूटे नहीं।" 'विनय पत्रिका' गोस्वामी तुलसीदास की एक ऐसी रचना है जिसमें भक्ति और दर्शन एक दूसरे में घुले हुए हैं। उसके एक-एक पदों का शास्त्री जी ने गहराई से अध्ययन किया है और तुलसीदास की भक्ति का आन्तरिक स्वरूप निर्वचित करने का प्रयास किया है। एक स्थान पर वे लिखते हैं 'जीवन क्या सहज ही शरण लेता है? अपने कर्तृत्व का अभिमान क्या अनायास ही छूटता है? जब अपना जोर नहीं चलता, जब गजेन्द्र की तरह पानी सिर से ऊपर जाने लगता है तभी कोई विरला महाभाव अपनी उस सारी छटपटाहट भरी आर्त्ति को भगवान को निवेदित कर शरण के लिए उद्यत होता है।"

(वहीं, पृष्ठ ११०)

शरणागति के इस मर्म को तुलसीदास ने अपनी 'विनय पत्रिका' में अनेक पदों में व्यंजित किया है। शास्त्री जी ने उन सबके बीच से गुजरते हुए स्वयं को भी उसी शरणागति की भूमिका में स्थित करने का प्रयास किया है।

शास्त्री जी ने एक लेख में कबीरदास और तुलसीदास के आन्तरिक साम्य पर गहराई से विचार किया है। आज जब एक कबीर के व्यक्तित्व और उनकी दृष्टि को लेकर इतने अनावश्यक विवाद खड़े किए जा रहे हैं, शास्त्री जी का यह लेख बहुत ही महत्त्वपूर्ण और विचारणीय है। उन्होंने लिखा है "सच्चाई यही है कि कबीर और तुलसी दोनों मूलतः और प्रथमतः भक्त थे, दोनों परमतत्व से अपना सम्बन्ध निष्काम प्रेम के द्वारा जोड़ना चाहते थे।"

(वही, पृ०-१३९)

आगे वे लिखते हैं "इन दोनों भक्तों ने भक्ति को किसी विशिष्ट सम्प्रदाय, दर्शन या विधि विधान से नहीं बाँधा है। इन दोनों की रचनाओं में ऐसा कथन कहीं नहीं मिलता कि किसी विशेष प्रकार का छापा तिलक लगाकर या किसी सम्प्रदाय में दीक्षित हो कर के पाया जा सकता है।" "भक्ति की आधारभूत विशेषताएँ भी दोनों की दृष्टि में एक सी हैं।" "ज्ञान के प्रति कबीर और तुलसी दोनों आस्थावान हैं, दोनों मानते हैं कि माया के बन्धन को छिन्न-भिन्न कर देने में ज्ञान समर्थ है।"

आचार्य शास्त्री ने तुलसीदास को अधिक गहराई और व्यापकता से समझने का प्रयास किया है और इसके लिए उन्होंने 'रामचरितमानस' से अधिक 'विनय पत्रिका' पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। सम्भवतः उनके मन में कहीं न कहीं यह धारणा काम करती रही होगी कि 'रामचरितमानस' का तो बहुत से विद्वानों और आलोचकों ने गहराई से मन्थन किया है, किन्तु 'विनय पत्रिका' जो गोस्वामी तुलसीदास की भक्ति चेतना का केन्द्रीय ग्रन्थ है, उतनी गहराई से पढ़ा और समझा नहीं गया। तुलसीदास की भक्ति चेतना में जो शरणागति का तत्त्व है उसकी मंजूषा तो 'विनय पत्रिका' ही है। शास्त्री जी लिखते हैं "शरणागत तो वही होता है जो अपने कर्तृत्व का, शरण्य के अतिरिक्त अन्य समस्त साधनों का अभिमान त्याग चुका हो, उनकी निस्सारता और अपनी असहायता को समझकर कातर, भय विह्वल हो उठा हो।"

(वही, पृ०-२०९)

विनय पदों से तुलसीदास की प्रणति की पहचान करते हुए शास्त्री जी लिखते हैं— "सिर्फ अपनी व्याकुलता का ही नहीं, अपने अपराधों का भी निवेदन तुलसी ने किया है, क्योंकि निश्छल भाव से अपने दोषों को स्वीकारते हुए प्रभु की शरण में आना चाहिए, 'परिहरि छल सरन गये तुलसिहु से तरत।' तुलसीदास को जो बात सबसे अधिक कष्ट देती रही, वह यही थी कि दुनिया तो उन्हें साधु, भक्त समझती है, जबकि उनके हृदय में अब भी काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर का ही वास है, अपनी कथनी और करनी के इस अन्तर से, 'रहनि आन बिधि कहिय आन' से पीड़ित होकर उन्होंने ईमानदारी से अपनी इस स्थिति को प्रभु के सामने रख दिया।" 'विनय पत्रिका' के ही माध्यम से शास्त्री जी ने तुलसीदास के 'मनोरथ' को समझने का भी प्रयास किया है। उन्होंने लिखा है— "मनोरथ' का शब्दार्थ है मन का रथ अथवा मन ही रथ है, जिसका। हमारी इच्छाएँ, कामनाएँ, अभिलाषाएँ, मन को रथ बनाकर अपने अभीष्ट तक पहुँच जाना चाहती हैं, अतः उनको मनोरथ कह देते हैं। केवल संकल्प युक्त अथवा लालसामयी अभिलाषाओं के ही लिए नहीं, अभीष्ट के लिए भी मनोरथ शब्द का प्रयोग होता रहा है। मनोराज्य की तरह मनोरथ को बिल्कुल निस्सार नहीं माना गया है एवं उसका प्रयोग अच्छे विषय से युक्त होने पर अच्छे अर्थों में किया जाता रहा है।"

इस प्रकार शास्त्री जी ने तुलसी के मनोरथ को श्रेयस्कर अर्थ में गहराई से विवेचित किया है। शास्त्री जी

की आलोचना पद्धति पूरी तौर पर तर्क सम्मत, प्रमाण सम्मत और शास्त्र सम्मत होती है। वे अपने मत को कहीं भी थोपते नहीं हैं। रचना में से ही उनके निष्कर्ष निकलते हैं और क्रमशः प्रशस्त होते जाते हैं। इसका कारण उनकी तत्त्वदर्शी दृष्टि और गहरा अध्यवसाय है। पूरी 'विनय पत्रिका' को उन्होंने अच्छी तरह मथा है और उसी मन्थन में से 'शरणागति', 'मनोरथ', 'मनोविजय' आदि तत्त्वों के नवनीत उन्होंने उपलब्ध किया है और पाठक को भी सम्प्रेषित किया है। वे लिखते हैं— "विनय पत्रिका' तुलसीदास की वैयक्तिक भाव-साधना का प्रामाणिक दस्तावेज है। इसमें उनके अन्तरप्रदेश में उठने वाले मनोभावों का विश्वसनीय चित्रण है। यह देखकर हर्ष होता है कि इसमें भी तुलसीदास केवल अपने लिए प्रभु से प्रार्थना नहीं करते, जीव मात्र के, चराचर के मंगल के लिए प्रभु की करुणा की वर्षा कराना चाहते हैं।" *(वही, पृ०-१३५)*

तुलसीदास की ही भाँति शास्त्री जी ने सूरदास के काव्य में निहित दैन्य तत्त्व को विश्लेषित करने का प्रयास किया है। शास्त्री जी के इस विश्लेषण में पर्याप्त नवीनता है। अधिकांश विद्वानों ने 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में बल्लभाचार्य जी और सूरदास के बीच के संवाद को उद्धृत करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि बल्लभाचार्य जी की झिड़की खाने के बाद सूरदास ने अपने काव्य से दैन्य तत्त्व का परित्याग कर दिया और वे वात्सल्य और श्रृंगार का ही आजीवन चित्रण करते रहे। शास्त्री जी ने वाकायदे डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, मुंशीराम शर्मा सोम, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा और डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के मतों को उद्धृत करते हुए कहा है कि ये सारे विद्वान यही मानते हैं कि बल्लभाचार्य जी की उक्ति "जो सूर ह्वै कै ऐसौ घिघियात काहे को है? सों ता सों कछु भगवतलीला वरनन करि" और इसी के प्रभाव में सूरदास ने दैन्य निवेदन का परित्याग कर दिया। शास्त्री जी इस निष्कर्ष से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है "यदि यह मान्यता सही है तो इससे तीन निष्कर्ष निकलते हैं, पहला दैन्य निदेवन एवं लीला गान में विरोध है। दूसरा बल्लभ सम्प्रदाय में भक्त का दैन्य भाव गृहीत नहीं हुआ है। तीसरा, अतएव सूरदास ने बल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के अनन्तर विनय के पद नहीं लिखे।" *(वही, पृ०-३५)*

शास्त्री जी इन तीनों निष्कर्षों को अमान्य करते हैं। उनकी दृष्टि में विनय के पदों और लीलागान में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। वे अपने समर्थन में तुलसीदास की 'विनय पत्रिका' से एक उद्धरण देते हैं "नाम ललित, लीला ललित ललित रूप रघुनाथ"। अर्थात् तुलसीदास के यहाँ लीलागान और विनय निवेदन में कोई विरोध नहीं है। अपने निष्कर्ष को और भी स्पष्टता के साथ शास्त्री जी प्रस्तुत करते हैं— "अतः विनय के पद लीलागान के परिपूरक हैं, परिपंथी नहीं। सच तो यह है कि विनय की भावना वह नींव है, जिस पर भगवान का महात्म्यज्ञान अवलम्बित है, जिसके बिना भक्ति का भवन खड़ा ही नहीं हो सकता। भक्त की दृष्टि में प्रभु की महत्ता जितनी उभरती है उसके हृदय में, उतनी ही चुभती है अपनी लघुता। अपनी सीमाओं का सबसे प्रखर अनुभव दास्य भाव में होता है, यह ठीक है, किन्तु सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि अन्य भावों के प्रकर्ष में भी अभिमान न आ जाये इसका ध्यान बराबर बनाये रखना पड़ता है।" *(वही, पृ०-३६)*

शास्त्री जी आगे कहते हैं कि "बल्लभ सम्प्रदाय में भक्त का दैन्य भाव गृहीत नहीं हुआ है, यह कहना बल्लभ सम्प्रदाय से अपना नितान्त अपरिचय प्रकट करना है।"

उन्होंने विस्तार से यह सिद्ध किया है कि पुष्टि का अर्थ ही पोषण होता है अर्थात् प्रभु का अनुग्रह। वे मानते हैं कि प्रभु की प्राप्ति प्रभु के अनुग्रह के बिना सम्भव नहीं है। सच बात तो यह है कि शास्त्री जी रचना और रचनाकार के अद्वैत पर पूरा विश्वास करते हैं और निःसंकोच और निर्भ्रान्त स्वर में वे कहते हैं "काव्य की

उत्कृष्टता चेतन और अचेतन मन के पूर्ण सहयोग पर ही निर्भर करती है। जहाँ किसी रचयिता के चेतन अचेतन मन में द्वन्द्व चलता है, बुद्धि जिसे सही मानती है, हृदय उसका समर्थन नहीं करता या बुद्धि हृदय की मान्यता का निषेध करती है, तो उसकी रचना में दरारें पड़ जाती हैं। सूरदास के विनय के दैन्य युक्त पदों में भी जो अन्विति है, जो मर्म स्पर्शी प्रभविष्णुता है वह उनकी मन, कर्म और वाणी की एकता के कारण ही है।" *(वही, पृ०-४२)*

सन्त साहित्य की आलोचना के बाद शास्त्री जी छायावादी काव्य पर गहराई से विचार करते हैं। वैसे तो उन्होंने 'भारतेन्दु की खड़ी बोली की कविताएँ' शीर्षक से विस्तार से भारतेन्दु के खड़ी बोली के काव्य पर विचार किया है, किन्तु उसे छोड़ते हुए हम 'कामायनी' पर शास्त्री जी द्वारा प्रस्तुत दृष्टिकोण का विवेचन करना चाहते हैं। उनके आलेख का शीर्षक है 'आधुनिक सभ्यता का संकट और कामायनी'। इस लेख को पढ़ते समय मेरी पहली प्रतिक्रिया यह हुई कि शास्त्री जी का दृष्टिकोण डॉ० राममनोहर लोहिया के दृष्टिकोण से सर्वथा मिलता जुलता है। छठवें दशक के अपने लेखों में लोहिया बार-बार कहते हैं कि पूंजीवादी और कम्यूनिस्ट दोनों प्रकार के समाजों में मूल्यगत समानताएँ हैं और दोनों ही लोकतांत्रिक और स्वाधीन मानवीय संस्कृति के विरोधी हैं। शास्त्री जी का भी कथन है "पूंजीवादी और कम्यूनिस्ट दोनों प्रकार के समाजों में प्रचलित मूल्यों के मानदण्ड मूलतः भौतिकवादी, सुखवादी और उपयोगितावादी हैं। अतः सामान्य आधुनिक व्यक्ति अर्थ और काम से मिलने वाले भोगों उत्तम भोजन, पान, आवास, परिच्छन्न, यौन परितृप्ति, धन, यश, मान, क्षमता आदि की प्राप्ति को ही जीवन का लक्ष्य मानता है। औपनिषदिक दृष्टि से ये सब प्रेय के अन्तर्गत आते हैं। जिसके पास उपभोग के ये साधन जितने अधिक होते हैं वह उतना ही सफल और बड़ा आदमी माना जाता है। ऐसे सामाजिक परिवेश में पला बढ़ा व्यक्ति स्वाभाविक रूप से प्रकट या प्रच्छन्न व्यक्तिवादी, प्रतिस्पर्धापरायण और परिग्रहशील होगा। अपने हितों को सिद्ध करने के लिए साधनों की पवित्रता उसके लिए आवश्यक नहीं। आखिर क्षमता सम्पन्न राजनेता, बड़ा उद्योगपति, शीर्षस्थ अधिकारी आदि बनना हंसी खेल तो नहीं है।" *(वही, पृ०-२२१)*

आधुनिक सभ्यता के इस संकट को पृष्ठभूमि के रूप में रखते हुए शास्त्री जी ने 'कामायनी' का विवेचन किया है। उनका मानना है कि 'कामायनी' में जो मूल्यदृष्टि है, आधुनिक मूल्य दृष्टि से सीधे टकराती है। 'कामायनी' की दृष्टि चैतन्यवादी है जबकि आधुनिक सभ्यता भौतिकवादी। 'कामायनी' के अनुसार यह सचराचर मूर्त विश्व एक ही चिति का मंगलमय विराट् रूप है। इस सत्य की अनुभूति तर्क से नही की जा सकती न इन्द्रियों से। यह अनुभूति इन्द्रियातीत साधनापरक और श्रद्धामूलक है। आनन्द और सुख में प्रसाद जी अन्तर करते हैं। 'कामायनी' की दृष्टि आनन्दवादी है, सुखवादी नहीं। 'कामायनी' की दृष्टि समष्टिवादी है, व्यक्तिवादी नहीं। शास्त्री जी ने लिखा है "प्रसाद जिस प्रकार श्रद्धा समन्वित बुद्धि के समर्थक थे (इसीलिए कंकाल में उन्होंने गीता के बुद्धिवाद की संस्तुति की है) उसी प्रकार वे कल्याण समन्वित विज्ञान को भी स्वीकारते थे। यंत्र मानव की सेवा के लिए हों, मानवता यंत्र के लिए बलि न चढ़ जाये, यही उनकी चिन्ता थी।" *(वही, पृ०-२३२)*

यह कितना संगत लगता है और आलोचक विष्णुकांत शास्त्री की मनोभूमि के निकट कि सूरदास और तुलसीदास के प्रणति भाव से तादात्म्य स्थापित करने के बाद निराला की काव्य संवेदन की पहचान भी उन्होंने इसी प्रणतिभावना को ही केन्द्र में रखकर की है। उन्होंने निराला के सन्दर्भ में मार्क्सवादी आलोचकों के मन्तव्य और मूल्यांकनों की ओर इशारा करते हुए कहा है "मैं इन मतों को मार्क्सवादी आलोचना की स्थूलता और विफलता का उदाहरण मात्र मानता हूँ। मार्क्सवादियों के भरसक विरोध के बावजूद आध्यात्मिकता और भक्ति चेतना हिन्दी के

प्रतिनिधि काव्य में निराला, पन्त, दिनकर, अज्ञेय, भवानीप्रसाद मिश्र, कुंवरनारायण जैसे वरेण्य कवियों की कृतियों में प्रतिफलित होती रही।" *(वही, पृ० २३५)*

निराला की काव्य यात्रा के अन्तिम चरण की कविताओं को शास्त्री जी ने उनकी शरणागति की भावना का प्रतिफलन बतलाया है। १९५० से ६१ तक रची गयी कविताओं के संकलन 'अर्चना', 'आराधना', 'गीतगुंज' और 'सान्ध्यकाकली' को अपने विवेचन के केन्द्र में रखते हुए शास्त्री जी ने निराला की काव्य संवेदना के केन्द्रीय आयाम के रूप में उनकी शरणागति की भावना को रेखांकित किया है और यह भी दिखलाया है कि इस चरण में आने के पूर्व भी निराला के काव्य में यह शरणागति का तत्त्व प्रमुख रूप से झलकता रहा है। 'गीतिका' के कुछ गीत, 'तुलसीदास की अनेक झंकृतियाँ इस शरणागति तत्त्व से अभिसिंचित हैं। निराला के विषय में शास्त्री जी उनकी अनेक कविताओं का उद्धरण देते हुए लिखते हैं "निराला शरणागति के पथ पर चलते रहे, भटकते रहे, भटक-भटक कर पुनः उसी पथ पर आते रहे। बड़ी सच्चाई क्या है भटकना या फिर उसी पथ पर चलने का प्रयास करना?" *(वही, पृ०-२५६)*

आलोचक विष्णुकान्त शास्त्री के स्वयं के व्यक्तित्व का केन्द्रीय तत्त्व प्रभु परायणता, शरणागति और विनयशीलता है। यही कारण है कि उन्हें सूरदास, तुलसीदास, निराला जैसे कवियों के अन्तर में प्रवाहित यह शरणागति चेतना और प्रणति चेतना गहराई से आलोचक की चेतना से तादात्मीकृत हो जाती है। जैसे सामान्य जीवन में हर व्यक्ति को हर चेहरा उतना प्रिय नहीं लगता। किसी-किसी चेहरे पर ही देखने वाले की दृष्टि अटकती है। आलोचक और पाठक को भी सभी कवि समान रूप से प्रिय नहीं लगते। कहीं न कहीं एक प्रकार का साधारणीकरण अथवा तादात्मीकरण की अपेक्षा होती है और यही कारण है कि सूरदास, तुलसीदास और निराला शास्त्री जी को विशेष रूप से प्रभावित करते हैं। परन्तु आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की आलोचना दृष्टि का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष विवेचना मूलक है। वह आधुनिक सभ्यता और संस्कृति के संकट को पहचानता और रेखांकित करता है। इसी तत्त्व से प्रेरित होकर विष्णुकान्त जी 'कामायनी' का विवेचन करते हैं। अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में कविवर सुमित्रानन्दन पंत महर्षि अरविन्द के दर्शन से प्रभावित होकर काव्य लिखते हैं। बहुतों की दृष्टि में पन्त जी इसलिए बड़े कवि हैं कि उन्होंने 'पल्लव' और 'गुंजन' की कविताएँ लिखी हैं। प्रगतिशील और मार्क्सवादी आलोचकों की दृष्टि में पंत जी इसलिए महत्त्वपूर्ण कवि हैं कि उन्होंने 'युगान्त' 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की कविताएँ लिखी हैं, परन्तु आलोचक विष्णुकान्त शास्त्री की दृष्टि पन्त जी के उत्तरकालीन काव्य पर जाती है। जिसे वे अमृत चेतना का काव्य कहते हैं। शास्त्री जी की विवेचना-दृष्टि पन्त जी के इस झुकाव को बहुत गम्भीरता से रेखांकित करती है। पन्त जी के इस झुकाव के विषय में शास्त्री जी का कहना है " उन्होंने गम्भीर आत्ममंथन के बाद भी अरविन्द की दृष्टि को स्वीकार किया और उसके अनुकूल काव्य रचना के लिए पर्याप्त मूल्य भी चुकाया।" *(वही, पृ०-२७३)*

आगे वे कहते हैं "एक बात मैं और स्पष्ट करना चाहता हूँ। उन्होंने अपनी पूर्व स्थापना को नकारा नहीं है। वे मिथ्या से सत्य की ओर नहीं गये हैं। वे सत्य से वृहत्तर सत्य की ओर गये हैं। जिसको उन्होंने अपने अन्तःकरण में उपलब्ध किया, जो उनकी चेतना का अनिवार्य अंग बन गया उसको नकारे बिना उन्होंने उसमें परिवर्द्धन किया, नवीन संयोजन किया। इस वृहत्तर सत्य की उपलब्धि उन्होंने बुद्धि के स्तर पर भी की और भाव के स्तर पर भी।" *(वही, पृ०-२७४)*

इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्त जी का अरविन्द-दर्शन के प्रति झुकाव और उसे अपने काव्य की आत्मा बनाने का प्रयास शास्त्री जी की दृष्टि में कोई हल्का फुल्का काम नहीं है। उनकी दृष्टि में कविता जहाँ अपनी भावनात्मक अभिव्यक्ति के कारण पाठक के मन को संस्कारित करती है। वहीं अपनी गहरी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि के कारण पूरे युग को संस्कारित करती है। "श्री अरविन्द की पूरी साधना अध्यात्म ज्ञान से लोक मंगल करने की रही है और इसीलिए वे उस ज्योति पुरुष की चेतना को धरती के जीवन की पीठिका पर स्थापित करना चाहते हैं। इसी को वे उस शिखर सत्य का धरती तल पर अवतरण मानते हैं।" *(वही, पृ०-२८०)*

पन्त जी के इस दौर के काव्य संकलनों के नाम भी उसी सत्य को ध्वनित करते हैं, जैसे-स्वर्ण किरण, स्वर्ण धूलि, सौ वर्ण आदि। उनके एक संकलन का नाम 'अतिमा' भी है। शास्त्री जी की दृष्टि में पन्त जी का यह काव्य-विकास एक स्वाभाविक विकास है और इस प्रकार का विकास उसी कवि में सम्भव है जो आत्मा और परमात्मा के अटूट सम्बन्धों का एहसास करता हो और अपने प्रेम को उस लोकोत्तर भूमि तक ले जा सकता हो।

शास्त्री जी ने महादेवी के काव्य पर भी गहराई से विचार किया है और ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्होंने महादेवी में जहाँ एक ओर आत्म विसर्जन के तत्त्व को रेखांकित किया है वहीं अन्याय के सक्रिय प्रतिरोध के स्वर को भी उतना ही महत्त्व दिया है। यह एक अद्‌भुत संवेदनात्मक संश्लेष है जो शास्त्री जी ने महादेवी के काव्य के संदर्भ में लक्षित किया है। एक ओर तो वे कहती हैं—

"जले दीप को फूल का प्राण दे दो शिखा लय भरी साँस को दान दे दो"

तो दूसरी ओर "पंथ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला" जैसी आत्म विश्वास भरी पंक्तियों को भी रचती हैं।

'दिनकर' के काव्य पर भी शास्त्री जी ने विस्तार से विचार किया है और उनके व्यापक रचनात्मक व्यक्तित्व को एक गहरी पहचान दी है। 'उर्वशी' और 'कुरुक्षेत्र' के दो ध्रुवान्तों पर विचरण करने वाला कवि जब 'संस्कृति के चार अध्याय' जैसा ग्रन्थ लिखता है तो शास्त्री जी के लिए उसका व्यक्तित्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

नई कविता के परिसर तक आते-आते शास्त्री जी का ध्यान टिकता है सर्वेश्वर पर और उनकी कविता पर लिखे अपने आलोचनात्मक लेख का वे शीर्षक देते हैं— 'आहत दुर्बलता का स्वाभिमान'। और इसी दृष्टि से वे सर्वेश्वर की इन पंक्तियों को उद्धृत करते हैं "लीक पर वे चलें जिनके/ चरण दुर्बल और हारे हैं।/ हमें तो जो हमारी यात्रा से बने/ ऐसे अनिर्मित पंथ प्यारे हैं।" *(एक सूनी नाव)*

शास्त्री जी को सर्वेश्वर की केन्द्रीय प्रवृत्ति व्याकुलता की लगती है और इसीलिए वे इसे मूल्यवान मानते हैं, क्योंकि अधिकांश नयी कविता अपने को बौद्धिकता की ओर खिंची हुई मानती हैं। शास्त्री जी का कहना है "जैसे जीवन में वैसे ही कविता में भावुकता और बौद्धिकता दोनों का महत्त्व है। शर्त यही है कि वे नकली न हों।" सर्वेश्वर की काव्य प्रकृति में बिम्ब धर्मिता का तत्त्व भी बहुत प्रधान है। उनके काव्य से अनेक बिम्बों को शास्त्री जी ने रेखांकित किया है जो निश्चय ही बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। पर, शास्त्री जी की दृष्टि में, "शक्ति जूझने और कुचले जाने के खतरे को झेलने से ही मिलती है, इस मान्यता पर कवि अब भी दृढ़ है। जैसे गन्ध हीन फूल गन्ध की याचना नहीं करता, तीखा खिंचा शूल कोमलता नहीं चाहता, वैसे ही वह भी जो कुछ उसे प्राप्त है उससे अधिक की भीख नहीं माँगेगा, सम्भव होगा तो स्वयं उपार्जित करेगा।" *(वही, पृ०-३१८)*

"नहीं, नहीं प्रभु तुमसे शक्ति नहीं माँगूगा अर्जित करूँगा उसे मरकर बिखर कर।" इसे ही शास्त्री जी आहत दुर्बलता का स्वाभिमान मानते हैं।

आलोचक विष्णुकान्त शास्त्री पर विचार करते हुए हमने उनके द्वारा लिखे हुए उन लेखों और आलोचनात्मक निबन्धों को अपनी दृष्टि में रखा है जो उन्होंने हिन्दी के शीर्षस्थ कवियों पर लिखे हैं। कोई भी आलोचक सभी रचनाकारों पर नहीं लिख पाता, सभी रचनाकारों को वह पढ़ भी नहीं पाता। पाठक उन्हीं रचनाकारों में रमता है, जिन्हें पढ़ने में उसे आत्मतोष और सुख का अनुभव होता है। शास्त्री जी भी तुलसी, सूर, कबीर, भारतेन्दु, प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी, दिनकर, सर्वेश्वर आदि कवियों पर अपनी कलम उठाते हैं। निश्चय ही तुलसीदास उनकी विचारणा के केन्द्र में हैं। किन्तु जैसा ऊपर कहा गया शास्त्री जी के व्यक्तित्व में जो विनय, प्रणति और आत्मनिवेदन के गहरे तत्त्व हैं, वे ही उन्हें उन उन कवियों की ओर ले जाते हैं जहाँ उनके मन को तृप्ति और तोष मिलता है। शास्त्री जी ने आलोचकों पर भी गहराई से विचार किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० नामवर सिंह, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी पर उन्होंने विस्तार से लिखा है। जहाँ वे इन आलोचकों की दृष्टियों से सहमत हैं अथवा जहाँ वे इनसे असहमत हैं, सभी को उन्होंने स्पष्टता से व्यक्त किया है। जहाँ उनके व्यक्तित्व में गहरा संकोच है, वहीं उनकी अभिव्यक्ति में निश्छल और निःसंकोच खुलापन। उनकी आलोचना दृष्टि में वही पारदर्शिता है जो उनके व्यक्तित्व में भी पूरी तौर पर परिलक्षित होती है। इस छोटे से लेख में हम शास्त्री जी के संस्मरणकार व्यक्तित्व को स्पर्श नहीं कर पा रहे हैं, किन्तु एक वाक्य में यह अवश्य कहना चाहेंगे कि संस्मरण शास्त्री जी की रचना धर्मिता की केन्द्रीय विधा है। वे स्वयं एक व्यक्तित्व-सम्पन्न साहित्यकार हैं। इसलिए दूसरे व्यक्तियों की खूबियों ने उन्हें अपनी ओर खींचा है और प्रभावित भी किया है। जिनका वे अपने संस्मरणों में मार्मिक अंकन करते हैं। ●

डॉ० नगेन्द्र चौरसिया

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का गद्य साहित्य

रचना एक यातनापूर्ण साधना है। यह साधना अपनी परम्परा को जाने बिना संभव नहीं है। किसी विचार, भाव या तथ्य को प्रकट करने का माध्यम शब्द ही है और जब शब्द किसी अर्थ को संकेतित करता है तब कहीं शब्द की प्रधानता होती है तो कहीं अर्थ की प्रधानता तो कहीं शब्द, अर्थ दोनों ही प्रधान हो जाते हैं। यों तो किसी भी सृजन में भाव या विचार अपना माध्यम खुद तैयार कर लेते हैं। यदि इस दृष्टि से आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की रचनात्मकता पर विचार करें तो सबसे पहले उनका जो बाहरी व्यक्तित्व दिखाई देता है वह विद्वान पंडित का ही है। वैसे स्वभाव से वे आस्थाशील, संस्कारशील, परम्परापुष्ट आस्तिक व्यक्ति हैं। भारतीय परम्परा और संस्कृति के प्रति गहरी रुचि रखने वाले आचार्य शास्त्री एक सफल प्राध्यापक, अध्येता, विचारक तथा संवेदनशील ईमानदार राजनेता भी हैं। यहाँ डॉ० रामविलास शर्मा की इस उक्ति का उल्लेख उचित होगा कि 'जो लोग साहित्य में, समाज में, युग परिवर्तन करना चाहते हैं, जो लकीर के फकीर नहीं हैं, जो रूढ़ियाँ तोड़कर क्रांतिकारी साहित्य रचना चाहते हैं, उनके लिए साहित्य की परम्परा का ज्ञान सबसे ज्यादा आवश्यक है।[1]' आवश्यक इसलिए है कि साहित्यिक परम्परा के ज्ञान से, परम्परा में अच्छा क्या है और बुरा क्या है ? इसका ज्ञान होता है। साथ ही वर्तमान और उसकी सामयिकता या आधुनिकता के भीतरी संबंधों को जानने में सुविधा होती है तथा समाज, देश तथा आदमी के लिए कैसी नयी परम्परा तैयार की जाए जो साहित्य और समाज को नए रास्ते की ओर ले जाने में दिशा दिखा सके। तभी साहित्य और संस्कृति की अपनी धारणाओं के अनुसार परम्परा की खोज और उसके मूल्यांकन तथा परिवर्तन का प्रयास होता है। यह तभी होता है जब भारतीय समाज की तरह ही अनेक संस्कृतियों और साहित्य की परम्पराओं की मिलीजुली विकास वाली संस्कृति और परम्परा का ज्ञान होता है।

यदि देखा जाए तो आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री परम्परा और अपनी संस्कृति की धरोहरों से वाकिफ़ हैं और उसके संबन्ध में वे खुली नजर रखते हैं। शास्त्री जी का पहनावा तथा व्यवहार देखकर भ्रम उत्पन्न हो सकता है, लेकिन उनके उद्‌गार, व्यवहार, निबंधों तथा आलेखों से गुजरने के बाद धारणा बदलती है। उनकी आधुनिकता के प्रति दृष्टि भी बड़ी साफ है। आधुनिकता की प्रवृत्ति ही है कि जो कुछ पुराना है, परम्परा प्राप्त है, उस पर प्रश्नचिह्न लगाना, उसे बदलते हुए परिवेश और जीवन-मूल्यों में अपने अस्तित्व की सार्थकता को प्रमाणित करने की चुनौती देना; मूलतः इसके पीछे सच को झूठ से अलगाने की प्रेरणा रहती है जो निश्चय ही स्वागत योग्य है, किन्तु कई बार नवीनता का दंभ अविवेकपूर्वक परम्परा मात्र को खारिज कर देने की घोषणा करता है।[2] वास्तविकता तो यह है कि जहाँ परम्परा समाज में अन्तर्निहित उन आचारों और सिद्धान्तों की समष्टिगत संज्ञा है जिन्होंने अपने अटूट सिलसिले द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों और नए-नए जातीय अनुभवों में भी समाज को अपनी अस्मिता बनाए रखने की क्षमता प्रदान की है और बार-बार व्याख्यायित और मूल्यांकित होती हुई अपने स्वरूप को खोए बिना रूपांतरित-विकसित होती चलती है, वहाँ परम्परावाद अतीत के आचारों और विश्वास को अपरिवर्तनीय मानकर उनका गौरव गान करता है, और आदर्श मानकर वैसा ही करने की मांग करता है जैसा अतीत में किया

जाता था।[3] आज इसकी चर्चा जिस तरह से समाज में हो रही है, उसपर आचार्य शास्त्री का ध्यान है, तभी तो यह मानते हैं कि "कोई देश अपनी परम्परा विचारधारा को छोड़कर किसी दूसरे देश की नकल करके आधुनिक नहीं बन सकता। आधुनिकता कोई वस्तु नहीं है कि उसे खरीदा या उधार लिया जा सके। .....आधुनिकता तो एक विशेष प्रकार की दृष्टिभंगी है जिसे अपनी संस्कृति की पृष्ठभूमि में विचारपूर्वक अंगीकार कर अपने आचरण में उतारना पड़ता है।[4] लेकिन इस भाग-दौड़ वाली जिन्दगी में शार्टकट का जीवन आदमी को स्वार्थी और संवेदनशून्य बनाता जा रहा है। आचार्य शास्त्री जिस तथ्य को व्यक्त करना चाहते हैं—चाहे पक्ष में हो या विपक्ष में, युक्तियुक्तपूर्ण ढंग से करते हैं। इस तरह का खुला और स्वीकार योग्य विचार आचार्य शास्त्री ही दे सकते हैं, क्योंकि वे जिस परिवार में पैदा हुए, पले-बढ़े, वह एक आस्तिक, संस्कारशील, परम्परापुष्ट राष्ट्रवादी परिवार था। इनके पिता पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री संस्कृत और हिन्दी के बड़े विद्वान थे और अच्छे कवि थे। ऐसे सुसंस्कृत परिवार में जन्मे आचार्य शास्त्री को पांडित्य एवं शास्त्रों का ज्ञान परिवार से ही मिला है। पढ़ने लिखने का शौक बचपन से ही रहा। लिखने की यात्रा १९५५ से शुरु हुई। अपनी रचनायात्रा के ४८ वर्षों में बहुत कुछ उन्होंने लिखा है, जिनमें आलोचनात्मक निबंध, भावात्मक निबंध, संस्मरण, रिपोर्ताज एवं यात्रा संस्मरण के साथ विवेचनात्मक निबंध, प्रवचन, अनुवाद तथा कविताएँ आदि प्रमुख हैं। लेकिन आलोचनात्मक निबंध लिखने में अधिक रुचि लेते थे, इस बात को स्वयं शास्त्री जी ने स्वीकार किया है।

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री एक अच्छे गद्यकार हैं और वे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की परम्परा के निबंधकार हैं, यह तथ्य उनके निबंधों से ज्ञात होता है। यहाँ थोड़ा हिन्दी निबंध परम्परा पर विचार करना जरूरी है, जिससे आचार्य शास्त्री की निबंध परम्परा का सही-सही आकलन हो सके। हिन्दी में गद्य की अन्य विधाओं की तरह निबंध का जन्म भी आधुनिक काल की देन है जो भारतेन्दु युग से आरंभ होता है। इसके विकास में उस जमाने की पत्र-पत्रिकाओं का योगदान अधिक है। आज यह विधा इतनी महत्त्वपूर्ण हो गयी है कि इसे गद्य लेखन की कसौटी माना जाता है। यह एक ऐसी विधा है जिसमें लेखक अपनी भाषा की शक्ति से अपने अनुभवों, विचारों और प्रतिक्रियाओं को युक्तियुक्तपूर्ण तरीके से अपने पाठकों तक पहुँचाकर उनसे आत्मीय संबंध स्थापित कर लेते हैं। हिन्दी में निबंध की परम्परा बहुत पुरानी नहीं है। जैसा कि पहले ही संकेत कर चुका हूँ कि पराधीनता के समय में राष्ट्रीय चेतना के विकास के लिए तथा लोगों में देश प्रेम जागृत करने के लिए जब से पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हुआ तब से सम्पादकीय के साथ सामयिक, सामाजिक, साहित्यिक, राष्ट्रीय, राजनैतिक, आर्थिक तथा अन्य समस्याओं एवं घटनाओं पर टिप्पणियाँ तथा विचार प्रधान, भाव प्रधान लेखन भी आरंभ हुआ।[5] १९वीं सदी के अंतिम समय तथा २०वीं सदी के दूसरे दशक से हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं का विधिवत प्रकाशन होने लगा था। पश्चिमी साहित्यिक गतिविधियों से भी थोड़ा-बहुत रिश्ता जुड़ गया था। फलतः सोच का स्तर पहले से कुछ आधुनिक हो गया। भाषा एवं अभिव्यक्ति के कौशल में कुछ नयापन शुरू हो गया। इस तरह आधुनिक हिन्दी गद्य का और विकसित रूप तो यहाँ से शुरू हुआ ही, हिन्दी निबंध का आधुनिक रूप भी निर्मित हुआ। पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, बद्री नारायण चौधरी 'प्रेमघन' तथा पं० अंबिका दत्त व्यास जैसे निबंधकारों ने अपने समय की छोटी-छोटी समस्याओं के साथ समाज में व्याप्त बुराइयाँ, देश की राजनीतिक, आर्थिक दशा के साथ साहित्य एवं आध्यात्मिक विषयों पर भी निबंध लिखे। इन निबंधकारों के निबंधों में विषय-वस्तु एवं रचना-शिल्प की विविधता है। इनके बाद के पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी युग के कई निबंधकार हुए— जिनमें आ० पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के अलावा पं० माधव प्रसाद मिश्र, पं० गोविंद नारायण मिश्र, अध्यापक पूर्ण सिंह, पं० चंद्रधर शर्मा

'गूलेरी', मिश्र बंधु तथा बालमुकुंद गुप्त प्रमुख हैं। इन निबंधकारों के विषय और सोच का दायरा बढ़ा। द्विवेदी जी के आलोचनात्मक तथा उपयोगितावादी उपदेशात्मक निबंधों के साथ शास्त्रीय विषयों एवं मनोविज्ञान से संबंधित विषयों पर भी निबंध लिखे गए और व्यंग्यात्मक निबंध भी। बाद के पं० पद्म सिंह शर्मा, गणेश शंकर विद्यार्थी तथा डॉ० श्यामसुन्दर दास के साथ आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल से साहित्य से संबंधित आलोचनात्मक, विचारात्मक, भावात्मक, विवरणात्मक तथा कथात्मक निबंधों की एक अति आधुनिक परम्परा आरंभ हुई। ये निबंध विचार एवं चिन्तन प्रधान होते थे। आचार्य शुक्ल के समय में निबंध को श्रेष्ठ गद्य विधा के रूप में प्रतिष्ठा मिली। बाद की निबंधशैली को समयोपयोगी एवं लोकप्रिय बनाने के लिए कथातत्व का समावेश किया गया। इस तरह के निबंधकारों में बाबू गुलाब राय, पदुम लाल पुन्नालाल बक्शी, सियारामशरण गुप्त, प्रेमचन्द, निराला, प्रसाद, महादेवी वर्मा आदि ने निबंध को इतना स्वादमय एवं ज्ञानमय बनाया कि पाठकों ने ही इसे श्रेष्ठ विधा घोषित कर दिया।

आचार्य शुक्ल के बाद निबंध का विकास बड़ी तेजी से हुआ। जैसा कि पहले ही संकेत कर चुका हूँ कि निबंध में विषयगत एवं भावगत परिवर्तन तो हुआ ही, इसकी कई कोटियाँ भी तैयार हुईं, जैसे विचारात्मक, समीक्षात्मक एवं आलोचनात्मक, भावात्मक, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, धार्मिक तथा कलात्मक, हास्य-व्यंग्य परक निबंध जिन्हें ललित निबंध की संज्ञा दी गई, आदि प्रमुख कोटियाँ हैं।

जब से निबंध को विचारों के प्रकट करने का प्रमुख एवं सशक्त माध्यम मान लिया गया तब से इसमें भाषा बोलचाल की प्रयुक्त हो रही है। तत्सम शब्दों के स्थान पर तद्भव एवं देशी शब्दों का अधिक प्रयोग हो रहा है। अब कोई भी विषय निबंध का विषय हो सकता है। आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के निबंधों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के वैचारिक निबंधों की झलक मिलती है। साथ ही नवीन जीवनबोधों, सांस्कृतिक संदर्भों से सम्पृक्त विचारात्मक तथा भावात्मकतापूर्ण सामंजस्य भी है। इन्होंने साहित्यिक निबंधों में सांस्कृतिक संदर्भों का इस तरह सामंजस्य किया है कि पाठक इनकी इस अभिव्यक्ति शैली पर मुग्ध हो जाते हैं—चाहे 'कालिदास की विरह-व्यंजना' हो या 'आधुनिकता की चुनौती और तुलसीदास' हो। इन निबंधों में सादगी है, विद्वता की गंभीरता है, तार्किकता है और सरसता भी है। इतना ही नहीं किसी किसी निबंध में डॉ० विद्या निवास मिश्र की तरह प्राचीनता और नवीनता का भी मिश्रण है और अपने समय से सम्पृक्त कर निबंधों को नवीन तथा संवेदनशील भी बना दिया—जैसे 'कुछ चन्दन की कुछ कपूर की' संग्रह के निबंधों को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। आचार्य शास्त्री ने विभिन्न विषयों पर बहुत गंभीर लेखन किया है। जैसा कि पहले ही उल्लेख कर चुका हूँ कि 'शास्त्री जी को आलोचनात्मक, वह भी साहित्यिक विषयों पर निबंधों के प्रति गहरी रुचि रही। यह रुचि क्यों हुई इसके संबंध में वे बताते हैं कि 'कलकत्ता विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर कक्षाओं में हिन्दी साहित्य का अध्यापन करते समय मुझे कई प्रश्नों से टकराना पड़ा और जब-जब मैं स्थापित दृष्टियों से सहमत नहीं हो पाया तब-तब मुझे लगा कि मुझे अपनी बात-युक्तियुक्त ढंग से लेख के माध्यम से कहनी चाहिए।'[५] और इस युक्तियुक्त ढंग के तमाम आलोचनात्मक लेख एवं निबंध आचार्य शास्त्री ने लिखे जो उनके विभिन्न निबंध संग्रहों में संकलित हैं। जब भी उन्हें लगा कि कुछ महत्त्वपूर्ण किन्तु अमीमांसित विषय हैं, साहित्यकारों की रचनाएँ हैं, जिनसे शास्त्री जी प्रभावित हैं, कुछ ऐसे कवि हैं जिनकी रचना पर ठीक से विवेचन नहीं हुआ है, ऐसे रचनाकारों की रचनात्मकता एवं उनकी विशेषताओं को रेखांकित करने के लिए उन्हें आलोचकीय मुद्रा अपनानी पड़ी। आलोचना लिखना ही उनके लेखकीय जीवन का प्रमुख पक्ष रहा है। उनके आलोचनात्मक लेखन से उनकी मौलिक और बौद्धिक विवेचन शैली का पता चलता है साथ ही उनकी भावुकता के पक्ष का भी खुलासा होता है। वे स्वीकार भी करते हैं कि 'मेरा भावुक रूप भी अपने को अभिव्यक्त

करना चाहता था। जिन श्रेष्ठ प्रतिभाओं से मैं प्रभावित हुआ, उनके संबंध में अपने अनुभवों को संस्मरणों के माध्यम से लिपिबद्ध किया है', वह भी सचेत, सुचिंतित, सहज और सरल भाषा में।[५] संभवतः इन्हीं विशेषताओं के कारण आचार्य शास्त्री के निबंधों एवं अन्य गद्य रचनाओं से रस ही नहीं सुगंध भी मिलती है। आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का व्यक्तित्व अध्यापक वाला है, इसीलिए उनके रस ग्रहण करने की क्षमता अधिक है क्योंकि वे भावुक संवेदनशील कवि हृदय हैं। इनका अनुभव-संसार बहुआयामी है। यही कारण है कि इनके सभी निबंधों एवं लेखों में भावों और विचारों की खुली अभिव्यक्ति है। उनमें वह भारीपन नहीं है जो पाठकों को संप्रेषित न हो। आचार्य शास्त्री वास्तव में एक अहंकार रहित सच्चे अर्थों में मानवीय गुणों से सज्जित, साधारण से दिखने वाले पंडित जी असाधारण प्रतिभा के धनी है। साथ ही 'निस्पृह समाज सेवी, उत्कृष्ट शिक्षाव्रती, साहित्यानुरागी, राजनेता और भारत भारती के अनन्य साधक भी हैं।'[६] इतने गुणों से परिपूर्ण शास्त्री जी सच्चे अर्थों में साहित्य चिन्तक और साहित्य साधक भी हैं। उनकी रचनात्मकता से मेरा परिचय बहुत पुराना है। 'कवि निराला की वेदना तथा अन्य निबंध', 'कुछ चन्दन की कुछ कपूर की', 'अनुचिन्तन' को दोबारा पढ़ा। उनकी प्रायः सभी रचनाओं को मैंने पढ़ा है। जब भी पढ़ा उनकी चिन्तन शैली, अभिव्यक्ति शैली अन्य निबंधकारों से भिन्न लगी। इनके कहने और अभिव्यक्ति के लिए जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं वे इतने अर्थपूर्ण और सहज होते हैं कि जो कहना या व्यक्त करना चाहते हैं, भावक उसे ठीक समझ लेता है। लेखक के मन की सारी भावनाएँ एवं विशेषताएँ झलकती हैं। इनके चिन्तनपरक अनुभवों का साक्षात्कार 'चिन्तनमुद्रा' के निबंधों में है। इनके निबंधों में पौराणिकता, प्राचीनता तथा आधुनिकता का मिश्रण, 'अनुचिन्तन' की साहित्यिक समीक्षाओं में मिलता है। भारतीय साहित्य तथा संस्कृति को नए रूप में विवेचित करने की कुशलता 'तुलसी के हिय हेरि' के निबंधों में पढ़ने को मिलेगा। इसको पढ़ने के बाद शास्त्री जी की तुलसी के प्रति गहरी रूचि का भी पता चलता है। इनकी आत्मीयतायुक्त शैली में लिखे निबंध अधिकतर कवियों पर है, जो जमकर लिखे गए हैं। जमकर लिखने की दिलचस्पी इसलिए हुई, क्योंकि शास्त्री जी जिस परिवार में पैदा हुए वह एक आस्तिक, संस्कारशील परिवार था। इन सभी का प्रभाव आचार्य शास्त्री के बालमन पर पड़ा था। वे संस्कृत साहित्य से भी उतने ही जुड़े थे, जितने हिन्दी से। बांग्ला भाषा एवं साहित्य का अध्ययन मनोयोग से किया था और पश्चिमी साहित्य का भी अच्छा ज्ञान ग्रहण किया था। इस तरह इतने गुणी-ज्ञानी व्यक्ति में ही अच्छे आलोचक, विचारक, व्याख्याकार तथा अच्छे निबंधकार की विशेषताएँ हो सकती हैं। वे संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य के किसी पक्ष पर लिखते समय किसी मत या सिद्धान्त के खूंटे में नहीं बंधे हैं। अपने स्वतंत्र चिन्तन एवं बुद्धि से कोई राय देते हैं वह भी आत्मविश्वास के साथ, सप्रमाण। पिछलग्गू की तरह किसी विदेशी विचारक को 'कोट' नहीं करते। उन्होंने जो भी लिखा है आत्मविश्वास से लिखा है और मौलिक लिखने की कोशिश की है। विषय को अपने परिवेश के साथ युक्तियुक्त ढंग से सहज भाषा में कहना उनका लक्ष्य होता है। इस तरह उनके चिन्तनपरक निबंधों में आम पाठक डूब जाता है, ऐसे निबंध उनके 'चिन्तन मुद्रा' तथा 'अनुचिंतन' संग्रहों में संकलित हैं। ये निबंध उनकी लोकप्रिय शैली में साहित्यिक विषयों पर हैं। उनके गद्य लेखन की कई दिशाएं हैं— पहली दिशा – आलोचनात्मक एवं विवेचनात्मक निबंधों की है। दूसरी दिशा – संस्मरण एवं वृत्तांत लेखों की है। संस्मरणात्मक एवं वृतांतपरक निबंधों एवं आलेखों में शास्त्री जी के कल्पनाशील भावुक कवि मन का दर्शन होता हैं। इन निबंधों में भी उनका विवेचनात्मक स्वभाव दिखता है। तीसरी दिशा – सामयिक विषयों, घटनाओं पर व्यक्त प्रतिक्रियात्मक निबंधों की है। 'बांगला देश मुक्ति युद्ध के समय एक रिपोर्टर के रूप में बांगला देश में हो रहे युद्ध में जो कुछ भी देखा, उसका मार्मिक एवं यथार्थ वर्णन और विवरण है। 'बांगला देश के संदर्भ में' पुस्तक में इस तरह के वर्णनात्मक रिपोर्ताज़

संकलित हैं। चौथी दिशा है – आध्यात्मिक निबंधों की जिसमें धर्म एवं आध्यात्म से संबंधित निबंध है। 'भक्ति और शरणागति' के नाम से प्रकाशित पुस्तक में, 'रसवृन्दावन' नामक धार्मिक पत्रिका के लिए लिखे सम्पादकीय हैं। शास्त्री जी इस पत्रिका का सम्पादन करते थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि आचार्य शास्त्री ने अपने सभी निबंधों, आलेखों, सम्पादकीयों, संस्मरणों एवं अन्य रचनाओं में विस्तृत अनुभवों को प्रभावशाली भाषा और नए रूप में व्यक्त किया है। इनकी हर साहित्यिक कृतियाँ हमें सुख-दुख की निजी संकीर्णताओं, सांसारिक पचड़ों से मुक्ति दिलाती है, उनसे जूझने की शक्ति मिलती है। उनके अनुभवों के परिणामों से हर मनुष्य को उस भाव की ओर गतिशील होने की प्रेरणा मिलती है जो मानव ही नहीं, समस्त जीवमात्र के दुख, चिन्ता, शोक, राग-विराग, द्वेष, सुख, भ्रम, आनन्द तथा आह्लाद को समझने की भाव पूर्ण दृष्टि तथा पवित्र शक्ति देती है। 'इनकी रचनाओं के संबंध में अपनी राय देने के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की यह उक्ति उद्धृत करना चाहूँगा कि 'इनकी रचनाएँ आम आदमी के हृदय को व्यक्तिगत संबंध के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक–सामान्य की भावभूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उसके प्रकृत सौन्दर्य का रूप दिखाई देता है।'[८] अर्थात् शास्त्री का गद्य लेखन लोक मंगल या सामाजिक मंगल को महत्त्व देने वाला लेखन है, क्योंकि इसमें व्यक्त समस्त भाव विचार, अतीत और वर्तमान के दीर्घ अनुभव क्षेत्र से लिए गए हैं, जो सभी स्तर के पाठकों, भावकों एवं अध्येताओं को स्पष्ट करते हैं और उद्वेलित भी।

संदर्भ संकेत :

१. लहरों के शिलालेख, पृ० ३७ परम्परा का मूल्यांकन
२. विष्णुकांत शास्त्री चुनी हुई रचनाएं, भाग-२, पृ० ५८
३. विष्णुकांत शास्त्री चुनी हुई रचनाएं, भाग-१, पृ० ५८
४. विष्णुकांत शास्त्री चुनी हुई रचनाएं, भाग-१, पृ० ५८
५. विष्णुकांत शास्त्री चुनी हुई रचनाएं, भाग-२, पृ० (ix) लेखकीय
६. विष्णुकांत शास्त्री चुनी हुई रचनाएं, भाग-१, पृष्ठ ५८
७. विष्णुकांत शास्त्री चुनी हुई रचनाएं, भाग-१ (प्रकाशकीय)
८. चिन्तामणि, पृ० ४६, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

प्रो० ओमप्रकाश पाण्डेय

शास्त्रिवर्यः शतायुः स्यात्

आचिनोति समस्तार्थाञ्छात्रेभ्यश्च यच्छति।
आचारं ग्राहयत्यस्मादाचार्यः' प्रकथ्यते ।। १ ।।
व्यापकत्वाच्च यो दृष्टे 'विष्णुः' सर्वजनप्रियः ।
काम्यत्वाच्च सर्वेषां 'कान्तः' कारुण्यगर्भितः ।। २ ।।
शास्त्रतत्त्वपरिज्ञानाद् याति 'शास्त्री' ति सार्थताम्।
आचार्यस्य तस्यैतद् वन्दनं नन्दनम्महत् ।। ३ ।।
शिक्षको यो हरेद्वित्तं वृत्तं सन्त्यज्य शिष्यतः।
नाहरेत् शिष्य-सन्ताप पापीयान् स भवेद् गुरुः ।। ४ ।।
इतिकृत्वा मतिं चित्ते शास्त्रिवर्यश्च निष्ठया।
विश्वविद्यालये स्वीये शिक्षणं श्रद्धया कृतम् ।। ५ ।।
आचारेण, सज्ज्ञानैः, सद्वृत्तैश्चापि विद्यया।
कलिकातानगर्यां यो यातः ख्यातिं सुमेधया ।। ६ ।।
निःसुतं रसमापीय साहित्यस्यास्य वक्त्रतः ।
साहित्यिकास्तथा छात्रा धन्यधन्यात्मतां ययुः ।। ७ ।।
मुक्तये पूर्ववङ्गस्य संग्रामे दारुणे च यः ।
अग्रिमेष्वयनेष्वेत्य मृत्योराह्वानमश्रृणोत् ।। ८ ।।
अश्रृणोज्जननेत्रेषु तिष्ठन्तीं तत्र वेदनाम ।
सर्वस्वाहुतिं यज्ञे ददतां मुक्ति-चेतनाम् ।। ९ ।।
सङ्कलय्य समस्तां तां व्यथामन्यायगर्भिताम् ।
वृत्तपत्रेषु प्राकाश्य योऽनयत्तं नमाम्यहम् ।। १० ।।
वाराङ्गनेव याऽभ्युक्ता राजनीतिर्विचारकैः ।
राजनीतिर्भवेत्सैव महालक्ष्मीति चिन्तया ।। ११ ।।
शास्त्रिवर्यो विधातुं तां लोककल्याणकारिणीम् ।
निश्छलां निर्मलाञ्चैव नारायणपरा हिताम् ।। १२ ।।
राजनीतिं सिषेवेऽसौ निःस्वार्थः सन् निराकुलः ।
तपोऽरण्यमभूत्तस्मिन् राज्यपाले सति ध्रुवम् ।। १३ ।।
भवनं राज्यपालस्य प्रियं धाम मनीषिणाम् ।
आङ्ग्लभाषापभावश्चनिर्गतिश्च ततस्ततः ।। १४ ।।
पुरी रामानुजस्येयं साक्षिणी तस्य वर्चसः ।
उत्तरस्य प्रदेशोऽयं येन सत्यं पवित्रितः ।। १५ ।।
विश्वविद्यालयेष्वत्र पठनं पाठनं तथा ।
शोधकार्यं समारब्धं शास्त्रिवर्य-प्रभावतः ।। १६ ।।
संस्कृता विमला वाणी काव्यामृतसमन्विता ।
उत्सवेषु श्रुता सद्भिर्नित्यं तस्य मुखोद्गता ।। १७ ।।
मत्सरः कलहश्चेर्ष्या यत्र दैनन्दिनः क्रमः ।
आसीत्तत्र सुधासिक्ताः काव्यवायो विरेजिरे ।। १८ ।।
अनुभूतिरियं कोऽपि देवो विद्याधरोऽथवा ।
राज्यपालपदं प्राप्य पुरेऽस्मिन् समुपागतः ।। १९ ।।
तस्य स्मितेन वाचा च पुरीयं नन्दनायिता ।
प्रतिक्षणं रसाश्लिष्टं, ते हि नो दिवसा गताः ।। २० ।।
उज्जयिन्या द्विजश्चायं पाण्डेयः प्रणवाभिधः ।
महाकालस्य सान्निध्यादिदं भूयोऽपि वाञ्छति ।। २१ ।।
शास्त्रज्ञो नीतिमर्मज्ञः रसज्ञः काव्यतत्त्ववित् ।
शास्त्रिवर्यः शतायुः स्यान्महाकाल-प्रसादतः ।। २२ ।।
महाभागवतस्यैषा शुद्धानीतिः सुवैष्णवी ।
मङ्गलं दिशताद् राष्ट्रे हरसिद्धेरनुग्रहात् ।। २३ ।।